PRINTED MATTER/PRINTING BOOK CLAUSE 121 (A) P & T GUIDE

गुगनराम एजुकेशनल एण्ड सोशल वैलफेयर सोसायटी (रजि.)
द्वारा भिवानी (हरियाणा), काठमाण्डू (नेपाल) से प्रकाशित

ISSN : 2395-7115
Impact Factor : 8.642

बोहल शोध मंजूषा

Bohal Shodh Manjusha

AN INTERNATIONAL MULTI DISCIPLINARY, MULTIPLE LANGUAGES
PEER REVIEWED, REFREED RESEARCH JOURNAL

Website :
www.bohalshodhmanjusha.com
Email : grsbohal@gmail.com

Editor :
Dr. Naresh Sihag, Adv.
M. : 8708822674, 9466532152

गीना देवी शोध संस्थान
द्वारा श्रीगंगानगर, (राजस्थान), पटियाला (पंजाब) व नेपाल से प्रकाशित

ISSN : 2321-8037
Impact Factor : 7.834

Gina Shodh SANGAM

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES MONTHLY RESEARCH JOURNAL

Website : www.ginajournal.com
Email : grngobwn@gmail.com
Office : 8708822674

Editor :
Dr. Rekha Soni, Vice Principal
Education, Tantia University
M. 9828531975

गिरधारीलाल घासीराम शोधपीठ
द्वारा नई दिल्ली, आगरा, गाजियाबाद एवं नेपाल से प्रसारित

ISSN : 2348-5639
Impact Factor : 6.521

SHODH SAMALOCHAN

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

Website : https://ginajournal.com/shodh-samalochan/
Executive Editor : Dr. Varsha Rani M. 9671904323
Managing Editor : Dr. Mukesh Verma M. 9627912535

Editor :
Dr. Naresh Sihag, Advocate
M. 8708822674

गीना प्रकाशन द्वारा
जयपुर, भिवानी एवं नेपाल से प्रसारित

ISSN : 2321-0540
Impact Factor : 5.621

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES HALF YEARLY RESEARCH JOURNAL

Managing Editor :
Dr. Mukesh Verma
M. 9627912535

Editor :
Dr. Naresh Sihag, Advocate
M. 8708822674

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक डॉ. भरत मिश्र 'प्राची' की अनुमति से डॉ. नरेश सिहाग एडवोकेट ने छपवाकर
गीना प्रकाशन, 202, पुराना हाऊसिंग बोर्ड, भिवानी-127021 (हरियाणा) से डिजीटल/पीडीएफ वितरित की।

ISSN 2321:0540

Impact Factor : 5.621

ISSN : 2321-0540
July-Sept. 2026

गुगनराम एजुकेशनल एण्ड सोशल वैलफेयर सोसायटी (रजि.) द्वारा प्रकाशित

KANCHANLATA

कंचनलता (त्रैमासिक)

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTERLY PRINT RESEARCH JOURNAL



Editor-in-Chief :
Dr. Bharat Misra 'Prachi'

Executive Editor :
Dr. Naresh Sihag Adv.

गुगनराम एजुकेशनल एण्ड सोशल वैलफेयर सोसायटी (रजि.) द्वारा प्रकाशित

KANCHANLATA

कंचनलता (त्रैमासिक)

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, RERERED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES QUARTTERLY RESEARCH JOURNAL

वर्ष-11, अंक-3 जुलाई-सितम्बर (भाग-2) / 2026 आईएसएसएन : 2321-0540

प्रधान संपादक
• डॉ. भरत मिश्र प्राची
विला-15, अशियाना ग्रीनस,
सीकर रोड, जयपुर, राजस्थान।

कार्यकारी संपादक
• डॉ. नरेश सिहाग 'बोहल' एडवोकेट
202, पुराना हाऊसिंग बोर्ड, भिवानी
हरियाणा-127021

प्रबंध-संपादक
• डॉ. वैशाली

डिजिटल-संपादक
• डॉ. रोहतास निमि

अक्षर संयोजन
• मो. सलीम

कानूनी सलाहाकार
• डॉ. रामफल दलाल, एडवोकेट
• अजीत सिहाग, एडवोकेट

अंतरराष्ट्रीय सम्पादक/परामर्श मंडल
• आशीष कुमार, गाजियाबाद
• डॉ. कुमारी लक्ष्मी जोशी, नेपाल
• डॉ. निशीथ गौड, आगरा
• डॉ. राजेश शर्मा, श्रीगंगानगर
• श्री शियोन छन श्यू, चीन
• डॉ. ऋतु शर्मा ननंन पांडे, नीदरलैंड
• डॉ. मुदस्सिर अहमद भट्ट, श्रीनगर
• डॉ. दीपशिखा, पटियाला
• डॉ. सुनीता शर्मा, ऑस्ट्रेलिया
• श्री राकेश शंकर भारती, युक्रेन
• डॉ. के.के. मल्होत्रा, कैनेडा
• डॉ. आशीष कुमार दीपांकर, मेरठ
• डॉ. कामिनी कौशल, गाजियाबाद
• डॉ. रवि शंकर सिंह, आरा
• लवलीन ग्रोवर, हरियाणा

1. 'कंचनलता' का प्रबंधन और सम्पादन पूर्णतः अवैतनिक है।
2. 'कंचनलता' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार, लेखकों के अपने हैं उनके प्रति वे स्वयं उत्तरदायी हैं।
3. पत्रिका से सम्बन्धित प्रत्येक विवाद का न्याय क्षेत्र भिवानी (हरियाणा) न्यायालय ही मान्य होगा।
4. प्रकाशक, मुद्रक, स्वामित्व कलावती देवी, डॉ. भरत मिश्र प्राची के वास्ते डॉ. नरेश सिहाग, एडवोकेट ने सानिया पब्लिकेशन, दिल्ली-110094 से मुद्रित करवा, गीना प्रकाशन, भिवानी (हरियाणा) से डिजिटल/पीडीएफ प्रकाशित किया।

नोट : इस अंक की प्रिंट कॉपी खरीदने के लिए सानिया पब्लिकेशन, दिल्ली-110094 से सम्पर्क करें। : 8383042929

विषय विशेषज्ञ सलाहकार समिति/ संपादकीय मंडल :

- **Dr. Mudita Popli**
  Principal, Maa Karni B Ed College Nal, Bikaner
- **Dr. Tapasya Chauhan**
  Assistant Professor, Dr. Bhimrao Ambedkar University, Agra (Utter Pradesh)
- **Dr. Om Prakash Mehrara**
  Director, Shri Ramnarayan Dixit PG College, Srivijaynagar, Distt. Anupgarh (Rajasthan)
- **PRINCE KUMAR**
  UGC NET-JRF, History, Senior Researcher, University History Department, B.R.A.Bihar University Muzaffarpur, Bihar
- **Dr Kanta Verma**
  Assistant professor, Political science, Govt College Lanji Balaghat, District Balaghat, M.P.
- **Dr. Sainath Kabade**
  Assistant Professor, Department of Educational Social Sciences, NIE, NCERT, New Delhi.
- **Mr. Sagar Gopal Rathod**
  Assistant professor, School of Social Science, Punyashlok Ahilyadevi Holkar Solapur University, Maharashtra.
- **Dr (Smt.) Manjulata Kashyap**
  Professor (Economics),Govt.T.C.L.P.G. College Janjgir, Chhattisgarh
- **Dr. AMBILI V. S.** Assistant Professor, Department of Hindi,
  N.S.S. College, Pandalam, Pathanamthitta Distt. University of Kerala.
- **Dr. Anju Bala**
  Assistant Professor Hindi, Guru Nanak Girls College, Yamunanagar-135001
- **Dr. Tikaram Sarthi**
  Hasmukh, Lecturer, Govt H.S.S.Churteli, Dist. Sakti (Chhattisgarh)-495688
- **Dr. Atul Chand**
  Hod Defence & Strategic Studies/ ex Principal in-charge "Government Degree college Baluwakote Pithoragarh "Uttarakhand
- **Dr. Vimal Parmar**
  Assistant Prof. Rajasthan P.G. Law College, Chirawa , Rajasthan
- **Dr. Archana Tiwari** , Assistant Professor , History and Indian Culture, Uni. Rajasthan, Jaipur
- **Sneha Deepak Wankhede**
  Assistant professor Hindi Department, Rajkumar Kewalramani College Jaripatka Nagpur, Maharashtra
- **डॉ. श्रीमती अभिलाषा सैनी**
  प्राचार्य, स्व. रामनाथ वर्मा शासकीय महाविद्यालय, मोपका, जिला-बलौदा बाजार, छत्तीसगढ़
- **डॉ. मोहित शर्मा** श्री सर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय, निम्बार्क तीर्थ किशनगढ़, जिला अजमेर (राजस्थान)
- **रजनी प्रिया**
  राँगाटाँड़ रेलवे कॉलोनी, क्वा.सं. 502/136, तरुण संघ क्लब दुर्गा मंदिर, धनबाद, पोस्ट जिला-धनबाद, झारखंड
- **डॉ. मीरा चौरसिया,** चमनलाल महाविद्यालय लंढौरा, रुड़की, हरिद्वार, उत्तराखण्ड-247664
- **डॉ. आँचल कुमारी,** असिस्टेंट प्रोफेसर हिंदी

राम चमेली चड्ढा विश्वास गर्ल्स कॉलेज गाजियाबाद चौधरी चरणसिंह युनिवर्सिटी, मेरठ (उ. प्र.)

- **डॉ. प्रमोद नाग**
  सहायक प्राध्यापक, आचार्य इंस्टीट्यूट ऑफ ग्रेजुएट स्टडीज, बेंगलुरु-560107
- **डॉ. चन्द्रशेखर सिंह**
  समाज कार्य विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी
- **लेफ्टि. डॉ. सन्दीप भांभू**
  शारीरिक शिक्षा विभाग, टॉटिया वि.वि. श्रीगंगानगर
- **डॉ. सरिता भवानी मालवीय**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, फैकल्टी ऑफ लॉ., आर.के.डी.एफ. विश्वविद्यालय, भोपाल (मध्यप्रदेश)
- **डॉ. संदीप कुमार,** असि. प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, कन्हैयालाल मानिकलाल मुंशी हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, डॉ. भीमराव अम्बेडकर वि.वि., आगरा
- **पल्लवी आर्य**
  असि. प्रोफेसर, भाषाविज्ञान विभाग, के.एम.आई. डॉ. भीमराव अम्बेडकर वि.वि., आगरा
- **डॉ. अमित कुमार सिंह**
  डी. लिट्., असि. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, के.एम. आई., डॉ. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा
- **कोकिला कुमारी**
  शोद्यार्थी, हिंदी विभाग, राँची वि.वि. राँची, झारखंड
- **डॉ. तनु श्रीवास्तव**
  असिस्टेंट प्रोफेसर (अर्थशास्त्र), स्कूल ऑफ सोशल साइंस, देवी अहिला विश्वविद्यालय, इन्दौर
- **डॉ. कुमारी लक्ष्मी जोशी**
  उप-प्राध्यापक, केंद्रीय हिन्दी विभाग, त्रिभुवन विश्वविद्यालय, काठमांडू, नेपाल
- **डॉ. जगदीप दुबे**
  सहायक प्राध्यापक वाणिज्य (म.प्र.), शासकीय आदर्श महाविद्यालय, डीनडोरी (म.प्र.)
- **डॉ. श्रीकांत राठोड**
  सहायक प्राध्यापक हिंदी विभाग, श्री शांतेश्वर शिक्षा संस्थान, श्री जी.आर. गांधी कला, श्री वाय ए पाटील वाणिज्य एवं श्री एम पी दोशी विज्ञान महाविद्यालय, इंडी, जिला विजयपुर, कर्नाटक
- **डॉ. मंजू देवी**
  सहायक आचार्य श्री बालाजी टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, जयपुर
- **डॉ. सुनीता सारस्वत**
  सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग), सिंघानिया विश्वविद्यालय, पचेरी बड़ी झुंझनू, राजस्थान
- **प्रा. डॉ. बोईनवाड कृष्णा बाबुराव**
  सहा. प्रा. दिगंबरराव बिंदू कला वाणिज्य व विज्ञान महाविद्यालय, भोकर. जिला नांदेड, महाराष्ट्र
- **डॉ. माया गोला,** असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा (उत्तराखंड)
- **श्रीराम**
  एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी, राजकीय आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, बीकानेर
- **डॉ. संतोष कुमार भगत**
  सहायक प्राध्यापक, के.सी.बी. कॉलेज बेड़ो, रांची विश्वविद्यालय, रांची, झारखण्ड

"कंचन लता" त्रैमासिक साहित्यिक, शोध पत्रिका में रचनाएं, लेख आदि भेजने संबंधी

नियम एवं दिशा-निर्देश

1. पत्रिका का स्वरूप

"कंचन लता" एक त्रैमासिक साहित्यिक, शोध पत्रिका है, जिसका उद्देश्य भारतीय भाषाओं के साहित्य, संस्कृति, लोकचेतना एवं समकालीन विमर्श को मंच प्रदान करना है। पत्रिका में हिंदी सहित भारतीय भाषाओं की मौलिक एवं स्तरीय रचनाएँ डिजिटल/पीडीएफ रूप में प्रकाशित की जाएँगी।

2. प्रकाशन अवधि

पत्रिका वर्ष में चार बार प्रकाशित होगी–

1. जनवरी मार्च अंक 2. अप्रैल जून अंक
3. जुलाई सितंबर अंक 4. अक्टूबर दिसंबर अंक

3. स्वीकार्य रचनाएँ

पत्रिका में निम्न विधाओं की रचनाएँ स्वीकार की जाएँगी–

- कविता
- गीत / ग़ज़ल / नज़्म
- कहानी / लघुकथा
- लेख / निबंध
- शोध आलेख
- समीक्षा
- संस्मरण
- यात्रा-वृत्तांत
- साक्षात्कार
- लोक साहित्य
- अनुवाद साहित्य
- बाल साहित्य

4. भाषा संबंधी नियम

1. रचनाएँ हिंदी सहित किसी भी भारतीय भाषा में भेजी जा सकती हैं।
2. देवनागरी लिपि को प्राथमिकता दी जाएगी।
3. अन्य भारतीय भाषाओं की रचनाओं के साथ हिंदी अनुवाद, पीडीएफ संलग्न करना वांछनीय होगा।
4. भाषा शुद्ध, मर्यादित एवं साहित्यिक होनी चाहिए।

5. मौलिकता संबंधी नियम

1. भेजी गई रचना पूर्णतः मौलिक एवं अप्रकाशित होनी चाहिए।
2. किसी अन्य पत्रिका, वेबसाइट अथवा सोशल मीडिया पर प्रकाशित रचनाएँ स्वीकार नहीं की जाएँगी।
3. साहित्यिक चोरी (Plagiarism) पाए जाने पर रचना निरस्त कर दी जाएगी तथा लेखक उत्तरदायी होगा।

6. संपादकीय अधिकार

1. संपादक मंडल को रचना में आवश्यक संशोधन, संक्षेपण अथवा अस्वीकृति का पूर्ण अधिकार होगा।
2. संपादकीय निर्णय अंतिम एवं सर्वमान्य होगा।
3. प्रकाशित सामग्री में व्यक्त विचार लेखक के निजी होंगे; पत्रिका संपादक मंडल का उनसे सहमत हो यह आवश्यक नहीं।

4. किसी भी विवाद में पत्रिका का निर्णय अंतिम होगा, न्याय क्षेत्र भिवानी हरियाणा होगा।

7. रचना भेजने की प्रक्रिया

1. रचनाएँ मंगल, यूनिकोड हिंदी फॉन्ट में टाइप कर भेजी जाएँ।
2. रचना के साथ लेखक का संक्षिप्त परिचय, पता एवं मोबाइल नंबर अवश्य भेजें।
3. शोध आलेखों में संदर्भ सूची अनिवार्य होगी।
4. रचनाएँ ईमेल अथवा व्हाट्सएप माध्यम से स्वीकार की जा सकती हैं।

8. प्रकाशन शुल्क / सहयोग राशि

1. पत्रिका साहित्य सेवा हेतु डिजिटल/पीडीएफ रूप में प्रकाशित की जाती है।
2. विशेषांक अथवा शोधांक हेतु सहयोग राशि निर्धारित हैं इसे दिए बिना शोध आलेख/प्रपत्र प्रकाशित नहीं किए जा सकते है।
3. सहयोग राशि वापस नहीं की जाएगी।
4. पत्रिका की हार्ड/प्रिंट कॉपी हेतु आप प्रकाशक से संपर्क करें।

9. कॉपीराइट नियम

1. प्रकाशित रचनाओं का प्रथम प्रकाशन अधिकार "कंचन लता" पत्रिका के पास सुरक्षित रहेगा।
2. पुनर्प्रकाशन की स्थिति में पत्रिका का उल्लेख करना अनिवार्य होगा।

10. सम्मान एवं प्रमाणपत्र

1. चयनित रचनाकारों को ई-प्रमाणपत्र / सम्मान पत्र प्रदान किए जा सकते हैं।
2. उत्कृष्ट रचनाओं को विशेष सम्मान हेतु चयनित किया जा सकता है।

11. निषेध

निम्न प्रकार की रचनाएँ स्वीकार नहीं की जाएँगी–

- अश्लीलता फैलाने वाली सामग्री
- जातीय / धार्मिक विद्वेष उत्पन्न करने वाली सामग्री
- राष्ट्रविरोधी विचार
- मानहानिकारक अथवा आपत्तिजनक लेखन

12. संपर्क

कंचन लता

त्रैमासिक पत्रिका

- प्रधान संपादक : डॉ. भरत मिश्र प्राची, जयपुर, राजस्थान
- प्रकाशन/ संचालन स्थल
- गुगन राम सोसायटी रजिस्टर्ड बोहल भिवानी हरियाणा

13. विशेष घोषणा

पत्रिका का उद्देश्य भारतीय भाषाओं एवं साहित्यिक मूल्यों का संरक्षण, संवर्धन एवं प्रचार-प्रसार करना है। सभी साहित्यकारों, शोधार्थियों एवं पाठकों का सहयोग अपेक्षित है।

इस पत्रिका का प्रकाशन संस्था को प्राप्त अनुदान से या शोध आलेखों के प्रकाशन हेतु प्राप्त होने वाली राशि पर निर्भर करता है।

संपादकीय : शोध, जनभाषाएँ और डिजिटल युग : ज्ञान-परंपरा का विस्तृत क्षितिज

प्रिय शोधकर्ताओं, विद्वानों एवं पाठकों,

'कंचन लता' के 'जुलाई-सितंबर 2026 (डिजिटल अंक)' को आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। यह अंक भारतीय जनभाषाओं, हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में हो रहे शोध, चिंतन और सृजनात्मक विमर्श को एक सशक्त अकादमिक मंच प्रदान करने का विनम्र प्रयास है। हमारा विश्वास है कि शोध केवल ज्ञान के संकलन का माध्यम नहीं, बल्कि समाज, संस्कृति और मानवीय मूल्यों के निरंतर पुनर्पाठ की एक सृजनात्मक प्रक्रिया है।

नई शिक्षा नीति, डिजिटल प्रौद्योगिकी, कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence), मुक्त अभिगम (Open Access) तथा वैश्विक ज्ञान-साझेदारी के इस युग में शोध की प्रकृति निरंतर परिवर्तित हो रही है। आज शोध केवल विश्वविद्यालयों और पुस्तकालयों तक सीमित नहीं है, बल्कि डिजिटल माध्यमों ने ज्ञान को वैश्विक स्तर पर संवाद का विषय बना दिया है। ऐसे समय में शोध पत्रिकाओं की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है कि वे गुणवत्तापूर्ण, मौलिक, संदर्भ-सम्पन्न तथा नैतिक शोध को प्रोत्साहित करें।

'कंचन लता' का उद्देश्य भारतीय जनभाषाओं के साहित्य, लोक-संस्कृति, भाषा-विज्ञान, अनुवाद अध्ययन, आलोचना, शिक्षा, समाज, इतिहास, दर्शन तथा समकालीन विमर्शों से जुड़े शोध कार्यों को एक विश्वसनीय मंच प्रदान करना है। हमारा मानना है कि भारत की भाषाई विविधता उसकी बौद्धिक और सांस्कृतिक शक्ति है। प्रत्येक जनभाषा अपने भीतर लोकज्ञान, ऐतिहासिक अनुभव, सांस्कृतिक स्मृतियों और सामाजिक चेतना का अमूल्य भंडार समेटे हुए है। इन भाषाओं में किया गया शोध भारतीय ज्ञान-परंपरा को नई दृष्टि प्रदान करता है तथा राष्ट्रीय और वैश्विक अकादमिक विमर्श को समृद्ध बनाता है।

वर्तमान समय में शोध की गुणवत्ता, शोध नैतिकता (Research Ethics), मौलिकता (Originality) तथा संदर्भों की प्रामाणिकता पहले से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। डिजिटल संसाधनों की सहज उपलब्धता ने शोध को सरल अवश्य बनाया है, किंतु इसके साथ साहित्यिक चोरी (Plagiarism), अप्रमाणित सूचनाओं तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता के अनियंत्रित उपयोग जैसी चुनौतियाँ भी सामने आई हैं। इसलिए आवश्यक है कि शोधकर्ता आधुनिक तकनीकों का उपयोग विवेकपूर्ण ढंग से करें तथा वैज्ञानिक दृष्टि, आलोचनात्मक चिंतन और अकादमिक ईमानदारी को सर्वोच्च प्राथमिकता दें।

इस अंक में हिंदी एवं भारतीय जनभाषाओं से संबंधित विविध शोध आलेख, समीक्षाएँ और वैचारिक लेख सम्मिलित किए गए हैं। इन शोधपत्रों में साहित्य, भाषा, संस्कृति, लोक परंपरा, समकालीन विमर्श, शिक्षा, अनुवाद, सामाजिक परिवर्तन तथा भारतीय ज्ञान-परंपरा से जुड़े विविध पक्षों का गंभीर विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। हमें विश्वास है कि ये शोध-आलेख शोधार्थियों, अध्यापकों, विद्यार्थियों तथा स्वतंत्र शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे और आगे के अकादमिक अनुसंधान को नई दिशा प्रदान करेंगे।

शोध पत्रिका का उद्देश्य केवल शोधपत्र प्रकाशित करना नहीं है, बल्कि एक स्वस्थ बौद्धिक वातावरण का निर्माण करना भी है, जहाँ विचारों का स्वतंत्र आदान-प्रदान हो, मतभेदों का सम्मान हो तथा प्रमाण-आधारित निष्कर्षों को महत्व दिया जाए। 'कंचन लता' इसी दृष्टि से अकादमिक गुणवत्ता, निष्पक्ष संपादन, समालोचनात्मक दृष्टि और शोध की विश्वसनीयता को सर्वोपरि मानते हुए अपने प्रकाशन दायित्व का निर्वहन कर रही है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय भाषाओं में उच्चस्तरीय शोध को वैश्विक पहचान मिले। यदि हमारी जनभाषाओं में निहित ज्ञान, साहित्य और लोकबुद्धि का व्यवस्थित अध्ययन एवं दस्तावेजीकरण किया जाए, तो भारतीय ज्ञान-परंपरा विश्व के अकादमिक परिदृश्य में और अधिक प्रभावी ढंग से स्थापित हो सकती है। इस दिशा में शोध पत्रिकाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि वे नवाचार, विमर्श और ज्ञान-संवाद का सेतु बनती हैं।

हम इस अवसर पर सभी शोधार्थियों, लेखकों, समीक्षकों, संपादकीय सहयोगियों तथा पाठकों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं, जिनके सहयोग और विश्वास से 'कंचन लता' निरंतर अपनी अकादमिक यात्रा को आगे बढ़ा रही है। हमें आशा है कि यह डिजिटल अंक शोध की नई संभावनाओं, गंभीर चिंतन और सार्थक बौद्धिक संवाद को प्रोत्साहित करेगा।

आइए, हम सब मिलकर भारतीय जनभाषाओं की समृद्ध ज्ञान-परंपरा को शोध के माध्यम से नई पीढ़ी तक पहुँचाने, अकादमिक उत्कृष्टता को सुदृढ़ करने तथा मानवीय मूल्यों पर आधारित ज्ञान-संस्कृति के निर्माण का संकल्प लें। यही शोध का उद्देश्य है, यही साहित्य का धर्म है और यही 'कंचन लता' की सतत साहित्यिक एवं अकादमिक साधना है।

-संपादक
संपादक मंडल
कंचनलता साहित्यिक एवं शोध पत्रिका
गुगनराम सोसायटी (रजिस्टर्ड), भिवानी, हरियाणा

विषयानुक्रम

संपादकीय : शोध, जनभाषाएँ और डिजिटल युग : ज्ञान-परंपरा का विस्तृत क्षितिज 6

शमशेर की कविताओं में आधुनिकता बोध 11
डॉ. रीजा. आर. एस

भीष्म साहनी के उपन्यासों में नारी कुंठा 16
मोनिका रानी
डॉ. शिबा

महर्षि कपिल: 21
प्रो. अंजलि यादव
सपना विश्वकर्मा

पाणिनीय व्याकरण की अध्ययन-अध्यापन पद्धति 24
अश्वनी कुमार

तत्त्व व्यवस्था तथा आचार की दृष्टि से सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त दर्शन की प्रमुख विशेषताएँ 28
अंशु भटनागर
डॉ. मधु श्रीवास्तव

प्रधानमंत्री आवास योजना का भोपाल जिले में क्रियान्वयन एवं सामाजिक-आर्थिक प्रभाव : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन 36
डॉ. राखी सक्सेना
जगदीश कुमार धुर्वे

'वेलकम' (Welcome) 41
डॉ. दीप्ति सुधीरकुमार देशपांडे

Psychological Well-being and Happiness Among Adolescents of Working and Non-working Mothers 43
Monika Sahai

विस्थापन और जनजातिय संघर्ष, जल-जंगल-जमीन एवं जनआक्रोश झारखण्ड के संदर्भ में 51
अनिल प्रदीप पन्ना

जनजातीय विस्थापन एवं समस्या : झारखण्ड राज्य के विशेष संदर्भ में 55
प्रेम रोशन एक्का

कुँड़ुख़ बेंजा नु मंडला नेग (मंड़वा एतअना) 60
विनोद टाना भगत

दलित अस्मिता और नागार्जुन 64
डॉ. मंटू कुमार साव

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम (Project -Based Learning) का प्रभाव 68
डॉ. राम नगीना रजक

इक्कीमीं सदी दे पैह्ले द्हाके दे उपन्यासें च आदर्शवादी रूझान 73
डॉ. विजय कुमारी
जैन आगमों में गति का विश्लेषणात्मक अध्ययन 78
मुनि सत्यकुमार
पर्युषण : प्राचीन साधना, आधुनिक जीवन की आवश्यकता 85
डॉ. अमिता जैन
Marital Adjustment and Role Conflict among Working Women: A Comparative Sociological Study of Urban and Rural Contexts in Sangrur District, Punjab 89
Rama Sharma
'मधुशाला' में व्यक्त जीवन दर्शन और प्रतीक विधान 102
पीयूष पुष्पम
संस्कार: समाजश्च काव्यनाटकेषु 108
Dr. Jayakrishnan Nampoothiri N.D.
जहीर कुरेशी की ग़ज़लों में अभिव्यक्त आर्थिक चिंतन 117
प्रो. डॉ. केशव क्षीरसागर
Hanuman – An Inspiration For Personality Development And Spiritual Influence 122
Aswathi. M
Vocational Education and Skill Development in Medieval India: A Historical Perspective 126
Ashok Kumar Yadav
Anjali Sachan
NEP 2020 and the Changing Landscape of Teacher Education: Perception of Teacher Educators in Raipur District 132
Dimpi Singh
आशा प्रभात के उपन्यासों में स्त्री के अंतर्द्वंद्व और मनोवैज्ञानिक संघर्ष 141
रश्मि प्रसाद
Rasa and Emotional Aesthetics in Svapnavāsavadattam
Dr. Sandhya B. Nair 146
The Curse as an Aesthetic and Structural Motif in Vikramorvaśīyam and Abhijñānaśākuntalam: Suspended Love and Delayed Recognition.
Dr Lathakumari P. 153
काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य में उदारीकरण के प्रभाव : बदलते सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ ('काशी का अस्सी' एवं 'रेहन पर रग्घू' के विशेष संदर्भ में) 161
श्रीमती अशोक कुंवर राजपूत
अभिजित्-मुहूर्तस्य प्रामाणिकं स्वरूपम् आपत्काले तस्य उपयोगश्च 165
डॉ. गिरीष् एं.पि

भारत में मीडिया और ग्रामीण विकास (1950–2026) : विकास संचार के परिप्रेक्ष्य में भूमिका, चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ 174
सिंपल शर्मा
सन्तानविचार: 180
Varsha P. S.
भारतीय ज्ञान प्रणाली का सतत प्रवाह और अनुवाद की परंपरा 184
Abhishek Kumar Jaiswal
दलित साहित्य की वैचारिक दशा एवं दिशा 192
प्रिंस गुप्ता
डॉ. संतोष कुमार
ओज, विद्रोह और राष्ट्रीय चेतना का स्वर : रामधारी सिंह दिनकर के काव्य का अनुशीलन 198
अंजलि
BRICS in a Changing World Order: Challenges and Opportunities for Global South Cooperation: A Study of India's BRICS Presidency, 2026 201
Dr. Gulshan Deep Dania
जितिया (जीवित्पुत्रिका) पर्व : मातृत्व, लोक-संस्कृति एवं सामाजिक संरचना का समाजशास्त्रीय अवलोकन 207
डॉ. दीपक कुमार कन्नौजिया
आधुनिक युग का खण्डकाव्य और नरेश मेहता 212
प्रो (डॉ.) कैलाश पति गोस्वामी
Tradition And Impersonality In The Literary Criticism of T.S. ELIOT 215
Sukhpreet Singh
Dr.Nirmal
विकलांगता विषयक साहित्य में विकलांग पात्रों का चित्रण 221
शरद कुमार मिश्रा
धूमिल के पत्रों में समकालीनता बोध 225
विनय कुमार विश्वकर्मा

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

शमशेर की कविताओं में आधुनिकता बोध

डॉ. रीजा. आर. एस
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग
क्रिस्त्यन कॉलेज काट्टाकडा
तिरुवनन्तपुरम, केरल, केरल विश्वविद्यालय
Mob: 9400081289
reejakripa@gmail.com

सार : शमशेर बहादुर सिंह हिंदी साहित्य के 'कवियों के कवि' माने जाते हैं। प्रस्तुत आलेख शमशेर बहादुर सिंह की काव्यात्मक संवेदना में निहित 'आधुनिकता बोध' का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। शमशेर की आधुनिकता केवल विषय-वस्तु या विचार तक सीमित न होकर भाषा, शिल्प, बिंब-विधान और रूपविधान के स्तर पर गहराई से रची-बसी है। वे मार्क्सवादी विचारधारा से गहरे प्रभावित होते हुए भी अत्यंत संवेद्य, आत्मपरक और प्रयोगशील हैं। चित्र कलात्मकता के प्रभाव से उनकी कविताओं में अमूर्त बिंब और दृश्य-योजना की अनूठी प्रगाढ़ता दिखाई देती है। 'अकेले किसके प्राण', 'राग', 'हार-हार समझा में', 'बात बोलेगी' और 'सातों सागर के पार' जैसी कविताओं के माध्यम से यह आलेख आधुनिक मानव के आंतरिक एकाकीपन, अस्तित्वगत वेदना, अलगाव, समय की क्षणभंगुरता तथा सामाजिक यथार्थ को रेखांकित करता है। शमशेर की भाषा में मौन, अंतराल और संकेतों का विशेष महत्व है, जो कहा और अनकहा के बीच एक संवाद रचते हैं। शमशेर की आधुनिकता किसी पश्चिमी अंधानुकरण की देन नहीं है, बल्कि भारतीय परंपरा और वैश्विक प्रयोगधर्मिता का एक सहज व मौलिक संतुलन है, जो संवेदना और अभिव्यक्ति की पूरी संरचना का पुनर्गठन करती है।

मुख्य शब्द : आधुनिकताबोध, शमशेर बहादुर सिंह, प्रयोगशीलता ,बिंब-विधान, अकेलापन

शमशेर बहादुर सिंह आधुनिक हिन्दी कविता की प्रगतिशील धारा के एक स्तंभ माने जाते हैं। शमशेर बहादुर सिंह हिंदी साहित्य के 'कवियों के कवि' माने जाते हैं। उनकी कविता आधुनिकताबोध, प्रयोगशीलता और सौंदर्यशास्त्र का एक अनूठा संगम है। हिंदी कविता के इतिहास में शमशेर बहादुर सिंह एक ऐसे मील के पत्थर हैं जिन्होंने प्रयोगवाद और प्रगतिवाद की सीमाओं का अतिक्रमण कर आधुनिकता को एक नया स्वरूप दिया। शमशेर की आधुनिकता केवल विषय-वस्तु या विचार तक सीमित नहीं है, बल्कि वह भाषा, शिल्प, बिंब-विधान और रूपविधान के स्तर पर गहराई से रची-बसी है। शमशेर की आधुनिकता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मार्क्सवादी विचारधारा से गहरे प्रभावित होते हुए भी अनुभव के स्तर पर अत्यंत संवेद्य और आत्मपरक हैं। शमशेर में विचारधारा का कोई यांत्रिक दबाव नहीं दिखता। वे वर्ग-संघर्ष और सामाजिक यथार्थ को केवल नारे की तरह नहीं बल्कि आंतरिक अनुभूति और मानवीय संवेदना के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

शमशेर स्वयं एक चित्रकार भी थे, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव उनकी कविता पर पड़ता है। उनकी कविताओं में रंगों, रेखाओं और प्रकाश-छाया के खेल से बने अमूर्त बिंब आधुनिक कला आंदोलनों जैसे प्रभाववाद और अतियथार्थवाद की याद दिलाते हैं। उनकी प्रसिद्ध कविता 'उषा' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।यह आधुनिक जीवन की क्षणभंगुरता और परिवर्तनशीलता को व्यक्त करता है।आधुनिक जीवन की जटिलता और अलगाव को व्यक्त करने के लिए शमशेर ने पुरानी काव्यात्मक भाषा का त्याग

किया। उनकी भाषा मौन, ध्वनियों, संकेतों और विराम-चिह्नों के बीच संवाद करती है। वे 'कहा-अनकहा' के बीच का स्थान कविता में रचते हैं। आधुनिकताबोध यहाँ इस बात में निहित है कि भाषा संपूर्ण यथार्थ को व्यक्त करने में असमर्थ है, इसलिए वे शब्दों के अंतराल का सहारा लेते हैं।आधुनिकता का एक प्रमुख लक्षण व्यक्ति का आत्म-संशय, अलगाव और आधुनिक जीवन की नीरसता है। शमशेर की कविताओं में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के मानव मन की उथल-पुथल, उदासी और अकेलापन बहुत गहराई से मौजूद हैं।शमशेर के यहाँ 'काल' एक रेखीय धारणा नहीं है, बल्कि वह गतिशील और क्षणिक है। आधुनिक समय में जीवन की गति और बिखराव को वे कालगत प्रतीकों में बांधते हैं। उनकी कविता 'एक पीली शाम' या 'अमन का राग' समय और इतिहास के नए परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती हैं।

शमशेर बहादुर सिंह की आधुनिकता किसी पश्चिमी अंधानुकरण की देन नहीं है। उन्होंने भारतीय परंपरा और वैश्विक प्रयोगधर्मिता का एक सहज संतुलन बनाया। शमशेर की कविता यह सिद्ध करती है कि आधुनिकता केवल नए विषयों का चयन भर नहीं है, बल्कि संवेदना और अभिव्यक्ति की पूरी संरचना का पुनर्गठन है। इसी कारण शमशेर आज भी आधुनिक हिंदी कविता के सबसे मौलिक और प्रासंगिक हस्ताक्षर बने हुए हैं।'अकेले किसके प्राण' कविता में शमशेर नकारात्मक आधुनिकता की अकेलापन के बारे में बताते हैं और इससे फायदा उठाना भी चाहते हैं।

"आज अकेले किसके प्राण
मेरे कवि के! मेरे कवि के!
जिसने जीवन के सम्मान
फेंक दिये आँगन में छवि के।" (1)

आज मेरे कवि के प्राण अकेले हैं। जिसने आँगन में छवि के समान जीवन के सम्मान फेंक दिये। जीवन के कटुतम संघर्षों को लेकर उन्हें कविता में एकदम तरल बना सकना शमशेर के काव्य व्यक्तित्व की पहचान है।शमशेर बहादुर सिंह की कविताओं में व्यक्ति के अंतर्मन का अकेलापन, प्रेम का अवसाद और अस्तित्वगत वेदना प्रमुख स्वर बनकर उभरते हैं। शमशेर की कविता ष्अकेले किसके प्राणष में जीवन की नितांत एकांगिता, अलगाव और मानवीय संबंधों की क्षणभंगुरता का यथार्थवादी चित्रण मिलता है।कविता का केंद्रीय विषय मनुष्य का वह आंतरिक अकेलापन है, जिसे वह भीड़ या जीवन की आपाधापी के बीच भी लगातार महसूस करता है। कवि यह सवाल उठाता है कि इस असीम और विस्तृत संसार में आख़िर किसके प्राण वास्तव में अकेले हैं—क्या यह केवल कवि का अपना यथार्थ है,या यह पूरी आधुनिक पीढ़ी और सभ्यता का नियति-जन्य अकेलापन है।शमशेर के जीवन में पत्नी के असामयिक निधन और लगातार बने रहे आर्थिक एवं मानसिक अभावों का गहरा प्रभाव था। इस कविता में अतीत की स्मृतियाँ और अधूरा प्रेम किसी शांत वेदना की तरह उपस्थित रहता है। प्राणों का यह अकेलापन किसी बाहरी शून्यता का परिणाम नहीं है, बल्कि यह स्मृतियों और आंतरिक संवाद के टूटने से पैदा हुआ सूनापन है।शमशेर केवल दुख का सीधा गान नहीं करते; वे प्रकृति के सुकुमार और संवेद्य बिंबों का सहारा लेते हैं। ढलती शाम, हल्की धूप, नीले आकाश की उदासी या गिरते हुए पत्तों के प्रतीकों द्वारा वे अंतर्मन के सूनेपन को साकार करते हैं। कविता में दृश्य इतने सूक्ष्म हैं कि पाठक कवि की मौन पीड़ा को भी महसूस कर सकता है।कविता में शब्दों से अधिक महत्व 'मौन' और 'अंतराल' का है। शमशेर भाषा के उस स्तर पर जाकर बात करते हैं जहाँ शब्द कम पड़ जाते हैं। प्राणों की व्याकुलता और अकेलेपन का यह प्रश्न किसी एक उत्तर तक पहुँचने के बजाय एक संवेदनशील अनुगूंज छोड़ जाता है।

शमशेर की यह रचना यह दर्शाती है कि मनुष्य का अकेलापन केवल एक निराशाजनक स्थिति नहीं है, बल्कि वह आत्म-साक्षात्कार और संवेदना की गहराई तक पहुँचने का एक माध्यम भी है। कवि इस कविता में आधुनिक मानव की उस त्रासदी को स्वर देते हैं जहाँ वह दुनिया से जुड़ा होकर भी अपने अंतर्मन में पूर्णतः अकेला महसूस करता है। शमशेर बहादुर सिंह की राग' कविता प्रयोगात्मक और आत्मपरक शैली का एक अनूठा उदाहरण है। यह कविता बाहरी संवाद और आंतरिक चेतना के बीच के सूक्ष्म संबंध को उकेरती है।इस कविता की मूल संवेदना प्रकृति, शाम और कवि के अंतर्मन के बीच स्थापित तादात्म्य पर आधारित है।यह कविता सिद्ध करती है कि शमशेर के लिए 'राग' केवल संगीत की शास्त्रीय बंदिश नहीं है,

बल्कि वह प्रकृति के मौन सौंदर्य और मनुष्य के भीतरी संगीत का सहज साक्षात्कार है।'राग' इस सन्दर्भ में शमशेर की काव्य कला को अच्छे ढंग से खोलती है। पूरी कविता की लय अत्यन्त मार्मिक है।

"मैंने शाम से पूछा
या शाम ने मुझसे पूछा
इन बातों का मतलब?
मैं ने कहा-
शाम ने मुझसे कहा
अपना है।" (२)

यहाँ 'मैं' और 'आप', मनुष्य और प्रकृति के समीकरण के यथार्थ की खोज है। 'राग' के अन्तर्गत मनोभाव, व्यक्तित्व, संगीतात्मक आकर्षण, रंग की विविध अर्थ-छायाएँ संश्लिष्ट हैं, जो एक दूसरे से टकराकर उन्हें तराशती-सँवारती हैं। इसलिए राग का कोई एक और निश्चित अर्थ नहीं है। वह अपने में समूचा संवेदन है। इसलिए अरागात्मकता को छोड़कर रागात्मकता को स्वीकारना चाहिए।

'हार-हार समझा में' कविता में कवि निराश और उदास मन को व्यक्त करते हैं। शमशेर बहादुर सिंह की प्रसिद्ध कविता 'हार हार समझ में' जीवन के संघर्षों, अंतर्द्वंद्व और पराजय की चेतना को एक गहरा प्रतीकात्मक और दार्शनिक आयाम देती है। यह कविता साधारण विजय या पराजय का वर्णन न करके मानव मन की सूक्ष्म संवेदनाओं और परिस्थितियों के आगे समर्पण या उनकी समझ को रेखांकित करती है।कविता में 'हार' शब्द केवल किसी प्रतियोगिता में हारने का संकेत नहीं है, बल्कि जीवन में मिली असफलताओं, अकेलेपन और टूटते सपनों का बोध है। इन पंक्तियों में कवि अपनी और सामने वाले की स्थिति की तुलना करता है। हारने की इस प्रक्रिया में व्यक्ति स्वयं को और संसार के रूप को अधिक स्पष्टता से देख पाता है।यहाँ 'गहरे पानी' में डूबना जीवन की वेदना और असफलताओं में उतरने का प्रतीक है। जैसे-जैसे व्यक्ति दुख और हार की गहराई में जाता है, वैसे-वैसे उसकी पुरानी स्मृतियाँ और अनुभव और अधिक स्पष्ट व निखर कर सामने आते हैं। कवि ने अत्यंत संक्षिप्त शब्दों, छोटी पंक्तियों और बिंबों के माध्यम से एक विराट मानसिक स्थिति को रचा है। भाषा सहज, किंतु भाव बेहद, आत्मीय और दार्शनिक हैं।

"हार-हार
समझ में तुम को
अपने पार।" (३)

जिस प्रकार रात के बाद दिन होता है उसी प्रकार जिन्दगी में आशा-निराशा, सुख-दुःख, जय-पराजय, राग-विराग आदि होते हैं। इसलिए आधुनिकता के प्रति भी नकारात्मकता और सकारात्मकता को स्वीकार करने में एकरूपता होनी चाहिए। शमशेर बहादुर सिंह की यह कविता हार को एक निराशाजनक अंत मानने के बजाय आत्म-साक्षात्कार और जीवन की अंतिम सच्चाई को स्वीकार करने की एक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करती है।

शमशेर बहादुर सिंह की कविता 'बात बोलेगी' प्रगतिशील और प्रयोगवादी काव्य-धारा की एक बेहद महत्वपूर्ण रचना है। इस कविता में 'आधुनिकता बोध' का तात्पर्य केवल आधुनिक युग की बातें करना नहीं, बल्कि आधुनिक सामाजिक चेतना, व्यक्ति-सत्ता के मोह से मुक्ति, राजनीतिक यथार्थ और अभिव्यक्ति की नई शैली को अपनाना है। आधुनिक दृष्टि में सत्य कोई अमूर्त या आध्यात्मिक चेतना नहीं है, बल्कि वह सामाजिक और काल-सापेक्ष सच्चाई है।कविता दर्शाती है कि आधुनिक युग में सत्य का मतलब आम जनता के लिए भयमुक्त वातावरण और वास्तविक सुख पाना है। सत्य का रुख ही समय की माँग रूपी आधुनिकता है।आधुनिकता बोध सामाजिक विषमता, गरीबी और मजदूरों के शोषण की अनदेखी नहीं कर सकता। शमशेर जी ने आधुनिक जीवन की विकृतियों और संघर्षों को सीधे रेखांकित किया है :

"दैन्य दानव : काल
भीषण : क्रूर
स्थिति : कंगाल
बुद्धि : पर मजदूर
सत्य का पूछो
क्या रंग
एक संग।" (4)

यहाँ 'दैन्य दानव' या गरीबी , 'कंगाल बुद्धि' और 'मजूर' जैसे शब्द प्रयोगवादी या प्रगतिवादी आधुनिक काव्य-चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं, जहाँ समाज का विपन्न वर्ग कविता के केंद्र में आता है। 'बात बोलेगी' कविता में आधुनिकता बोध कवि के निजी अहंकार के त्याग, शोषित जन-सामान्य के दुख-दर्द की पहचान, सत्य के साहसी उद्घाटन तथा समाज को दिशा देने वाली विचार-शक्ति के रूप में प्रकट हुआ है।मनुष्य दैन्य दानव बन गये हैं। सत्य का रूप अब विकृत हो गया है। काल ने भीषण रूप स्वीकार किया है। स्थिति क्रूर और कंगाल हो गयी है। आधुनिकता भी कभी-कभी सामाजिक चेतना को विकृत करती है। 'बात बोलेगी' में शमशेर जी ने सत्य और यथार्थ का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है।

जीवन की व्यापक भूमिका में कवि अपनी भूमिका को एक सामान्य और अकिंचन रूप में देखना चाहता है। उसमें स्वर्णाक्षरों का आकर्षण और इतिहास का सहारा नहीं है। शमशेर बहादुर सिंह की कविता 'सातों सागर के पार' 1941 में रचित एक अत्यंत संवेदनशील, प्रतीकात्मक और प्रगतिशील चेतना की कविता है। यह कविता व्यक्ति के आंतरिक अकेलेपन और समाज के साथ उसके जुड़ाव की द्वंद्वात्मक भावना को अभिव्यक्त करती है।कवि जीवन की गहन उदासी, निराशा और एकाकीपन में डूबा हुआ है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो दूर अनंता से—'सातों सागर के पार' से—कोई उसे निरंतर पुकार रहा है। यह पुकार किसी अलौकिक शक्ति या मानव चेतना की है, जो उसे निराशा के भँवर से बाहर खींचने का प्रयास करती है।इस कविता में कवि स्वयं को संपूर्ण समाज या कुल जीवन नहीं मानता। वह स्वीकार करता है कि विशाल मानव-समूह के समक्ष उसकी अपनी सत्ता केवल एक 'कण' जैसी है। इस बोध से उसके भीतर एक ओर तो असहायता आती है, लेकिन दूसरी ओर समाज से जुड़ने की एक गहरी आकुलता पैदा होती है। सातों सागर पार से आने वाली आवाज़ वास्तव में व्यक्ति के भीतर सोई हुई उस चेतना और उम्मीद को जगाती है, जो उसे एकाकीपन से निकालकर समष्टि का अंग बनने की प्रेरणा देती है।

'सातों सागर के पार' कविता में कवि बताते हैं
"फिर किसने यह सातों सागर के पार
एकाकीपन से ही मानो-
हार, एकाकी वह मुझे पुकारा कई बार?"(5)

इसमें कवि उस अदृश्य या दूरस्थ पुकार को महसूस करता है जो उसके भारी एकांत को तोड़ती है। जब व्यक्ति अपनी ही हार और अकेलेपन में पूरी तरह घिर जाता है, तब भी जीवन और संसार का कोई आत्मीय स्वर उसे अपनी ओर खींचता है। यहाँ भाव असहायता का नहीं है, सार्थकता की तलाश का है। अणु की क्षमता आधुनिक विज्ञान ने पहचानी है तो कण की संगति आधुनिक साहित्य ने पहचानी है। अणु का विस्फोट यदि वैसी विराट ऊर्जा देता है तो यह प्रक्रिया अपने आप व्यक्ति की, कण की रचनात्मक क्षमता को प्रमाणित करती है। डॉ. रघुवंश के शब्दों में-"आधुनिकता की विशिष्टता का सबसे अधिक बल बौद्धिक विवेक पर रहा है और वैज्ञानिक दृष्टि के विकास के साथ उसके आधार को विशेष प्रामाणिक मानने का आग्रह भी बढ़ा है।"(6) कण होने में गौरव नहीं तो कुंठा भी नहीं है, अकेलापन जीवन में आत्मविश्वास का प्रतीक है।

नयी कविता और शमशेर की सफलता आधुनिक युग की वैचारिकता को अनुभव और अनुभूति में रूपान्तरित करने में है। शमशेर उन कवियों में थे, जिनमें मार्क्सवाद की क्रांतिकारी आस्था और भारत की सुदीर्घ सांस्कृतिक परंपरा में विरोध नहीं था। कविता विवाद को जगाती है पर स्वयं तो संवाद की स्थिति में होती है। शमशेर की समूची काव्य-प्रकृति उनके वर्ण्य,

बिंब और लय से अभेद है।शमशेर बहादुर सिंह की कविताओं में आधुनिकता बोध केवल एक बाहरी विचार या शैलीगत प्रयोग नहीं है, बल्कि वह मानवीय संवेदना, अस्तित्वगत पीड़ा और सामाजिक चेतना का एक जीवंत ताना-बाना है।उन्होंने प्रयोगवाद और प्रगतिवाद के अनूठे समन्वय से अपनी काव्यात्मक भाषा को एक नया आयाम दिया, जिसमें मौन, बिंब और अंतराल शब्दों से भी अधिक मुखर हो उठते हैं। मार्क्सवादी विचारधारा से गहरे जुड़े होने के बावजूद उनकी कविताएँ कभी यांत्रिक या नारा-प्रधान नहीं बनतीं, बल्कि वे व्यक्ति के अंतर्मन के अकेलेपन और व्यापक सामाजिक यथार्थ के बीच एक सहज संतुलन बनाए रखती हैं। 'अकेले किसके प्राण', 'राग', 'बात बोलेगी' जैसी रचनाओं के माध्यम से वे आधुनिक मानव की त्रासदियों, संघर्षों और आशाओं को अत्यंत सूक्ष्मता से उकेरते हैं। शमशेर की काव्य-चेतना यह सिद्ध करती है कि सच्ची आधुनिकता परंपरा को नकारने में नहीं, बल्कि भारतीय संवेदना और आधुनिक वैश्विक प्रयोगधर्मिता के अनूठे संगम में निहित है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

(1) अज्ञेय (संपादक), 1951, 'दूसरा सप्तक', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पृ. 96
(2) रामस्वरूप चतुर्वेदी (संपादक), 1976,'नयी कविताएँ : एक साक्ष्य' (कुछ कविताएँ), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,पृ. 77
(3) अज्ञेय (संपादक), 'दूसरा सप्तक', 1951,भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पृ. 97
(4) अज्ञेय (संपादक), 'दूसरा सप्तक', 1951, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पृ. 89
(5) रामस्वरूप चतुर्वेदी (संपादक), 1976, नयी कविताएँ : एक साक्ष्य' (कुछ कविताएँ), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 91
(6) डॉ. रघुवंश, 1969, 'आधुनिक परिस्थिति और हम लोग', साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, पृ. 25

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

भीष्म साहनी के उपन्यासों में नारी कुंठा

मोनिका रानी
शोधार्थी पीएच.डी.(हिंदी)

डॉ. शिबा
शोध निर्देशिका
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग
श्री खुशाल दास विश्वविद्यालय, पीलीबंगा हनुमानगढ़

आधुनिक हिंदी साहित्य में अनेक लेखकों ने इस समस्या को अपने साहित्य का विषय बनाया है, जिनमें भीष्म साहनी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिंदी साहित्य में नारी जीवन उसकी संवेदनाएँ, संघर्ष और सामाजिक स्थिति सदैव महत्वपूर्ण विमर्श का विषय रहे हैं। समाज की संरचनाए परंपराएँ और सांस्कृतिक मान्यताएँ नारी के जीवन को गहराई से प्रभावित करती रही हैं। विशेष रूप से पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री को अनेक सामाजिक बंधनों, रूढ़ियों और मर्यादाओं के भीतर सीमित कर दिया गया। जिसके कारण उसके व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास में अनेक बाधाएँ उत्पन्न हुईं। इन परिस्थितियों के कारण नारी के भीतर जो मानसिक तनाव, असंतोष, दमन और पीड़ा उत्पन्न होती है, परिणामस्वरूप उसकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और व्यक्तित्व अक्सर दब कर रह जाते हैं। यही दबाव और दमन धीरे-धीरे उसके भीतर कुंठा का रूप धारण कर लेते हैं।

भीष्म साहनी के उपन्यासों में नारी के इसी अंतर्द्वंद्व, पीड़ा और संघर्ष का अत्यंत सजीव चित्रण देखने को मिलता है। उनके पात्र केवल काल्पनिक नहीं हैं, बल्कि वे समाज के वास्तविक जीवन से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं। उनके उपन्यासों में नारी कभी पारिवारिक बंधनों में जकड़ी हुई दिखाई देती है, तो कभी वह अपने अस्तित्व और स्वाभिमान के लिए संघर्ष करती हुई नजर आती है। इस प्रकार उनके साहित्य में नारी जीवन की जटिलताओं और उसकी मानसिक अवस्थाओं का यथार्थ चित्रण मिलता है।

भीष्म साहनी के प्रमुख उपन्यासों जैसे तमस, मय्यादास की माड़ी तथा कड़ियाँ में नारी पात्रों की स्थिति, उनकी भावनाएँ और उनके संघर्ष स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आते हैं। इन उपन्यासों में स्त्री पात्रों के माध्यम से यह दिखाया गया है कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ किस प्रकार नारी के जीवन को प्रभावित करती हैं और उसके भीतर कुंठा तथा मानसिक संघर्ष को जन्म देती हैं। उन्होंने नारी को केवल सहानुभूति के पात्र के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। बल्कि उसे एक जागरूक, संवेदनशील और संघर्षशील व्यक्तित्व के रूप में चित्रित किया है। उनके उपन्यासों में नारी पात्र अपने जीवन की परिस्थितियों से जूझते हुए दिखाई देते हैं और कई बार वे सामाजिक रूढ़ियों का विरोध भी करते हैं।

मूल शब्दः- पारिवारिक व्यवस्था, मानसिक संघष्ज्ञ, सामाजिक, आर्थिक, कुंठा

प्रस्तावना

भारतीय समाज और साहित्य में स्त्री की स्थिति उसकी भावनाएँए संघर्ष तथा मानसिक दशाएँ सदैव चिंतन और विमर्श का प्रमुख विषय रही हैं। सामाजिक संरचनाए पारिवारिक व्यवस्था और सांस्कृतिक मान्यताओं के कारण लंबे समय तक स्त्री को अनेक प्रकार की मर्यादाओं और सीमाओं के भीतर बाँधकर रखा गया। इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप स्त्री के मन

में उत्पन्न दबी हुई आकांक्षाएँए असंतोष, पीड़ा और मानसिक तनाव जिस रूप में प्रकट होते हैंए उसे ''नारी कुंठा'' कहा जाता है।

मानव जीवन में प्रेम का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। प्रेम के अभाव में जीवन एक सूने और शुष्क मरुस्थल के समान प्रतीत होता है। किंतु वही प्रेम श्रेष्ठ और सार्थक माना जाता है, जो मनुष्य के भीतर निहित मानवीय गुणों और दिव्य संभावनाओं का विकास करे तथा उसे उच्च नैतिक और मानवीय मूल्यों की ओर प्रेरित करे। इसके विपरीत वह प्रेम, जो व्यक्ति को पतन या नकारात्मक दिशा की ओर ले जाएए वास्तव में किसी भी दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता।

समाजवादी दृष्टिकोण से जुड़े साहित्यकारों ने प्रेम को जीवन की स्वाभाविक धारा के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रेम किसी कृत्रिम या बनावटी व्यवस्था का परिणाम नहीं, बल्कि जीवन की सहज अनुभूति है, जिसके आधार पर स्वस्थ और संतुलित जीवन का निर्माण संभव है। आधुनिक हिंदी साहित्य में अनेक साहित्यकारों ने नारी जीवन की जटिलताओं और उसकी मानसिक स्थिति का गहन और संवेदनशील विश्लेषण किया है। इन रचनाकारों ने स्त्री के भीतर उत्पन्न होने वाली पीड़ा, असंतोष, दमन और कुंठा को अपनी रचनाओं के माध्यम से यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है।

नारी कुंठा का अर्थ :-'कुंठा' शब्द का अर्थ है-दबी हुई भावनाए अवरुद्ध इच्छा अथवा मानसिक निराशा की स्थिति। जब किसी व्यक्ति की इच्छाएँ भावनाएँ और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सामाजिक या पारिवारिक कारणों से बाधित हो जाती है, तो उसके भीतर असंतोष और तनाव उत्पन्न हो जाता है। यही स्थिति कुंठा कहलाती है। स्त्री के संदर्भ में जब समाज उसकी स्वतंत्रता, अधिकारों और भावनाओं को सीमित कर देता है, तब उसके भीतर जो मानसिक दमन और असंतोष पैदा होता है, उसे ''नारी कुंठा'' कहा जाता है। यह केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक स्थिति नहीं है, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और पारिवारिक परिस्थितियों का परिणाम भी है।

भारतीय साहित्यकारों के अनुसार नारी कुंठा की परिभाषा

महादेवी वर्मा के अनुसारः- महादेवी वर्मा ने अपनी कृति 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में भारतीय नारी की स्थिति का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया है। उनके अनुसार 'नारी को समाज ने परंपराओं और रूढ़ियों की ऐसी श्रृंखला में बाँध दिया है, जहाँ उसकी स्वतंत्रता और व्यक्तित्व का विकास बाधित हो जाता है। इस दमन के कारण नारी के भीतर जो पीड़ा और असंतोष उत्पन्न होता है, वही नारी कुंठा का स्वरूप है।'[1]

मन्नू भंडारी के अनुसार :- मन्नू भंडारी ने अपने कथा साहित्य में आधुनिक नारी के अंतर्द्वंद्व और मानसिक संघर्ष को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार 'नारी कुंठा उस स्थिति को दर्शाती है जब स्त्री अपने अस्तित्व और स्वतंत्रता की खोज करती है,[2] लेकिन सामाजिक बंधन उसे पूर्ण रूप से व्यक्त होने का अवसर नहीं देते।

अमृता प्रीतम के अनुसार :- अमृता प्रीतम की रचनाओं में स्त्री की संवेदनाओं और पीड़ा का सशक्त चित्रण मिलता है। उनके अनुसार 'नारी कुंठा उस मानसिक अवस्था को व्यक्त करती है जिसमें स्त्री अपनी भावनाओं, प्रेम और इच्छाओं को सामाजिक मर्यादाओं और भय के कारण खुलकर व्यक्त नहीं कर पाती।'[3]

कृष्णा सोबती के अनुसारः- कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यासों में नारी के स्वाभिमान और उसकी स्वतंत्रता की भावना को प्रमुखता दी है। उनके अनुसार 'नारी कुंठा उस सामाजिक दबाव का परिणाम है जिसमें स्त्री की पहचान और व्यक्तित्व को पर्याप्त सम्मान नहीं मिलता।'[4]

भीष्म साहनी के उपन्यासों में नारी जीवन के इसी यथार्थ का अत्यंत संवेदनशील और यथार्थपरक चित्रण देखने को मिलता है। उनके साहित्य में स्त्री पात्र केवल पारंपरिक भूमिकाओं तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे सामाजिक परिस्थितियों, पारिवारिक दबावों और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बीच उत्पन्न अंतर्द्वंद्व से जूझती हुई दिखाई देती हैं। भीष्म साहनी ने अपने उपन्यासों में नारी के मनोवैज्ञानिक पक्ष को गहराई से समझते हुए उसकी कुंठा, पीड़ा और संघर्ष को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। भीष्म जी के प्रायः सभी उपन्यासों में प्रेम-तत्व की विभिन्न रूपों में सृष्टि हुई है। प्रेमी-प्रेमिका, पति-पत्नी और पति

प्रेमिका और पत्नी के बीच त्रिकोणीय प्रेम का संचार हुआ है। 'कड़ियाँ' उपन्यास का महेन्द्र एक तरफ अपनी पत्नी प्रमिला को भी चाहता है और प्रेमिका सुषमा को भी परन्तु हमारे सामाजिक और पारम्परिक मूल्य इस तरह के प्रेम का प्रश्रय नहीं देते। महेन्द्र का प्यार विपरीत दिशा में अग्रसित होता है। जिसका परिणाम यह होता है कि 'वह न तो प्रमिला का हो पाता है न ही सुषमा का।'[5] भीष्म जी का मानना है कि 'प्रेम में वासना का होना स्वाभाविक है,परन्तु प्रेम को वासना तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए।' किन्तु 'तमस' उपन्यास में नाजायज रूप से प्रकाशो का अपहरण कर भीष्म जी अल्लाहरक्खा द्वारा भले ही एक तरफा शादी कराकर उस अनैतिक के ऊपर नैतिकता की मोहर लगा देते हैं।[6] प्रेमचन्द भी नारी के आदर्श प्रेम में विश्वास करते हैं। विवाह के पूर्व शारीरिक सम्बन्ध स्थापित होना तथा अन्य घृणित कार्यो को वह परम्परा के विरूद्ध मानते थे। 'बसन्ती' उपन्यास की बसन्ती दीनू के करीब होते हुए भी तब तक अपने शरीर को हाथ नहीं लगाने देती जब तक कि वह दीनू के साथ ब्याह नहीं कर लेती।'[7]

'कुन्तों' की सुषमा यद्यपि जयदेव की मौसेरी बहन है लेकिन लेखक ने दोनों के बीच जिस प्रेम की सृष्टि की है, 'उससे इनका स्वरूप प्रेमी-प्रेमिका के रूप में उभरता है। शादी के बाद भी जयदेव भले ही सुषमा की ओर झुका रहा हो किन्तु सुषमा अपने पति गिरीश को अपनी सीमा-रेखा मान पूर्ण रूप से उसके प्रति समर्पित हो गई थी।'[8] यह है यौन कुंठा के सन्दर्भ में भीष्म जी का अपना भिन्न मत है। भीष्म जी यशपाल की तरह खुले यौनाचार के समर्थक नहीं हैं। यद्यपि उन्होंने इसे बन्धनमुक्त स्वीकार किया है। 'झरोख' उपन्यास में इस पीड़ा को स्वयं जिया भी है। 'झरोखे' में व्यक्तिगत दमन और प्रवृत्तिदमन का चित्रांकन कर वीर्यपात और स्वप्नदोष से आतंकित होकर तरूण किस तरह अपने यथार्थ विकास से विमुख हो जाता है।[9] जिसके परिणाम स्वरूप वह किताबों से औरत के चित्र फाड़ने लगता है। इस जीवन-निषेध की भीष्म जी कटु आलोचना करते हैं। भीष्म जी के पात्रों में दीवान धनपत जो एक रखैल का बेटा था और रखैल को रख भी लिया था परन्तु कोई अमर्यादित हरकत नहीं करता। जबकि अपनी आदतों से वह सनकी दीवान के रूप में विख्यात 'डॉ० रामविलास शर्मा'सड़ी-गली साहित्यिकता को साहित्य के जल को गंदा करने वाली मानते है।[10] जिसकी भीष्म जी को भी चिन्ता है। भीष्म जी 'कड़ियाँ' उपन्यास में मानसिक कुंठाओं की प्रवृत्ति के प्रवाह में तो बहे लेकिन जीवन के प्रति उनकी दृष्टि अन्ततः समाजवादी ही बनी रही। उनके समग्र उपन्यास साहित्य का सिंहावलोकन करने पर 'कुन्तो' उपन्यास में जयदेव, कुन्तो, सुषमा गिरीश, धनराज, मोना डार्लिंग और थुलथुल के बीच खड़े प्रोफेसर साहब के रूप में भीष्म साहनी ही है जो कुंठित प्रवृत्तियों का विरोधकर जिन्दगी के मध्यम मार्ग की शिक्षा देते है। जीवन का निचोड़ समझाते हुए यूनानी दार्शनिकों के मध्यम मार्ग 'दस फार एण्ड नो फर्दर, द गोल्डेन मीन-के सुझाव को उद्घाटित करते हैं। 'इंसान जिस ओर अपनी वृत्तियों को मोड़े, वे मुड़ जाती है।[11]

मुख्य बात सही समझ की है, विवेक की सही दृष्टि की। आकर्षण का होना तो स्वाभाविक है। परन्तु आकर्षण पर अपना बस भी होना चाहिए। यौन आकर्षण जब मानसिक कुंठा तथा दलित-वासना के रूप में परिवर्तित होने लगे तो वहाँ पर विवेक के अंकुश लगाकर मध्यम मार्ग का रास्ता अपनाने का सुझाव भीष्म जी ने दिया। कड़ियाँ उपन्यास की पात्र सुषमा, आधुनिक जीवन-दृष्टि का प्रतिनिधित्व करने वाली ऐसी महिला के रूप में सामने आती है, जिसके व्यवहार और संबंधों में आत्मकेंद्रितता तथा स्वार्थ की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। सुषमा का व्यक्तित्व पारंपरिक संस्कारों और सामाजिक मर्यादाओं से भिन्न है। वह धर्म, नैतिकता और पारिवारिक मूल्यों के प्रति विशेष आस्था नहीं रखती। उसके लिए संबंधों का आधार भावनात्मक समर्पण या पारिवारिक उत्तरदायित्व नहीं, बल्कि व्यक्तिगत इच्छाओं और स्वार्थ की पूर्ति है। यही कारण है कि वह महेन्द्र के साथ संबंध स्थापित करते समय इस बात की परवाह नहीं करती कि उसके इस व्यवहार से किसी का परिवार टूट सकता है या किसी स्त्री का वैवाहिक जीवन नष्ट हो सकता है। सुषमा के व्यक्तित्व में यह स्वार्थपरक दृष्टि कहीं न कहीं आधुनिक जीवन की उस मानसिकता को दर्शाती है, जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सामाजिक मूल्यों की अनदेखी कर देता है।

महेन्द्र के साथ उसका संबंध केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि भौतिक और स्वार्थपरक भी है। एक ओर उसे महेन्द्र के साथ अपने आकर्षण और वासना की संतुष्टि मिलती है, वहीं दूसरी ओर वह महेन्द्र को अपने ऐश्वर्य और सुविधाओं की प्राप्ति का साधन भी बना लेती है। इस प्रकार सुषमा का चरित्र केवल प्रेम या आकर्षण का नहीं, बल्कि आधुनिक शहरी जीवन में

पनप रही स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों का प्रतीक बन जाता है। महेन्द्र भी उसके रूपए व्यवहार और मीठी बातों के प्रभाव में आकर अपने पारिवारिक जीवन से विमुख होने लगता है। परिणामस्वरूप उसका वैवाहिक संबंध संकट में पड़ जाता है और अंततः प्रमिला और महेन्द्र के बीच दूरी बढ़ने लगती है।

इस स्थिति को नारी-कुंठा के संदर्भ में देखा जाए तो सुषमा का व्यवहार भी एक प्रकार की मानसिक कुंठा को अभिव्यक्त करता है। आधुनिकता और स्वतंत्रता की चाह के बावजूद उसके जीवन में स्थायित्व और संतुलन का अभाव है। वह संबंधों को स्थायी रूप में निभाने के बजाय उन्हें अपने स्वार्थ की पूर्ति का माध्यम बना लेती है। महेन्द्र के साथ संबंधों में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। जब तक उसे महेन्द्र से लाभ और आकर्षण प्राप्त होता है, तब तक वह उसके प्रति प्रेम और अपनत्व का प्रदर्शन करती है। किंतु जब उसका आकर्षण कम होने लगता है। तब वह उससे दूरी बना लेती है।

सुषमा की यही प्रवृत्ति तब स्पष्ट रूप से सामने आती है जब महेन्द्र के प्रति उसका मोह कम हो जाता है और वह उसके अधिकारी वर्मा जी को अपने प्रभाव में लेने का प्रयास करती है। इससे स्पष्ट होता है कि उसके लिए पुरुष केवल भावनात्मक संबंध का माध्यम नहीं, बल्कि अपने जीवन को अधिक सुविधाजनक बनाने का साधन भी है। यह प्रवृत्ति न केवल उसके स्वभाव की जटिलता को दर्शाती है, बल्कि आधुनिक समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों के बदलते स्वरूप को भी उजागर करती है।

सुषमा का चरित्र प्रमिला के जीवन में उत्पन्न मानसिक तनाव और कुंठा का एक प्रमुख कारण बन जाता है। महेन्द्र का सुषमा के प्रति आकर्षण और प्रमिला की उपेक्षा एक सुखी परिवार को धीरे-धीरे विघटित कर देती है। इस प्रकार एक स्थिर और स्नेहपूर्ण पारिवारिक वातावरण वासना और स्वार्थ की आँधी में उजड़ जाता है। प्रमिला के जीवन में उत्पन्न पीड़ाए असुरक्षा और मानसिक तनाव भी इसी स्थिति की परिणति है।[12]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सुषमा का चरित्र भीष्म साहनी के उपन्यासों में नारी-कुंठा के एक भिन्न रूप को सामने लाता है। जहाँ प्रमिला जैसी स्त्री पारिवारिक उपेक्षा और पति के विश्वासघात के कारण कुंठित होती है, वहीं सुषमा आधुनिक जीवन की भौतिकता और स्वार्थपरक मानसिकता का प्रतिनिधित्व करती है। उसके माध्यम से लेखक यह संकेत देते हैं कि सामाजिक और नैतिक मूल्यों के क्षरण से केवल परिवार ही नहीं, बल्कि व्यक्ति का आंतरिक संतुलन भी प्रभावित होता है। इसलिए सुषमा का चरित्र नारी-जीवन के उस जटिल पक्ष को उजागर करता है, जिसमें स्वतंत्रता, स्वार्थ, आकर्षण और मानसिक असंतुलन की विभिन्न प्रवृत्तियाँ एक साथ दिखाई देती हैं।

निष्कर्ष

अतः यह कहा जा सकता है कि भीष्म साहनी के उपन्यास नारी जीवन की जटिलताओं, उसकी मानसिक अवस्थाओं और सामाजिक संघर्षो को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम हैं। उनके साहित्य में प्रस्तुत नारी कुंठा का अध्ययन न केवल साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि यह सामाजिक परिवर्तन और जागरूकता की दिशा में भी एक सार्थक प्रयास सिद्ध होता है। नारी कुंठा केवल स्त्री की व्यक्तिगत मानसिक स्थिति नहीं है, बल्कि यह समाज की संरचना, पारिवारिक व्यवस्था और सांस्कृतिक मान्यताओं से गहराई से जुड़ी हुई समस्या है। भारतीय समाज में लंबे समय तक पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण स्त्री को अनेक सामाजिक बंधनों और मर्यादाओं में सीमित रखा गया, जिसके परिणामस्वरूप उसके व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास में बाधाएँ उत्पन्न हुईं। यही कारण है कि स्त्री के भीतर उत्पन्न होने वाली दबी हुई इच्छाएँ, असंतोष, पीड़ा और मानसिक तनाव नारी कुंठा के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार भीष्म साहनी के उपन्यास न केवल नारी जीवन की वास्तविक समस्याओं को उजागर करते हैं, बल्कि समाज की उन संरचनात्मक कमजोरियों की ओर भी संकेत करते हैंए जिनके कारण यह स्थिति उत्पन्न होती है।

इस शोध से यह भी स्पष्ट होता है कि साहित्य में नारी कुंठा का चित्रण केवल पीड़ा और संघर्ष का वर्णन भर नहीं है, बल्कि यह समाज के लिए एक चेतावनी और प्रेरणा भी है। इसके माध्यम से यह संदेश मिलता है कि स्त्री को समान अधिकार,

सम्मान और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान करना आवश्यक है, ताकि वह अपने पूर्ण व्यक्तित्व के साथ समाज के विकास में सक्रिय योगदान दे सके।

संदर्भ सूची

1. 'शृंखला की कड़ियाँ' महादेवी वर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली - 1942
2. 'आपका बंटी', मन्नू भंडारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली - 1971
3. 'पिंजर', अमृता प्रीतम, पेंगुइन बुक्स इंडिया,- 1950
4. 'मित्रो मरजानी', कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - 1966
5. 'कड़ियाँ', भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, प्र.सं.1989,
6. 'तमस', भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008,
7. 'बसंती', भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, चौथा संस्करण, नई दिल्ली, प्र. सं. 2008
8. 'कुन्तो', भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, पहला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2008
9. 'झरोखे', भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1991,
10. 'हिंदी साहित्य का इतिहास और आलोचना' (नामवर सिंह) - 1955
11. 'झरोखे', भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1991,
12. 'हिंदी साहित्य का इतिहास', रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी - 1929

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

महर्षि कपिलः

प्रो. अंजलि यादव
Email: dranjaliyadav55@gmail.com
सपना विश्वकर्मा
Email: sapanavishwakarma16@gmail.com

परिचयः

महर्षिः कपिलः प्राचीनभारतस्य महान् दार्शनिकः, सांख्यदर्शनस्य प्रवर्तकः च अस्ति। सः भगवान् विष्णोः अंशावतारः मन्यते। कर्दममुनिः देवहूतिश्च तस्य मातापितरौ स्तः। कपिलः मातरं योगदर्शनं बोधितवान्। यत् परोपकारं क्षमां शान्तिं च शिक्षयति। कपिलमुनिः 25 तत्वानां सिद्धान्तं प्रतिपादितवान्, येन ज्ञानयोगस्य आधारः निर्मितः।

भारतीयदर्शने सांख्याचार्यः कपिलः

मनुष्यः विवेकशीलः प्राणी अस्ति। सः स्वस्थ संसारस्य च यथार्थज्ञानं प्राप्यर्थं जीवनयापनं करोति। अतएव जिज्ञासुना दुःखसंतप्तेन तथा च चिरविश्रान्त्या उच्छुकेन मानवेन दर्शनस्य आविर्भावः जातः। अतएव दर्शनस्य चरमलक्ष्यं मोक्षो भवति। मनुस्मृतौ भगवताः मनुना कथितम्-

सम्यक् दर्शनसम्पन्नः कार्यभिर्न निबद्धते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपाद्यते।।[1] (मनुसंहिता- 6/64)

सर्वेषां प्राचीनार्वाचीनां नास्तिकास्तिकानां भारतीयानां दार्शनिक विचाराः एव भारतीयदर्शनं कथ्यते। कतिपयमनुष्याः वेदमूलकं भारतीयदर्शनं हिन्दूदर्शनस्य पर्यायं मन्यन्ते। किन्तु सर्वदर्शन सङ्ग्रहकारेण माधवचार्येण वेदविरोधिनां चार्वाक-जैन-बौद्ध-दर्शनानां भारतीयदर्शने स्थानं दत्वा भारतीयदर्शनस्य व्यापकत्वं प्रतिपादितम्। प्राचीनमतानुसारं भारतीयदर्शनस्य भागद्वयम् अस्ति-आस्तिकः नास्तिकश्च।

आस्तिकदर्शनानि षड्वर्तन्ते

मीमांसादर्शनं वेदान्तदर्शनं सांख्यदर्शनं योगदर्शनं न्यायदर्शनं वैशेषिकदर्शनं च। नास्तिकदर्शने चार्वाकजैनबौद्धदर्शनानि वर्तन्ते। अत्र नास्तिक दर्शनस्य वर्तते वेद विरोधिदर्शनम् "नास्तिको वेदनिन्दकः।"

सांख्यदर्शनम्

सांख्यदर्शनं द्वैतवादिदर्शनं वर्तते। सांख्यदर्शने द्वे तत्वे मन्यते प्रकृतिः पुरूषश्च। सांख्यदर्शनस्य प्रवर्तको महर्षिकपिलः आसीत्। सांख्यदर्शने ईश्वरस्य अस्तित्वं प्रतिपादितं नास्ति। अतएव सांख्यदर्शनस्य अन्यन्नाम निरीश्वरसांख्यमपि वर्तते। सांख्यदर्शनम् अत्यन्तप्राचीनं दर्शनम् अस्ति। भारतीय दार्शनिकवाङ्मये सांख्यदर्शनस्य प्राचीनत्वं निर्विवादं स्वीकृतम्। उक्तम्-

"भारतीयदार्शनिकमनीषिणः सार सांख्ये एव निहितः।" मन्यते यत् प्राचीनकाले सांख्यमेव सकलं दर्शनम् आसीत् तथा च दृष्टिभेदात्प्रस्तानभेदानुसारेण अन्य दर्शनानां उत्पतिर्जाता। श्वेताश्वतरोषनिषदि (6/13) सर्वप्रथमं सांख्यशब्दः प्रयुक्त। "सांख्य" शब्दस्य निष्पतिः संख्याशब्दात् अण् प्रत्ययोगात् भवति। तथा च सम् उपसर्गपूर्वकं ख्यान्-धातोः चाक्षिङ-प्रत्ययोगेन "सांख्या" शब्दः निर्मितः। यस्य अर्थो भवति-सम्यक् ख्यातिः ज्ञानं वा। महाभारते उक्तम्-

सांख्यदर्शनसम्मता सम्यक् ख्यातिः वर्तते- चेतनपुरूषस्य अचेतनप्रकृतेः पृथकज्ञानम्। सांख्याचार्येः सम्यक् ख्याति इत्ययस्य कृते "सत्वपुरूषान्यताख्यातिः" "विवेकख्याति" इत्यादीनि नामानि अभिहितानि। सांख्यदर्शनं भारतवर्षस्य दर्शनेषु तथा च अन्येषु शास्त्रेषु मुकुटरूपेण शोभायमानम् अस्ति। अथर्ववेद तथा च कठ-प्रश्न-श्वेताश्वतर-मैत्रायणि उपनिषत्सु सांख्यागतं तच्च मतं महात्मन। इत्यस्य महाभारतस्य वचनानुसारं अस्य दर्शनस्य शीर्षस्यस्थानं वर्तते। यद्यपि सांख्यदर्शनस्य आचार्याणा प्रामाणिकसूची उपलब्धा नास्ति तथापि प्रसिद्धाचार्याणां मतौ सांख्यसूत्रां महर्षिकपिलस्य एव मन्यते। भारतीय परम्परायां महर्षि कपिलः आदिविद्वान् तथा च सांख्यदर्शनस्य प्रवर्तकः मन्यते।[2] प्राचीन दार्शनिकसाहित्येषु कपिलस्य अनेकशः उल्लेखो वर्तते। ऐतिहासिकदृष्टया श्वेताश्वेतरोपनिषदि सर्वप्रथमं कपिलस्य उल्लेखः कृत-

"ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तनग्रे ज्ञाने विभर्ति जायमानं च पश्येत्" (7/3)
भगवद्गीतायांकृष्णः स्वयं कथयति-
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चितरथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।[3] (10/23)

महाभारतेपि (12/339/68) तथा च (12/349/65) सांख्यप्रवर्तकस्य कपिलस्य उल्लेखो वर्तते। विष्णुपुराणे (2/24/9) भागवतपुराणे (1/3) तथा गरूडपुराणे (7/1/28) अपि कपिलः विष्णोः अवतारो मन्यते। महर्षिकपिलः सांख्यदर्शनस्य उपदेशं आसुरये दत्तवान्। अस्य प्रमाणं कृतम्। कपिलस्य उल्लेखः अन्येषु प्राचीनेषु साहित्येषु अपि मिलति। यथा- प्रह्लादपुत्रः असुर-कपिलः (वैधायनधर्म सूत्र 2/6/30) धर्मसूत्रकारः कपिलः (कपिलस्मृतिः) उपपुराणकारः कपिलः (कपिलस्मृतिः) तथा च विश्वामित्रपुत्रः कपिलः (कर्मपुराणं 1/19) परञ्च एतेषु कोपि सांख्यशास्त्रस्य प्रवर्तको नास्ति। केवलं कर्दम्-देवहूतेः पुत्रः कपिलः एव सांख्यशास्त्रस्य प्रवर्तको वर्तते। ऐतिहासिकविचारकानां मतानुसारेण सांख्यपद्धतेः विचारस्य आरम्भः नवम् शताब्यां मन्यन्ते। आचार्यईश्वरकृष्णः सांख्यकारिकायाः अन्ते अस्य शास्त्रस्य परम्परायाः निर्धारणं कृतवान्-

पुरूषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समारप्यातम्।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयामिश्चन्त्यन्ते यश्चिन्त्पन्ते तत्र भूतानाम्।।
एतत् पवित्रम्ग्रयं मुनिरासुरयेनुकम्पया प्रददौ।
आसुरुरपि पञ्चशिखाय तेन चे बहुधा कृतं तन्त्रम्।।
शिष्यपरम्परायोगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिन सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम्।।[4] (सांख्यकारिकायाः 69,70,71)

महर्षिकपिलप्रणीतं सांख्यसूत्रं आर्वाचीनरचना नास्ति। यद्यपि माधवाचार्यः सर्वदर्शनसंग्रहे अस्याः रचनायाः उल्लेख कृतवान् तथापि तस्य समकालिकः माधवमंगि महोदय सूतसंहितायां सांख्यसूत्रस्य सूत्राणाम् उल्लेखं कृतवान्। अतएव सांख्यसूत्रस्य प्राचीनता स्वयं प्रमाणिता।

विद्यासहायवन्तमादित्यस्यं समाहितम्।
कपिलं प्राहुराचार्याः साङ्ख्यनिश्चिताः।।

यथोक्तं- "हरिण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" इति योगियाज्ञवल्क्येन हिरण्यगर्भस्यादिगुरूत्वबोधनादिति, सूत्रवाक्यार्थमुपसंहरित- योगस्यानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितत्यमिति, शिष्यैरिति शेषः, वेदितव्यमितिपूरणेनसूत्रस्य शिष्याबधनार्थकत्वं सूचितं योगस्य च फलं सूत्रभाष्यय्योः स्थाने स्थाने वक्ष्यमाण मयोत्तसूत्रावतारिकायामपि सङ्केपाद्वक्ष्यते। "योगः समाधिः स" च सार्वभोमश्चत्तस्य धर्म इति, योग समाधिः चित्तवृत्तिनिरोधः। वेद, स्मृति, पुराण, महाभारत, सांख्यकारिका सांख्यशास्त्रस्य चितकः

प्रमुखा आचार्याः अग्रलिखितः निम्नासूक्ति। महर्षिकपिला आसुरि, पञ्चाशिख, विन्ध्यवासी जैगीषत्य, वार्षगव्य, वोढु, देवल, असित, सनक, सनातन, सनत्कुमार, मृगु, शुक्र इतायदि।

पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रावाचासुरये सांख्यं तत्वग्रामविनिर्णयम्।।

नैवं कपिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेवकाशोस्ति.....। कपिल प्रभृतीनां चार्ष ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते। तस्माच्छति सामान्यमात्रेण भ्रमः सांख्यप्रणेता कपिलः श्रौत इति।

सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरूच्यते।
एततत्वात्मकं कृत्वा जगद्वेध अजीजनत्।। (3/26)

तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् अर्थात् पञ्चशिखेन मुनिना बहुधा कृतं तन्त्रम् षष्टितन्त्राख्यं षष्टिशण्डकृतमिति।

"ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञाने र्बिभति जायमानं च पश्येत्"[5] (श्वेता. उप. 5/2)

श्वेताश्वतर उपनिषद् एव उक्तं ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे इत्यादि भास्कराचार्ये हिरण्यगर्भ स्वीकृते। सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। कपिलश्चासुरिश्चैव वैदुः पञ्चाशिखस्तथा। सप्तैते ब्रह्मणः पुत्रा। महाभारत शान्ति कपिलं परमषिर्श च यं प्राहुर्यतयः सदा। अग्निः स कपिलो नाम साङ्ख्ययोगप्रवर्तकः। महाभारत शान्ति पञ्चमो कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्तुम्।

प्रोवाचासुरये साङ्ख्यं तत्वग्राम-विनिर्णयम्।।[6] (भागवत 1/3)

आदिविद्वान् कपिल इति। कपिलोनाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्ध। स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि साङ्ख्ययोगप्राप्तिर्वेद श्रूयते। स एवेश्वरविद्वान कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः। मन्यतेयत् भागवतकाले एव सांख्यम् कालार्कभक्षितम् जातम् अतैव सांख्यशास्त्रस्य पुनरूदारार्थ महर्षि कपिलः तत्व समूहस्य सम्यक् निर्णयं कृतवान् एव प्रकारेण महर्षिकपिलः स्वसमये सुप्रसिद्धः अग्रगामी च दार्शनिको विद्वान् आसीत् इति शम्।

स्वामीविवेकानन्देन सः "विश्वस्य सर्वश्रेष्ठमनोवैज्ञानिकः" इति उक्त। सः भौतिक-सुख-दुःखयोः पारे ज्ञानस्य महत्वं प्रतिपादितवान्।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मनुसंहिता।
2. महाभारत।
3. भगवद्गीता।
4. सांख्यकारिकायाः।
5. श्वेताश्वतर उपनिषद्।
6. भागवत।

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

पाणिनीय व्याकरण की अध्ययन-अध्यापन पद्धति

अश्वनी कुमार
सहायक प्रोफेसर, अतिथि संकाय, संस्कृत विभाग,
हि. प्र. विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केन्द्र, धर्मशाला।

समय की आवश्यकता के अनुसार पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन और अध्यापन की दो पद्धतियाँ दृष्टिगत हैं - सूत्रमूलक पद्धति तथा प्रक्रियामूलक पद्धति। परन्तु सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन और अध्यापन सूत्रमूलक पद्धति की अपेक्षा प्रक्रियामूलक पद्धति से अधिक होता है।

सूत्रमूलक पद्धति में सर्वप्रथम पाणिनीय व्याकरण के सूत्र को पढ़ा जाता है। तदुपरान्त उसकी व्याख्या के बाद उस सूत्र से सम्बन्धित उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों को पढ़ा जाता है।[1] पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन और अध्यापन प्रक्रियानुसारी भी होता है। इस पद्धति में सर्वप्रथम उदाहरणों को पढ़ा जाता है। उसके बाद पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों को यथाक्रम उदाहरणों की रूपरचना के लिए संग्रह किया जाता है।[2]

व्याकरण परम्परा में सूत्रमूलक पद्धति ही प्राचीन पद्धति है। प्रक्रियामूलक पद्धति नवीन पद्धति है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतञ्जली का महाभाष्य, अष्टाध्यायी की काशिका आदि प्रमुख वृत्तिग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों द्वारा पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन और अध्यापन सूत्रमूलक पद्धति से होता है।

सूत्रमूलक पद्धति में सर्वप्रथम सूत्र पढ़ा जाता है और उसकी वृत्ति के बाद उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण पढ़े जाते हैं। जैसे - 'वृद्धिरादैच'[3] सूत्र पढ़ने के बाद उसकी वृत्ति 'वृद्धि शब्दः संज्ञात्वेन विधीयते प्रत्येकम् आदैचाम् वर्णानाम् सामान्येन तदभावितानाम् अतद्भावितानाम् च' पढ़ी जाती है। उसके बाद आश्वलायनः ऐतिकायनः, औपगवः, औपमन्यवः, शालीयः, मालीयः आदि उदाहरणों को पढ़ा जाता है।[4]

पाणिनि ने वैदिक भाषा के लिए छान्दसि का प्रयोग किया है और लौकिक भाषा के लिए भाषा का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनि के समय एक जनसाधारण की भाषा थी तथा दूसरी छान्दस। शब्दों का बोध तो पाठकों को पहले ही होता था। वे मात्र रूपरचना की जानकारी के लिए व्याकरण का अध्ययन करते थे। पाणिनि के समय पाठक शब्दों की सिद्धि मात्र सूत्राध्ययन से ही कर लेते थे। व्याख्या, उदाहरण तथा प्रत्युदाहरणों का ज्ञान उन्हें स्वतः ही हो जाता था। इसीलिए पाणिनि ने केवल अष्टाध्यायी में सूत्रों का पाठ किया है।

पाणिनि उत्तरकाल में भाषा में क्लिष्टता आती गई और भाषा में अनेक शब्दों का समावेश भी होता रहा। अतः अनेक स्थानों पर पाठक मात्र सूत्र से व्याकरण ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होने लगे। पाणिनि उत्तरकाल में जिन शब्दों का समावेश

1. काशिका
2. रूपावतार, लघुसिद्धान्तकौमुदी, वेदाङ्ग प्रकाश, रूपमाला सारसिद्धान्त कौमुदी।
3. अष्टाध्यायी, 1.1.1
4. वही।

भाषा में हुआ, उन शब्दों की सिद्धि करने में पाणिनीय व्याकरण की असमर्थता को जानकर अनेक विद्वानों ने वार्तिक रचे, जिनमें कात्यायन के वार्तिक प्रसिद्ध हैं। कात्यायन के वार्तिक भी सूत्र क्रम में रचे गए हैं।

कात्यायन ने सर्वप्रथम यह जाना कि भाषा में अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं, जिन्हें पाणिनीय व्याकरण सिद्ध नहीं कर पा रहा है। अतः कात्यायन ने वार्तिक रचकर भाषा में प्रयुक्त शब्दों का उनमें उल्लेख किया। पाणिनि कालिक और कात्यायन कालिक भाषा में कुछ भिन्नता आ गई थी। अतः केवल कुछ ही शब्द सिद्धि के लिए कात्यायन ने वार्तिक रचकर उन्हें सिद्ध करने का प्रयास किया। पतञ्जलि के महाभाष्य में ही कात्यायन के वार्तिक प्राप्त होते हैं। स्वतन्त्र रूप से वार्तिकों का ग्रन्थ प्राप्त नहीं है।[1]

भाषा गतिशील होती है, निरन्तर परिवर्तित होती जाती है। कात्यायनोत्तर अनेक नवीन शब्द भाषा में प्रयुक्त होने लगे, जिन का उल्लेख पाणिनि सूत्र और कात्यायन के वार्तिक नहीं कर पा रहे थे। उन शब्दों का वर्णन पतञ्जलि ने सूत्रमूलक पद्धति द्वारा महाभाष्य में किया है। इन्होंने भी सूत्रमूलक पद्धति का अनुसरण किया। जैसे 'मिदचोऽन्त्यात् परः' सूत्र की व्याख्या के बाद पतंजलि ने 'कुण्डानि' 'पयांसि' आदि उदाहरणों में मित् आदेश अन्तिम अच् से परे होने का विधान किया है।[2]

पतंजलि के उत्तरकाल में अनेक दार्शनिकों और सांस्कृतिक शब्दों की उत्पत्ति हुई। भाषा में भी सरलता आती गई। पाठक अष्टाध्यायी, वार्तिक और महाभाष्य को समझने में कठिनाई महसूस करने लगे, क्योंकि इनमें प्रयुक्त भाषा कठिन है। अतः पाणिनीय परम्परा के आचार्यों ने इन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्ति ग्रन्थ रचे, जिनमें काशिका प्रमुख है।[3] काशिका में सूत्रवृत्ति उदाहरण तथा प्रत्युदाहरणों को स्पष्ट दर्शाया गया है। काशिका उस समय तक प्रयुक्त सभी नवीन शब्दों का उल्लेख पूर्ण रूप से करती है। ऊपरलिखित विवरण सूत्र मूलक पद्धति के व्याकरण ग्रन्थों से सम्बद्ध है। इनमें सूत्रमूलक पद्धति का वर्णन है।

व्याकरण के अध्ययन और अध्यापन की दोनों पद्धतियों में दूसरे प्रकार की पद्धति प्रक्रियामूलक पद्धति है। लक्ष्यानुसारी अथवा उदाहरण के अनुसार पढ़ी गई पद्धति को प्रक्रियामूलक पद्धति कहते हैं। इस पद्धति में सर्वप्रथम उदाहरण दिए गए हैं। उसके बाद सूत्रों का उदाहरणों की रूपरचना के लिए अष्टाध्यायी से चुन-चुन कर संग्रह किया गया है। इसमें सन्धि, समास आदि प्रकरणों के उदाहरणों तथा प्रत्युदाहरणों से सम्बन्धित सूत्र रूपरचना क्रम से सन्धि, समास आदि प्रकरणों में ही प्राप्त होते हैं।[4] प्रक्रियामूलक पद्धति में उदाहरणों की रूपरचना को प्राथमिकता दी गई है। उदाहरण, प्रत्युदाहरण सूत्र व्याख्या के बाद दिए गए हैं। जैसे 'वृद्धिरादैच्' सूत्र के बाद 'वृद्धिशब्दः संज्ञात्वेन.....' आदि सूत्रवृत्ति दी गई है। सूत्रवृत्ति के पश्चात् 'आश्वलायनः ऐतिकायनः.....' आदि उदाहरण दिए गए हैं। उदाहरणों की रूपरचना से सम्बन्धित उल्लेख इस पद्धति में प्राप्त नहीं है। उदाहरणों तथा प्रत्युदाहरणों के बाद अगला सूत्र 'अदेङ्गुणः'[5] दिया गया है। इसके बाद 'इकोगुणवृद्धि'[6] सूत्र दिया गया है। इसी क्रम से इस पद्धति में सूत्रों को प्रधानता दी गई है।

सूत्रमूलक पद्धति एकमात्र सूत्रज्ञान की उपयोगिता थी। उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों से मात्र सूत्र के कार्यक्षेत्र का ज्ञान होता है। जैसे 'आश्वलायनः' ऐतिकायनः'[7] आदि 'वृद्धिरादैच्'[8] सूत्र के उदाहरणों से प्रतीत होता है कि 'आ, ए, ओ' वृद्धि

---

1. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, पृ. 334
2. महाभाष्य, 1.1.47
3. संस्कृत व्याकरण।
4. रूपावतार, प्रक्रिया कौमुदी, प्रक्रिया सर्वस्व, रूपमाला, लघु सिद्धान्त कौमुदी।
5. अष्टाध्यायी, 1.1.2
6. वही, 1.1.3
7. काशिका, 1.1.1
8. अष्टाध्यायी, 1.1.1

संज्ञक हैं। वृद्धि संज्ञकों का बोध ही 'वृद्धिरादैच'[1] सूत्र का कार्यक्षेत्र है। उदाहरणों की रूपरचना सम्बन्धित हर कार्य को पाठक स्वयं जुटा लेते थे।

सूत्रमूलक पद्धति में सूत्र की वृत्ति, उदाहरण तथा प्रत्युदाहरणों को समाप्त करके दूसरा सूत्र दे दिया है। उदाहरणों तथा प्रत्युदाहरणों की रूपरचना से सम्बन्धित सूत्रों का विवरण एक साथ सूत्रक्रम में प्राप्त नहीं होता है। केवल समान कार्य करने वाले सूत्र एक क्रम में इकट्ठे प्राप्त होते हैं। जैसे 'वृद्धिरादैच' सूत्र से लेकर 'इग्यणः सम्प्रसारणम्'[2] सूत्र तक 44 सूत्र विभिन्न संज्ञाओं का बोध करवाते हैं। इससे आगे परिभाषा सूत्रों का प्रकरण शुरु होता है, परन्तु प्रक्रियामूलक पद्धति में सूत्रों को उदाहरण रूपरचनार्थ दिया गया है। समान कार्य का इसमें प्रश्न ही नहीं है।

प्रक्रिया मूलक पद्धति में उदाहरणों की रूपरचना के लिए सूत्रों को अष्टाध्यायी से छांट-छांट कर लिया गया है। जैसे 'सुद्ध्युपास्य'[3] उदाहरण की रूपरचना के लिए इकार के स्थान पर यकारादेशार्थ 'इको यणचि'[4] धकार को द्वित्व करने के लिए 'अनचि च'[5] सूत्र दिया गया है। इसी क्रम में धकार को दकार करने के लिए 'झलां जश्झशि'[6] सूत्र प्रक्रिया क्रम में दिया है। 'संयोगान्तस्य लोपः'[7] सूत्र से यकार लोप प्राप्त होता है, 'यण प्रतिषेधो वाच्यः'[8] वार्तिक निषेध करता है।

इस पद्धति में 'सुद्ध्युपास्य' उदाहरण की रूपरचना के लिए सूत्रों को अष्टाध्यायी के षष्ठ तथा अष्टम अध्यायों के विभिन्न पादों से उठाकर प्रक्रिया ग्रन्थों के 'अच् सन्धि' प्रकरण के प्रारम्भ में दिया है। यहाँ केवल उपयोगी सूत्रों का ही वर्णन है। इनके बाद और भी सूत्र हैं, जिन्हें विभिन्न अध्यायों से छांटकर 'सुद्ध्युपास्य' में दिया है।

प्रक्रियामूलक में 'सुद्ध्युपास्य' रूप की प्रक्रिया को पूर्ण करने के बाद 'पुत्रादीनि' वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में तथा अन्य प्रक्रिया ग्रन्थों में हरये, विष्णवे आदि रूपरचनाओं के लिए अष्टाध्यायी के सूत्रों को विभिन्न अध्यायों से लेकर 'सन्धि प्रकरण' में दिया है। इसी क्रम में अगले उदाहरण की रूपरचना के लिए अष्टाध्यायी के सूत्रों को उपयोगिता के अनुसार विभिन्न अध्यायों से उठाकर 'सन्धिप्रकरण' रूपरचना क्रम से दिया गया है। इस प्रकार की पद्धति को प्रक्रियामूलक पद्धति कहते हैं।[9]

प्रक्रियामूलक पद्धति की विशेषता यह है कि इस पद्धति में सूत्रों को विभिन्न उदाहरणों की रूपरचना के लिए 'सन्धि' 'षड्लङ्' आदि प्रकरणों के क्रमानुसार दिया गया है तथा प्रत्येक प्रकरण का नाम उसके विषयानुसार दिया गया है। जैसे संज्ञाप्रकरण, सन्धिप्रकरण, षड्लङ्, स्त्रीप्रत्यय प्रकरण, कारक प्रकरण आदि।[10] प्रक्रियामूलक ग्रन्थों में प्रकरणों की संख्या समानन्तर है। कुछ वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थों की विशेषता के लिए प्रकरणों की संख्या में वृद्धि की है और कुछ वैयाकरणों ने प्रकरणों की संख्या में कमी की है।

प्रक्रियामूलक पद्धति में उदाहरणों की रूपरचना के लिए सूत्रों को स्वयं नहीं जुटाना पड़ता। इस पद्धति में सूत्र रूपरचना क्रम से दिए गए हैं तथा एक प्रकरण से सम्बन्धित उदाहरणों की जानकारी एक ही प्रकरण में दी गई है, परन्तु सूत्रमूलक पद्धति में समान कार्य करने वाले सूत्र इकट्ठे हैं। दूसरे कार्यों से सम्बन्धित सूत्र दूसरी जगह हैं। जैसे समास कार्य करने सूत्र

---

1. वही।
2. वही, 1.1.14
3. वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, अचसन्धि प्रकरण।
4. अष्टाध्यायी, 6.1.77
5. वही, 8.4.47
6. वही, 8.4.53
7. वही, 8.2.23
8. महाभाष्य वार्तिक, 8.2.23
0. लघु सिद्धान्त कौमुदी, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, मध्यसिद्धान्त कौमुदी।
10. रूपावतार, प्रक्रिया कौमुदी, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, लघुसिद्धान्त कौमुदी, रूपमाला।

अष्टाध्यायी के द्वितीय अध्याय प्रथम और द्वितीय पाद में दिए गए हैं। समासान्त पंचम् अध्याय के चतुर्थ पाद में प्राप्त होते हैं। एक शेष अर्थात् पूर्व पद शेष रहे या उत्तरपद-इस कार्य से सम्बन्धित सूत्र षष्ठ अध्याय के तृतीय पाद में प्राप्त होते हैं। इसी तरह कुछ समास सम्बन्धी कार्य करने वाले सूत्र प्रथम अध्याय द्वितीय पाद और कुछ द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद में प्राप्त होते हैं।[1] सूत्रमूलक पद्धति से कम से कम छः अध्याय पढ़ने पर केवल समास ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु प्रक्रियामूलक पद्धति से केवल समास प्रकरण पढ़कर सरलता से समास ज्ञान हो जाता है, क्योंकि इस पद्धति में केवल समास प्रकरण में ही समास सम्बन्धित सभी सूत्रों को उपयोगितानुसार अष्टाध्यायी से छांटकर इसी प्रकरण में दिया है।[2]

सूत्रमूलक पद्धति व्याकरण उपयोगी और सरल है, फिर भी इस पद्धति में अनेक समस्याओं के कारण प्रक्रियामूलक पद्धति का उद्भव हुआ है। यद्यपि प्रक्रियामूलक पद्धति में अनेक त्रुटियाँ हैं, परन्तु समयानुकूल इस पद्धति की उपयोगिता बढ़ गई, क्योंकि इस पद्धति को उदाहरणों के क्रम से प्रकरणों में दिया है। एक प्रकरण पढ़ने से उसे प्रकरण की पूरी जानकारी हो जाती है।

---

1. अष्टाध्यायी।
2. रूपावतार समास प्रकरण, प्रक्रिया कौमुदी समास प्रकरण, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी समास प्रकरण, प्रक्रिया सर्वस्व समास खण्ड, मध्य सिद्धान्त कौमुदी समास प्रकरण, लघुसिद्धान्त कौमुदी समास प्रकरण, सार सिद्धान्त समास प्रकरण।

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

तत्त्व व्यवस्था तथा आचार की दृष्टि से सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त दर्शन की प्रमुख विशेषताएँ

अंशु भटनागर
शोधच्छात्रा
संस्कृत विभाग
एम.एम.एच. कॉलेज,
गाजियाबाद (उ.प्र.)

डॉ. मधु श्रीवास्तव
शोध निर्देशिका
एसोसिएट प्रोफेसर
विभागाध्यक्ष-संस्कृत विभाग
एम.एम.एच. कॉलेज, गाजियाबाद (उ.प्र.)

सांख्य दर्शन

भारतीय दार्शनिक परम्परा में सांख्यदर्शन की एक प्राचीनतम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण दर्शन के रूप में प्रतिष्ठा है। इसके द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों की चर्चा संहिताओं से लेकर परवर्ती साहित्य तक लगातार दिखायी देती है, जो कि सांख्यदर्शन की लोकप्रियता तथा प्राचीनता का स्पष्ट प्रमाण है।

मनुष्य-जीवन के अस्तित्त्व और उसके परमउद्देश्य के खोज की दिशा में सांख्यदर्शन एक असाधारण प्रयास है। इसीलिए सांख्याचार्यों एवं उनके सिद्धान्तों के प्रति भारतीय दर्शन की विशेष रूप से आस्था प्रकट होती है।

उपनिषदों के अर्न्तगत प्रयोग में आने वाले सांख्य और योग पदों के अर्थ, ज्ञान और उसकी साधना है। आत्म-साक्षात्कार के लिए जिस विधि का प्रयोग होता है उसे योग कहा जाता है तथा आध्यात्मविद्या को सांख्य कहा गया है। ये दोनों ही एक सिक्के के दो पहलू हैं। दर्शन के प्रायः सभी रूप और शैलियाँ इन दोनों से एकीकृत अर्थात् समन्वित हैं, क्योंकि ज्ञान का प्रयोजन उसके जीवन में अनुष्ठान अर्थात् यज्ञ (कर्मकांड) ही है। संसार में लौकिक ज्ञान के अनुष्ठान को कर्म तथा आध्यात्मिक ज्ञान के अनुष्ठान को योग कहा गया है। इस प्रकार से दर्शनों के सिद्धान्त-पक्ष को सामान्य रूप से सांख्य एवं प्रयोगपक्ष को योग की संज्ञा दी गई है। यह स्थिति प्रारम्भ से ही थी परन्तु बाद में ये शब्द दर्शन की उन प्रणालियों के लिए रूढ़ हो गए, जिनमें मात्र सिद्धान्त तथा मात्र प्रयोग का प्रतिपादन हुआ है। आचार्य शंकर ने सर्वसिद्धान्त में इस तथ्य को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि सांख्यशास्त्र के आद्य प्रणेता कपिल ने केवल ज्ञान से तथा पतंजलि ने केवल योग से मुक्ति मानी है। महाभारत में भी ज्ञान से ही आत्मदर्शन को परम धर्म कहा गया है। सांख्य-दर्शन इसी का विधान करता है। व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ का ज्ञान ही प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति के रूप में कैवल्य का दायक है। जयमंगलाकार ने सांख्यकारिका का परिचय देते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है–

''पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमै रतः।
जटी मुण्डी शिखो वापि मुच्यते नात्र संशयः।।''

इसमें कहा गया है कि पच्चीस तत्त्वों का साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्ष बोध हो जाने पर ही मनुष्य सभी व्याधियों से मुक्त हो जाता है, फिर चाहे वह जटी, मुण्डी अथवा शिखी अर्थात् ब्रह्मचारी ग्रहस्थ या सन्यासी आदि कोई भी हो। इसके लिए उसे

आश्रम बदलने अथवा सन्यास ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह निश्चित रूप से मोक्ष को प्राप्त करता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

सामान्यतः सांख्य को अवैदिक दर्शन के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु यह भी सत्य है कि सांख्यदर्शन के बीज संहिताओं एवं उपनिषद्ों में स्पष्ट रूप से मिलते हैं। उपनिषद्ों के द्वारा विकसित इस दर्शन के साथ यह एक बहुत ही विचित्र तथ्य घिरा हुआ है अर्थात् जुड़ा हुआ है कि यह औपनिषद् दर्शन के विरूद्ध एक आशु प्रतिक्रिया अथवा त्वरित प्रतिक्रिया है। निश्चित रूप से सांख्य की स्थापना करने वालों की दृष्टि उपनिषद्ों के आदर्शवाद के प्रतिकूल कहीं अधिक सुस्पष्ट एवं व्यवहारिक थी।

तभी तो महाभारत में सांख्य को परिसंख्यादर्शन भी कहा गया है। यह परिसंख्यान शब्द, मीमांसा दर्शन का शब्द है जिसका अर्थ- निषेध विषय का साधन के रूप में वर्णन है। जैसे कि वैदिक धर्म में भी हिंसा निषेध्य है, परन्तु हमारी प्रवृत्ति ऐसी है कि हम हिंसा किए बिना नहीं रह सकते इसीलिए उसे कम करते हुए अन्त में अहिंसा की ओर मनुष्य को आगे बढ़ाने के लिए ही यज्ञयागादि में सर्वत्र अहिंसा का विधान किया गया है। इसी प्रकार से जिस दर्शन का ध्येय अर्थात् उद्देश्य तो पुरुष तत्त्व का ज्ञान कराना है, परन्तु हमारी बुद्धि के स्वाभाविक विषय अर्थात् प्रकृति के चौबीस (24) तत्त्वों के स्वरूप का परिगमन भी जिसका विवेच्य विषय है और जिसमें कि पुरुष के अकर्तृत्त्व आदि रूपों का साक्षात्कार सरलता से होता है, उसे सांख्य कहते हैं। इस प्रकार से परिसंख्यान का ही संक्षिप्त रूप 'सांख्य' प्रसिद्ध हो गया। जिस ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी है, हमें उसका ज्ञान होता है वह प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार सम्यग् दर्शन ही है। 'अव्यक्त' अर्थात् मूलप्रकृति में ही सब कुछ निखिल व्यक्त जगत् सन्निहित है। इसमें पच्चीसवां तत्त्व पुरुष किसी से भी सम्पृक्त नहीं अर्थात् पृथक् है अथवा किसी भी प्रकार के विकार से रहित है। ऐसा जो कोई भी जान लेता है वह फिर किसी भी अज्ञात आशंका से भयभीत नहीं होता है।

इस प्रकार से महाभारत में सांख्य-दर्शन के लिए परिसंख्यान शब्द का अर्थ प्रकृति के निरोधपूर्वक पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान कराना है। अन्य आत्मवादी दर्शनों की अपेक्षा सांख्य की पहली और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें इन पच्चीस तत्त्वों के सम्यक ज्ञान मात्र से प्रकृति का परिसंख्यान अर्थात् समाधान या निवारण हो जाता है।

इस तरह से तर्क प्रधान व्यवहारिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त सांख्यदर्शन की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह द्वैतवाद का समर्थक है। इस दर्शन में सृष्टि का मूल कारण दो तत्त्वों अर्थात् प्रकृति व पुरुष को माना गया है। यहाँ पर प्रकृति और पुरुष का विवेचन बहुत ही तार्किक व वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। अन्य भारतीय दर्शनों की तुलना में सृष्टि की उत्पत्ति तथा विकासात्मक रहस्य को सुलझाने की चेष्टा एक विशेष प्रकार के ढंग से सांख्यदर्शन के अर्न्तगत की गई है। यह दर्शन जगत् का कारण ईश्वर को न मानकर प्रकृति और पुरूष के मेल को मानता है। मुख्यतः सांख्यदर्शन ने सृष्टि के सम्बन्ध में जिस प्रधान तत्त्व की कल्पना की है, वह अत्यन्त वैज्ञानिक है। जैसा कि सांख्य-दर्शन में कहा गया है कि प्रकृति का प्रत्येक व्यक्त तत्त्व पहले अव्यक्तावस्था के समय कहीं बाहर नहीं, अपितु समष्टि (ब्रह्मांड) के गर्भ में 'सुषुप्ति' या बीजरूप में अदृश्य रहता है। सांख्य और अद्वैत वेदांत के अनुसार सृष्टि के आरम्भ से पहले की इस स्थिति को 'साम्यवस्था' कहा जाता है। यही बात गीता में भी 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानिव भारत' के द्वारा स्पष्ट कही गई है।

सांख्यदर्शन की तीसरी महत्वपूर्ण विशेषता उसका निरीश्वरवाद होना है। यद्यपि विज्ञानभिक्षु आदि कुछ विद्वान सांख्यदर्शन को सेश्वर मानते हैं, किन्तु सांख्यदर्शन अपने प्राचीन रूप में सेश्वर नहीं है। ईश्वरवाद का समावेश फिर भले ही सांख्यदर्शन में योग दर्शन के सम्पर्क में आने से हो जाता है।

सांख्यदर्शन की चौथी महत्वपूर्ण विशेषता उसका सत्कार्यवाद या परिणामवाद है। इसके अनुसार कार्य कारण में अव्यक्त रूप द्वारा पहले से ही उपस्थित रहता है। इस दर्शन का मानना है कि कार्य और कारण दोनों ही सत् और एक दूसरे से अभिन्न हैं।

सांख्यदर्शन की पाँचवीं विशेषता उसका यथार्थवादी दर्शन होना है, क्योंकि सांख्यदर्शन ने त्रिविध दुःखों (आध्यात्मिक,

आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःख) की निवृत्ति का उपाय बताकर भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक ऐसे व्यवहारिक दर्शन की स्थापना की है जो कि व्यक्ति को ऐहिक एवं आमुष्मिक अर्थात् लौकिक और परलौकिक दोनों ही प्रकार के सुख का मार्ग प्रशस्त करता है। इस तरह से सांख्यदर्शन एक यथार्थवादी दर्शन के तौर पर जितना मोक्ष की दृष्टि से महत्वपूर्ण है उतना ही जीवन की यथार्थता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। सांख्यदर्शन उपनिषद् के मायावाद को न मानकर भौतिक जगत् की वास्तुगत यथार्थ सत्ता को मानता है।

छठी विशेषता- सांख्यदर्शन की त्रिविध दुःखों से निवृत्ति है। जो कि विवेक ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। इसके अनुसार यह विवेक, प्रकृति एवं पुरूष की असम्बद्धता का ज्ञान है और प्रकृति तथा पुरुष को सम्बद्ध मानना अविद्या तथा असम्बद्ध मानना मुक्ति है। सांख्यदर्शन के अनुसार मोक्ष और बन्धन का कारण भी प्रकृति और पुरुष का ये सम्बन्ध ही है। जबकि न तो कहीं कोई पुरुष का बन्धन है और न ही मोक्ष। सांख्यदर्शन की यह विशेषता वेदान्त के समान तो है परन्तु यहाँ पर बन्धन और मोक्ष पारमार्थिक न होकर मायिक अर्थात् व्यवहारिक है।

सातवीं विशेषता के अन्तर्गत सांख्यदर्शन में दो प्रकार की मुक्ति को स्वीकार किया गया है–

1. जीवन्मुक्ति; 2. विदेह मुक्ति।

1. जीवन्मुक्ति- जीवन्मुक्ति इसी लौकिक जीवन में प्राप्तव्य है। जिस समय ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसी क्षण पुरूष मुक्त हो जाता है जबकि उसका शरीर प्रारब्ध कर्म के अनुसार चलता रहता है। सांख्यसूत्र में जीवन्मुक्त शब्द का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप में मिलता है। ऐसा मनुष्य जीवित रहता हुआ भी मुक्त होता है, इसीलिए ही वह जीवन्मुक्त हैं। जीवन्मुक्त वह ही है जो कि देह के बने रहने पर भी अभी जीवित है तथा विवेक ज्ञान हो जाने से मुक्त है। इसमें विवेक हो जाने की अवस्था में भी बाधित (अर्थात् प्रारब्ध कर्म) की पुनरावृत्ति चलते रहने के कारण उपभोग बना रहता है।

2. विदेहमुक्ति- मृत्यु के पश्चात् जब देह से भी मुक्ति हो जाती है तब उसे विदेह मुक्ति कहा जाता है। इस अवस्था में स्थूल-सूक्ष्म आदि सभी शरीरों से सम्बन्ध छूट जाता है तथा पूर्ण रूप से कैवल्य प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में पुरुष अथवा आत्मा अपनी पूर्ण चेतना प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार से सांख्यदर्शन के अनुसार निःश्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र उपाय ज्ञान या विवेक ही है। अतः सांख्यदर्शन के अनुसार मोक्ष पूर्ण निरोध की अवस्था है।

सांख्यदर्शन ने आचार दर्शन के अन्तर्गत ध्यान तथा चित्तवृत्ति को अत्यधिक विशेष महत्व दिया है क्योंकि ध्यान की निष्पत्ति चित्तवृत्तियों के निरोध से होती है। ऐसी स्थिति में प्रकृति की समस्त लीलाएँ समाप्त हो जाती हैं तथा सृष्टि कर्म भी समाप्त हो जाता है। ऐसी दशा में ही दुःखों का भी आत्यन्तिक विनाश हो जाता है और पुरूष अथवा आत्मा पूर्णरूपेण आत्म काम हो जाता है।

इस प्रकार से सांख्यदर्शन तत्त्व व्यवस्था तथा आचार-पक्ष द्वारा भारतीय दर्शन के क्षेत्र को सर्वाधिक व्यापक और उपयोगी बनाता है। क्योंकि इस दर्शन के अनुसार मनुष्य भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही पक्षों का समर्थन करता है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन

वेदान्त शब्द के स्वरूप ही आचार्य शंकर के दर्शन की मूलभित्ति ब्रह्मवाद में ही प्रतिष्ठित है। इनका मूल मंत्र ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' है।

ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द पवित्र ज्ञान या वाणी अथवा मंत्र आत्मिक ज्ञान के ठोस अभिव्यक्ति के अर्थ रूप में प्रयोग हुआ है।

आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार उनका मूल आधार यह है कि विश्व एक है और इसके बाहर भीतर में कोई भेद नहीं है। कठोपनिषद् का कहना है कि जो कोई भी जगत् में विभेद देखता है वह मृत्यु से पुनः मृत्यु को प्राप्त करता है। यहाँ पर केवल सुसंस्कृत बुद्धि ही अभेद दृष्टि प्राप्त कर सकती है। ब्रह्म पूर्ण रूप से एक है और उसके किसी भी अंग का ज्ञान पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान है। इस विषय में ईशावास्योपनिषद् का कथन मी बहुत अर्थपूर्ण है–

''पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।''

इन शब्दों के द्वारा उपनिषदों में यह बताया गया है कि जिस प्रकार से मिट्टी के एक टुकड़े द्वारा उसके ज्ञान से प्रत्येक मिट्टी की बनी हुई वस्तु का ज्ञान हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म के किसी भी स्वरूप के ज्ञान से पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है अर्थात् जैसे मिट्टी के टुकड़े का परम तत्त्व मिट्टी का यह शब्द विकार और नाम मात्र है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर का परम तत्त्व ब्रह्म है, जो कि अनन्य सदृश, स्वयंप्रभ और आत्मप्रतिष्ठित है। प्रत्येक वस्तु, जिसकी सत्ता है, वह ब्रह्म ही है ऐसा यहाँ पर कहा गया है।

आचार्य शंकर के मतानुसार ब्रह्म परमार्थतः निर्गुण, निर्विशेष और व्यवहारतः सगुण, सविशेष है। ये दोनों ही ब्रह्म क्रमशः ज्ञान और अज्ञान के विषय हैं। ब्रह्म चिन्मय स्वरूप है। चैतन्य ब्रह्म का गुण नहीं है और न ही ब्रह्म वह द्रव्य है जो चेतन गुण का आशय हो।

ज्ञान के पश्चात् मात्र ब्रह्म ही बच जाता है, क्योंकि ब्रह्म ही अज्ञान की स्थिति में इन दो पृथक् तत्त्वों के रूप में प्रतीयमान होता है। आत्मा परमार्थतः ब्रह्म ही है। अतएव यह भी ब्रह्म की तरह ही नित्य-चेतन, सर्वव्यापक, अविनाशी, चिन्मय, निर्गुण, निर्विशेष, नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव तथा सच्चिदानन्द है।

अद्वैत वेदान्त में आत्मा को ब्रह्म अर्थात् परमतत्त्व माना गया है। यहाँ पर हम दार्शनिक दृष्टि द्वारा देखते हैं, तो पाते हैं कि सम्पूर्ण विश्व द्रष्टा और दृश्य इन दो भागों में बंटा हुआ है– जिसमें पहला प्रतीतियों का अनुभवकर्ता और दूसरा समस्त अनुभवों का विषय। इसमें समस्त प्रतीतियों के अनुभवकर्ता को आत्मा तथा समस्त प्रतीतियों के विषय को अनात्मा कहा गया है। अतः कहा जा सकता है कि इन्हीं दोनों का प्रथम दार्शनिक विवेचन करना ही शंकराचार्य का उद्देश्य रहा है। यही अद्वैत वेदान्त दर्शन की पहली और सर्वप्रमुख विशेषता है।

आदि शंकर का कहना है कि आत्मा तीन प्रकार के शरीरों से विलक्षण पंचकोशों से विलक्षण तथा तीनों अवस्थाओं की साक्षी एवं सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसके विषय में बताया गया है–

आत्मा शरीरत्रय भिन्न है

जिस प्रकार से घट को देखने वाला सदा घट से अलग या भिन्न रहता है, अर्थात् घट स्वरूप होकर घट को नहीं देखता है, तदनुसार से शरीरों का द्रष्टा भी शरीरत्रय से भिन्न है अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से भेद के योग्य है।

स्थूल शरीर

स्थूल शरीर पंचीकृत महाभूतों के समस्त कार्य, सुख-दुःखादि का भोग, सत्कर्मजन्य तथा छः भावविकारों के आश्रय होते हैं। जन्म, अस्ति (आत्मलाभ प्राकट्य), वृद्धि, परिणाम, उपक्षय (ह्रास) तथा नाश ये छः भाव विकार हैं।

सूक्ष्म शरीर

सूक्ष्म शरीर अपंचीकृत पंचमहाभूतों से उत्पन्न होता है। इसके सत्रह अवयव हैं, जैसे- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन एवं बुद्धि। यह सत्कर्मजन्य एवं सुख-दुःखादि भोगों का साधन है। इस शरीर का साक्षात्कार किया जाना असम्भव है। इसे श्रवण, चिंतन-मनन आदि के द्वारा ही जाना जा सकता है। अतः इसे लिङ्ग शरीर भी कहा जाता है।

कारण शरीर

अज्ञान को ही कारण शरीर कहा गया है। यह समस्त अनर्थों का तथा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों का भी कारण है, इसीलिए इसे कारण शरीर कहते हैं। इसकी अभिव्यक्ति की अवस्था सुषुप्ति है, जहाँ पर सब प्रकार की प्रभा (ज्ञान) शान्त हो जाती है। इसकी प्रणीति ''मैं कुछ नहीं जानता'' ऐसी लोक प्रसिद्ध उक्ति से होती है।

इस प्रकार से आत्मा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन तीनों शरीरों से एवं इनके धर्मों से भिन्न है।

आत्मा पंचकोशों से परे है

अद्वैत वेदांत दर्शन और तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार मनुष्य का अस्तित्त्व पाँच आवरणों या कोशों से ढका हुआ है, जैसे- अन्नमय कोष (स्थूल भौतिक शरीर), प्राणमय कोष (जीवन की ऊर्जा अर्थात् श्वास), मनोमय कोष (मन और भावनाएं), विज्ञानमय कोष (बुद्धि और ज्ञान) तथा आनन्दमय कोष (सुख और प्रगाढ़ शांति का आवरण)।

अब यदि कोई यहाँ कहे कि आत्मा पंचकोश रूप है तो ऐसा नहीं है क्योंकि आत्मा तो एक है और कोश अनेक हैं, इन पंचकोशों के अलावा और भी कोश हैं जो कि उत्पन्न और विनाशशील हैं जबकि आत्मा अविनाशी है। आत्मा कोश धर्मी है तथा धर्म से रहित है। अतः आत्मा कोशरूप कभी नहीं हो सकती।

यहाँ पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति इन पाँचों परतों को भेदकर या इनसे ऊपर उठकर शाश्वत, निर्गुण और शुद्ध आत्म-तत्त्व (आत्मा या परमात्मा) के द्वारा अनुभव करता है, उसे ही 'पंचकोशों से परे' कहा जाता है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति केवल शरीर, मन या भावनाओं का पुंज नहीं है, अपितु वह इनसे अलग एक अमर चैतन्य स्वरूप है।

आत्मा अवस्थात्रय की साक्षी है

आत्मा के विवेचन के विषय में कहा गया है कि आत्मा अवस्थात्रय की साक्षी है। अवस्थात्रय शब्द से जीव की तीन अवस्थाएँ कही जाती हैं जैसे कि जाग्रदवस्था (जागृत अवस्था), स्वप्नावस्था (स्वप्न अवस्था), सुषुप्यवस्था (सुषुप्ति अवस्था-गहरी नींद) आदि।

आत्मा शरीरत्रय से विलक्षण है। इसके प्रसंग में आचार्य शंकर युक्ति द्वारा आत्मा के अवस्थात्रय साक्षित्व का प्रतिपादन अर्थात् प्रस्तुतीकरण करते हैं कि जिस प्रकार से दो पुरुषों में विवाद होने पर कोई तटस्थ साक्षी पुरूष अपने में किसी भी प्रकार के विकार को उत्पन्न किए बिना ही उन दोनों के विवाद को देखता है और जानता है। बिल्कुल वैसे ही अविकृत आत्मा भी सभी अवस्थाओं के विषय में जानती है कि कब जाग्रदवस्था हुई, वर्तमान काल में कब होगी तथा भविष्यकाल में कब होगी। ठीक इसी प्रकार स्वप्नावस्था तथा सुषुप्त्यवस्था की भी अवस्थाएं हैं। इस तरह से तीनों अवस्थाओं को जानने वाली अविकृत आत्मा अवस्थात्रय से विलक्षण तथा उनकी साक्षी सिद्ध होती है।

आत्मा के विशेषण और निरूपण रूप भी हैं

यद्यपि आत्मा निर्विशेष, निर्गुण, स्वतः स्वरूप है तथापि अनात्मा की अपेक्षा उसके दो प्रकार के विशेषण हैं, जैसे- पहला उनमें एक प्रकार का विधेय है तथा दूसरे में निषेध्य है। जहाँ पर सत्, चित्, आनन्द, ब्रह्म, एक, दृष्टा, कूटस्थ, अद्वितीय और स्वयं प्रकाश आदि विधेय विशेषण हैं तो वहीं पर अनन्त, अखण्ड, अजाति, अद्वय और असङ्ग आदि निषेध्य विशेषण भी हैं।

आत्मा ब्रह्मस्वरूप है

प्रेम का विषय आत्मा परमानन्द स्वरूप है और ब्रह्म भी सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसीलिए आत्मा ब्रह्म स्वरूप है। विभु (व्यापक) को ब्रह्म कहा जाता है अतः आत्मा भी विभु है। अगर आत्मा विभु ब्रह्म स्वरूप नहीं होगी तो यह एकदेशी होगी और जो एकदेशी होगा वह उस घटादि का कालकृत अन्त होगा, ऐसा नियम है। अतः काल से अन्त होने पर आत्मा अनित्य होगी। इसी कारण आत्मा ब्रह्म से अलग नहीं है और यदि आत्मा से भिन्न ब्रह्म होगा तो वह घटादि के समान अनात्मा अर्थात् जड़ होगा क्योंकि उसकी चेतनता में कोई प्रमाण ही नहीं है और ब्रह्म की जड़ता श्रुति आदि के विरुद्ध है। अतः प्रत्यक्ष आत्मा से भिन्न ब्रह्म नहीं है तथा आत्मा ब्रह्म स्वरूप है। इसके विषय में निश्चलदास आत्मा सम्बन्धी शुद्ध अद्वैतवादी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं–

"सत् चित् आनंद एक तू।
ब्रह्म अजन्म असङ्ग।।"

श्रुति में ब्रह्म का जो सत्य, ज्ञान और अनन्त लक्षण कहा गया है, वो लक्षण इस आत्मा में विद्यमान है। आत्मा इन्द्रियजन्य ज्ञान का अविषय होते हुए भी अपरोक्ष है, अतः स्वप्रकाश रूप है। आत्मा स्वप्रकाश है यह सिद्ध हो जाने पर आत्मा ब्रह्म है

यह बताया गया है। इसीलिए ही इस स्वयं प्रकाश तत्त्व को ब्रह्म मान लेना ही उचित है।

श्रुति 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों द्वारा आत्मा के ब्रह्मस्वरूप की व्याख्या करती है।

इस प्रकार से अद्वैत वेदान्त दर्शन में आत्मा स्वयं प्रकाश होने के कारण समस्त का प्रकाशक एवं प्रकाशानुभव स्वरूप है। इसके प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित, आलोकित एवं भासमान् है—

''तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिदंविभाति।''

इस प्रकार से इस दर्शन में सबसे बड़ी और दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यही है कि ये दर्शन अद्वैतवाद का समर्थक है। अद्वैत वेदान्त दर्शन में पारमार्थिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत ब्रह्म और जीव (आत्मा) को एक माना गया है। जब व्यक्ति स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है तब उसमें आत्मा और ब्रह्म की एकता का कोई सन्देह नहीं रहता।

अद्वैत वेदान्त दर्शन की तीसरी विशेषता यह है कि अद्वैत सिद्धान्त ईश्वर की कल्पना का निषेध नहीं करता है अपितु वह ईश्वरवाद का समर्थन करता है क्योंकि धर्म के आधार के लिए तथा ऐन्द्रिक जगत् के अस्तित्त्व की व्याख्या और रक्षा के लिए ईश्वर की आवश्यकता होती है। यह शान्त, शिव और अद्वैत है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन की चौथी विशेषता उसका विवर्तवाद (केवल आभास मात्र) होना है। आचार्य शंकर सांसारिक प्रपंचों को अभास मानते हैं किन्तु यही आभास उस अनादि अपरिवर्तित ब्रह्म का अकाट्य प्रमाण है। ऐसी कौन-सी वस्तु है जो भिन्न-भिन्न विषयों के रूप में हमें आभासित नहीं होती है। विवर्तवाद के अर्न्तगत ''वस्तु का स्वरूप बदले बिना उसका कुछ और दिखाई देना'' होता है। इसी प्रकार से हमें अज्ञान के कारण ब्रह्म भी जगत् के रूप में दिखाई देता है। ज्ञान से प्रकाशित होने पर संसार का भ्रम मिट जाता है और केवल अकेले ब्रह्म का अस्तित्त्व रह जाता है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन की पाँचवीं विशेषता उसका पारमार्थिक आदर्शवादी दर्शन का होना है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से ब्रह्म को निर्गुण माना गया है। यहाँ निर्गुण का अर्थ है कि वह गुण और अवगुण दोनों से परे है। ब्रह्म के दो रूप हैं— सगुण तथा निर्गुण, यह दोनों एक ही हैं किन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता से दो रूपों में दिखाई देते हैं। ब्रह्म की एकमात्र सत्ता है, इस ज्ञान के अभाव में ही जीव को पृथक् सत्ता का आभास होता है। वैसे यहाँ पर सगुण ब्रह्म की कल्पना उपासना के निमित्त लोक दृष्टि से की गई है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन की छठी और मुख्य विशेषता उसका मायावाद का समर्थन करना है। ब्रह्म की अद्वैतसिद्धि का आधार मायावाद में ही प्रतिष्ठित है। आचार्य शंकर का मायावाद भी उतना ही प्रसिद्ध है जितना कि भारतीय दर्शन के क्षेत्र में उनका अद्वैतवाद प्रसिद्ध है। उपनिषद् के सिद्धान्तों तथा उनके मूल तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर ने विश्व की विविधता का औचित्य माया के द्वारा ही सिद्ध किया है।

माया का प्रयोग शंकराचार्य ने प्रायः मिथ्यात्व के प्रतिपादक इन्द्रजाल के अर्थ में किया है। यहाँ पर आचार्य ने परमेश्वर को मायावी तथा जगत् को माया कहा है। जगत् की उत्पत्ति, निरपेक्ष एवं निर्गुण ब्रह्म से किस प्रकार होती है तथा एक से अनेकता का आर्विभाव कैसे होता है, इन समस्याओं का समाधान माया के द्वारा ही होता है। अतः माया की सुसंगत एवं सुसम्बद्ध व्याख्या आचार्य शंकर ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखते समय दी है। आचार्य ने माया की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियाँ मानी हैं। आवरण शक्ति से माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ढक देती है तथा विक्षेप शक्ति सम्पूर्ण जगत् प्रपंच को आरोपित करती है। इस प्रकार से आदिशंकर के शब्दों में यह माया अव्यक्त नाम वाली, अनादि, अविद्या, त्रिगुणात्मिका तथा परमेश्वर की पराशक्ति है। बुद्धिमान व्यक्ति इसके कार्य से ही इसका अनुमान लगा लेते हैं।

अद्वैत वेदान्त दर्शन की सातवीं विशेषता उसके मोक्ष स्वरूप को लेकर है। आचार्य शंकर का मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त भी अद्वैतवाद का पृष्ठपोषक है। यहाँ पर परमसत्ता से साक्षात्कार का नाम ही मोक्ष है, जिसमें हम सर्वश्रेष्ठ और अद्वितीय सुख प्राप्त करते हैं।

अविद्या के नाश होने पर स्वतः इसका प्रकाश हो जाता है। मोक्ष की अवस्था में मुक्तात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को धारण कर लेती हैं। आत्मा के विलोप होने का नाम ही मोक्ष नहीं है, अपितु अपनी अनन्तता और निरपेक्षता का साक्षात्कार कर लेने

का नाम ही मोक्ष है।

इस प्रकार से आचार्य शंकर ने केवल तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा को ही अपनी अमूल्य देनों से समृद्ध नहीं किया अपितु आचार जगत् को भी उनके महनीय सिद्धान्तों से सुदृढ़ आधार मिला। आचार्य ने जिस कर्म सिद्धान्त का मार्ग प्रशस्त किया है वह व्यवहार और परमार्थ दोनों के लिए ही लाभदायक है। आत्मा का ज्ञान हो जाने पर निष्काम कर्म स्वयं फलित हो जाता है। यहाँ पर ये भी स्पष्ट किया गया है कि मलिन चित्त वाले आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते, किन्तु नित्य कर्म के अनुष्ठान से चित्त शुद्धि होती है जिससे जीव को आत्मस्वरूप का बोध होता है। इन्होंने अपने भाष्य में स्पष्टपूर्वक कहा है कि कर्म द्वारा सुसंस्कृत होने पर ही विशुद्धात्मा आत्मबोध करने में समर्थ होती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ये अज्ञान ही सभी अनर्थों की जड़ है, जिसके लिए ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्। श्वेताश्वतर उप. 6/13
2. ज्ञानेन मुक्तिः कपिलो योगेनाह पतंजलिः। सर्वसिद्धान्त संग्रह-3
3. गोरक्ष संहिता, शिव संहिता (नाथ पंथ के हठयोग ग्रंथ)
   सांख्यदर्शन की माठरवृत्ति
4. Encyclopedia of Religion and Ethics, Vol. 7, pp 189-90
5. (क) सांख्यदर्शन मेतावत् परिसंख्यान दर्शनम्। 12/306/41
   (ख) सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम्। शान्ति. 306/26
   (ग) संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृति च प्रचक्षते ते।
   तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः।। 12/306/43
6. एतावदेव तत्त्वानां सांख्यामाहुर्मनीषिणः। श.प. 306/30
7. सर्वमव्यक्तमित्युक्तमसर्वः पंचविंशकः।
   य एनमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते।। म. भा. 12/306/50
8. यदा तु बुध्यतेऽऽत्मानं तदा भवति केवलः।
   सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः।। म.भा. 12/306/45
9. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/28
10. डॉ. यदुनाथ सिन्हा; भारतीय दर्शन, पृ.सं. 180
    M. Hiriyanna : Outlines of Indian Philosophy, p. 28.
11. M. Hiriyanna : Outlines of Indian Philosophy, p. 292.
12. ''तस्मात्र को वध्यतेऽसौ न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
    संसरति वध्यते मुच्यते च मानात्रया प्रकृति।।'' सांख्यकारिका, 62
13. ''बद्धौ मुक्तइतिव्याख्या गुणतौ न तु वस्तुतः'', श्रीमद्भागवत्, 11/11/1
14. जीवनमुक्तश्च, सां.सू. 3/78
15. बाधितानुवृत्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः, सां.सू. 3/79
16. प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
    ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।। सां.का. 68
17. यदुनाथ सिन्हा : भारतीय दर्शन, पृ. 51
18. ईशावास्योपनिषद्, शांतिपाठ, बृ.उ. 50, 5/1/1

19. स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराद्व्यतिरिक्तिः पंचकोशातीतः सन् अवस्थात्रयसाक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपः सन् यस्तिष्ठति स आत्मा। तत्त्वबोध 2, आत्मानाविवेक 20
20. पंचीकृतपंचमहाभूतैः . . . षड्विकारवदेतत्स्थूलशरीरं। तत्त्वबोध, 3/1
21. लिंङ्ग, चानेकसंयुक्तं चलं दृश्यं विकारि च।
अव्यापकमसद्रूपं तत्कथं स्यात् पुमानयम्।। अपरोक्षनुभूति, 39
22. विवेकचूड़ामणि, 122, 124
23. आत्मानात्मविवेक, 41
''अवस्थात्र्य - साक्षी एकः अव्यभिचारी,
अवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते।'' वेदान्त भाष्य, 2/1/9
24. विचारचन्द्रोदय, आत्मविशेषण निरूपण, पृष्ठ 120-121
25. विचारसागर, तरंग-6, पृष्ठ 206 अर्धदोहा
26. अविद्याभ्यपरोक्षतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम्।। पंचदशी, पंचकोशविवेकप्रकरण, 3
27. कठोपनिषद्, 2/2/15
28. ''शान्तशिवमद्वैतं'' माण्डूक्योपनिषद, 7
29. ब्रह्मसूत्र, 2/1/14 माण्डूक्यकारिका, वैतध्य प्रकरण, 2/4
30. श्रीमद्भगवद्गीता, (दैवासुरसम्पद्धि भागयोग) 16
31. ब्रह्मसूत्र, शा.भा., 2/1/9
32. वाक्यसुधा 13, दामोदर शास्त्री द्वारा संपादित, बनारस 130
33. विक्षेपशक्तिलिंगादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्, दृग्दृश्यविवेक, 13/15
34. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यथा जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।। विवेकचूड़ामणि, 110

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

प्रधानमंत्री आवास योजना का भोपाल जिले में क्रियान्वयन एवं सामाजिक-आर्थिक प्रभाव : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. राखी सक्सेना
सह प्राध्यापक एवं शोध निर्देशक
जगदीश कुमार धुर्वे
पीएच.डी. शोधार्थी
वाणिज्य एवं प्रबंध विभाग, कॅरियर कॉलेज (ऑटोनॉम), बी.एच.ई.एल., भोपाल (मध्यप्रदेश)

सारांश

भारत में तीव्र शहरीकरण के साथ सुरक्षित, किफायती और बुनियादी सुविधाओं से युक्त आवास की आवश्यकता बढ़ी है। प्रधानमंत्री आवास योजना शहरी (PMAY-U) का उद्देश्य पात्र शहरी परिवारों को पक्का आवास उपलब्ध कराना तथा आवासीय परिस्थितियों में गुणात्मक सुधार लाना है। प्रस्तुत अध्ययन में भोपाल जिले के संदर्भ में योजना के क्रियान्वयन, आवास निर्माण की प्रगति तथा सामाजिक-आर्थिक प्रभावों का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन वर्णनात्मक, तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक प्रकृति का है तथा सरकारी दस्तावेजों, PMAY-U MIS, मंत्रालयीय रिपोर्टों और उपलब्ध शहर-वार आँकड़ों को आधार बनाया गया है। अध्ययन से संकेत मिलता है कि योजना ने आवासीय परिसंपत्ति निर्माण को व्यापक स्तर पर बढ़ाया है, किंतु स्वीकृति, निर्माण प्रारंभ और पूर्णता के बीच अंतर बना हुआ है। अतः योजना की सफलता का आकलन केवल मकानों की संख्या से नहीं, बल्कि अधिभोग, मूलभूत सुविधाओं, वहनीयता, रोजगार से निकटता और जीवन-गुणवत्ता के आधार पर किया जाना चाहिए।

कुंजी शब्द : प्रधानमंत्री आवास योजना–शहरी, भोपाल, शहरी आवास, सामाजिक-आर्थिक प्रभाव, शहरी गरीब, आवासीय विकास।

1. प्रस्तावना

शहरीकरण आर्थिक अवसरों, रोजगार और सेवाओं तक पहुँच को बढ़ाता है, किंतु इसके साथ आवास की मांग भी तेजी से बढ़ती है। निम्न एवं कमजोर आय वर्ग के परिवारों के लिए भूमि की ऊँची कीमत, निर्माण लागत, सीमित ऋण सुविधा तथा आधारभूत सेवाओं की कमी आवासीय असुरक्षा को बढ़ाती है। इसलिए शहरी आवास नीति का उद्देश्य केवल मकान उपलब्ध कराना नहीं, बल्कि सुरक्षित एवं सुविधायुक्त आवासीय वातावरण तैयार करना होना चाहिए।

प्रधानमंत्री आवास योजना–शहरी को इसी आवश्यकता के संदर्भ में 25 जून 2015 को प्रारंभ किया गया। योजना में लाभार्थी-आधारित निर्माण, किफायती आवास, स्लम पुनर्विकास तथा ऋण आधारित सहायता जैसे विभिन्न उपाय शामिल रहे। भोपाल जिले के संदर्भ में योजना का अध्ययन स्थानीय क्रियान्वयन, परियोजना प्रगति तथा लाभार्थियों के सामाजिक-आर्थिक परिणामों को समझने में उपयोगी है।

2. अध्ययन की समस्या एवं औचित्य

योजना की सफलता का आकलन केवल स्वीकृत आवासों की संख्या से करना पर्याप्त नहीं है। स्वीकृति के बाद निर्माण प्रारंभ होना, निर्माण पूर्ण होना और लाभार्थी द्वारा वास्तविक रूप से आवास का उपयोग करना अलग-अलग चरण हैं। इन चरणों के बीच अंतर होने पर योजना की वास्तविक उपलब्धि और प्रशासनिक उपलब्धि में अंतर हो सकता है। भोपाल जैसे तेजी से विकसित होते शहर में भूमि, निर्माण लागत, आधारभूत सुविधाओं और आजीविका से दूरी जैसे प्रश्न विशेष महत्व रखते हैं।

3. अध्ययन के उद्देश्य

प्रधानमंत्री आवास योजना–शहरी के विकास एवं क्रियान्वयन की प्रवृत्ति का अध्ययन करना।
भोपाल के संदर्भ में स्वीकृत, निर्माण प्रारंभ एवं पूर्ण आवासों की प्रगति का विश्लेषण करना।
योजना के सामाजिक एवं आर्थिक प्रभावों का अध्ययन करना।
आवास के साथ जल, स्वच्छता, बिजली, सड़क एवं अन्य सुविधाओं के महत्व का मूल्यांकन करना।
योजना के क्रियान्वयन की प्रमुख चुनौतियों की पहचान कर सुझाव प्रस्तुत करना।

4. परिकल्पनाएँ

मूल परिकल्पना : प्रधानमंत्री आवास योजना–शहरी के विस्तार से शहरी आवासीय विकास में सकारात्मक परिवर्तन हुआ है।

उप-परिकल्पना 1 : स्वीकृत आवासों में वृद्धि से पात्र शहरी परिवारों के लिए पक्के आवास की उपलब्धता बढ़ी है।

उप-परिकल्पना 2 : आवास के साथ मूलभूत नागरिक सुविधाएँ उपलब्ध होने पर योजना का सामाजिक प्रभाव अधिक प्रभावी होता है।

उप-परिकल्पना 3 : स्वीकृत, निर्माण प्रारंभ और पूर्ण आवासों के बीच अंतर क्रियान्वयन संबंधी बाधाओं की ओर संकेत करता है।

5. शोध पद्धति

अध्ययन वर्णनात्मक, तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है। वर्तमान अध्ययन में द्वितीयक आँकड़ों को प्रमुख आधार बनाया गया है। मुख्य स्रोत आवास एवं शहरी कार्य मंत्रालय, PMAY-U MIS, प्रेस सूचना ब्यूरो तथा योजना से संबंधित सरकारी दस्तावेज हैं। विश्लेषण के लिए स्वीकृत आवास, निर्माण प्रारंभ, पूर्ण आवास, वित्तीय सहायता और परियोजना प्रगति जैसे संकेतकों का उपयोग किया गया है। द्वितीयक आँकड़ों से जीवन-गुणवत्ता पर कारणात्मक प्रभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता; इसके लिए प्राथमिक लाभार्थी सर्वेक्षण आवश्यक होगा।

6. प्रधानमंत्री आवास योजना–शहरी के प्रमुख घटक

घटक	मुख्य उद्देश्य	प्रासंगिकता
BLC	लाभार्थी द्वारा व्यक्तिगत घर निर्माण/विस्तार	स्वयं के भूखंड पर सहायता
AHP	परियोजना आधारित किफायती आवास	ैं परिवारों के लिए समूह आवास
ISSR	स्लम पुनर्विकास	भूमि का बेहतर उपयोग एवं पुनर्वास
CLSS	आवास ऋण पर ब्याज सहायता	आवास की वित्तीय वहनीयता

7. राष्ट्रीय स्तर पर योजना की प्रगति

उपलब्ध आधिकारिक शृंखला के अनुसार PMAY-U में स्वीकृत आवास 2015-16 के 5.80 लाख से बढ़कर 2021-22 में 122.70 लाख तक पहुँचे। 2022-23 में यह 120.25 लाख तथा 2023-24 में 118.64 लाख रहा। शुरुआती वर्षों में तीव्र विस्तार तथा बाद के वर्षों में अपेक्षाकृत स्थिरता योजना के विस्तार और परिपक्वता की ओर बढ़ने का संकेत देती है।

वित्तीय वर्ष	स्वीकृत आवास (लाख)
2015-16	5.80
2016-17	13.10
2017-18	31.80
2018-19	61.30
2019-20	82.40
2020-21	101.10
2021-22	122.70
2022-23	120.25
2023-24	118.64

8. भोपाल जिले में योजना का क्रियान्वयन

उपलब्ध PMAY-U शहर-वार परियोजना अभिलेखों में भोपाल के लिए AHP और ISSR से संबंधित परियोजनाओं की जानकारी मिलती है। 2015-16 की ISSR परियोजना में 1,204 आवास स्वीकृत, निर्माण प्रारंभ और पूर्ण बताए गए थे। 2016-17 की AHP परियोजनाओं में 16,720 आवास स्वीकृत तथा निर्माण प्रारंभ, जबकि 864 आवास पूर्ण दर्ज थे। 2017-18 में 10,228 आवास स्वीकृत और 3,892 आवास निर्माण प्रारंभ बताए गए। इससे स्वीकृति, निर्माण और पूर्णता के बीच समय-अंतर स्पष्ट होता है।

वर्ष	घटक	स्वीकृत	निर्माण प्रारंभ	पूर्ण
2015-16	ISSR	1,204	1,204	1,204
2016-17	AHP	16,720	16,720	864
2017-18	AHP	10,228	3,892	0

9. सामाजिक-आर्थिक प्रभाव

पक्का आवास परिवार की आवासीय सुरक्षा बढ़ा सकता है तथा अस्थायी या कमजोर आवास से जुड़े जोखिमों को कम कर सकता है। स्थायी आवास बच्चों की पढ़ाई के लिए बेहतर वातावरण, स्वच्छता और घरेलू सुविधाओं के उपयोग तथा परिवार की परिसंपत्ति सुरक्षा में योगदान दे सकता है। महिला स्वामित्व या सह-स्वामित्व की स्थिति में आवास परिवार की आर्थिक सुरक्षा और निर्णय-क्षमता से भी जुड़ सकता है।

आर्थिक दृष्टि से आवास निर्माण स्थानीय श्रम, निर्माण सामग्री, परिवहन और छोटे व्यवसायों में मांग उत्पन्न करता है। घर परिवार के लिए दीर्घकालीन परिसंपत्ति का आधार बन सकता है। दूसरी ओर, यदि आवास रोजगार केंद्रों से दूर हो, परिवहन

व्यय बढ़े या रखरखाव लागत अधिक हो, तो वास्तविक आर्थिक लाभ सीमित हो सकता है।

10. कोविड-19 अवधि और क्रियान्वयन

वर्ष 2019-20 और विशेषकर 2020-21 में कोविड-19 महामारी, लॉकडाउन, श्रमिकों की आवाजाही, निर्माण सामग्री की आपूर्ति तथा प्रशासनिक गतिविधियों में व्यवधान ने निर्माण क्षेत्र को प्रभावित किया। PMAY-U परियोजनाओं में स्वीकृत और निर्माण प्रारंभ आवासों के बीच अंतर तथा कई स्थानों पर कम पूर्णता इस अवधि के प्रभाव को समझने के लिए संदर्भ प्रदान करती है।

फिर भी किसी परियोजना की देरी का कारण केवल कोविड-19 मानना उचित नहीं है। भूमि संबंधी समस्या, लाभार्थी अंश, स्थानीय स्वीकृति, ठेकेदार क्षमता, सामग्री की कीमत और मौसम जैसे अन्य कारक भी परिणामों को प्रभावित कर सकते हैं।

11. प्रमुख चुनौतियाँ

- किफायती एवं उपयुक्त भूमि की उपलब्धता।
- लाभार्थी पहचान और दस्तावेजी प्रक्रिया में देरी।
- निर्माण सामग्री एवं श्रम लागत में वृद्धि।
- स्वीकृति से निर्माण और पूर्णता तक समय-अंतर।
- रोजगार केंद्रों से आवासीय परियोजनाओं की दूरी।
- नगर निकायों की तकनीकी एवं परियोजना प्रबंधन क्षमता।
- पूर्ण आवासों के वास्तविक अधिभोग और मूलभूत सेवाओं की उपलब्धता।

12. सुझाव

- स्वीकृति के साथ समयबद्ध निर्माण एवं अधिभोग लक्ष्य निर्धारित किए जाएँ।
- 'स्वीकृति से अधिभोग' तक का समय प्रमुख प्रदर्शन संकेतक बनाया जाए।
- नगर निकायों में तकनीकी एवं परियोजना प्रबंधन क्षमता बढ़ाई जाए।
- लाभार्थियों को निर्माण गुणवत्ता, लागत और तकनीकी मार्गदर्शन उपलब्ध कराया जाए।
- आवासीय परियोजनाओं को रोजगार, परिवहन, जल, स्वच्छता और सामाजिक सेवाओं से जोड़ा जाए।
- अधिभोगोत्तर सर्वेक्षण द्वारा पूर्ण आवासों के वास्तविक उपयोग का मूल्यांकन किया जाए।

13. निष्कर्ष

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रधानमंत्री आवास योजना—शहरी ने भारत में शहरी आवास नीति को व्यापक स्तर पर विस्तार दिया है। राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत आवासों में उल्लेखनीय वृद्धि योजना के बड़े पैमाने पर क्रियान्वयन को दर्शाती है। भोपाल के उपलब्ध परियोजना आँकड़े यह बताते हैं कि स्वीकृति, निर्माण प्रारंभ और पूर्णता के चरणों में अंतर हो सकता है; इसलिए योजना की वास्तविक दक्षता का मूल्यांकन बहु-स्तरीय संकेतकों से किया जाना चाहिए।

सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से पक्का आवास परिवारों को सुरक्षा, स्थायित्व और परिसंपत्ति निर्माण का आधार दे सकता है। परंतु दीर्घकालीन प्रभाव तभी मजबूत होगा जब आवास के साथ जल, स्वच्छता, बिजली, सड़क, परिवहन, शिक्षा, स्वास्थ्य और आजीविका की सुविधाएँ उपलब्ध हों। भोपाल के भविष्य के अध्ययन में लाभार्थी-स्तर के प्राथमिक आँकड़ों और सांख्यिकीय परीक्षणों को शामिल करना अधिक वैज्ञानिक निष्कर्षों के लिए उपयोगी होगा।

14. संदर्भ सूची

- Ministry of Housing and Urban Affairs. (2024). PMAY-U achievements/progress as on 11 November 2024. Government of India.
- Ministry of Housing and Urban Affairs. (2024). Outcome budget 2024-25. Government of India.
- Ministry of Housing and Urban Affairs. (2022). State/UT-wise, city/UDA-wise, component-wise and year-wise physical and financial progress under PMAY-U.
- Ministry of Housing and Urban Affairs. (2024). Pradhan Mantri Awas Yojana-Urban 2.0: Scheme information and guidelines. Government of India.

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

'वेलकम' (Welcome)

डॉ. दीप्ति सुधीरकुमार देशपांडे
आसि. प्रोफ़ेसर,
शेठ श्री गिरधरलाल डी.एल.एड. कालेज, दाहोद
मो. नं. 9429292766

'स्वागत करना' को अंग्रेजी में कहते है, 'वेलकम'। इस शब्द का उपयोग काफी आदरपूर्वक किया जाता है। 'वेलकम' शब्द सुनते ही अंतर्मन प्रफुल्लित हो उठता है। परिचित हो या अपरिचित, स्वागत करने हेतु अभिवादन के लिए अंग्रेजी शब्द 'वेलकम' काफी प्रभावी रहा है। हमारे देश की संस्कृति का यह एक अजोड हिस्सा है। यह एक शब्द सुनकर बिगडे तेवर भी सुधर सकते है। छोटे-बड़े घर परिवार से लेकर सामाजिक मेल-मिलाप में भी यह एक शब्द का काफी इस्तेमाल होता है। ऐसे कई शब्द भारतीय संस्कृति में सीधे-सीधे ही आ चुके है। यहाँ जब 'वेलकम' शब्द को लेकर बात हो रही है तब सिर्फ और सिर्फ स्वागत ही नजर आता है। आपसी भाईचारा एवं तालमेल हमारी संस्कृति में कूट-कूट कर भरा हुआ है।

कुछ साल पहले लोगों का एक-दूसरे के घर आना-जाना, मेल-मिलाप आम बात थी, पर आज के इस नये युग में तौर-तरीकों में काफी बदलाव आया है। आज भी लोग त्यौहार मनाते है, जन्मदिन भी, एवं छोटे-बड़े सभी उत्सव बड़े ठाठ-बाठ से मनाते है। लेकिन यहाँ भी ज्यादातर घर से दूर किसी जानी-मानी जगहों पर। मेहमानों का स्वागत काफी आदरपूर्वक किया जाता है। यजमान अगर धनिक वर्ग से हो तो स्वागत का तरीका भी कुछ अलग ही होगा, जैसे कि फूल, चॉकलेट से आव-भगत करना। यह 'वेलकम' शब्द यदि पायदान पर लिखा हो तो कैसा? अच्छा या नहीं? कुछ लोग कहेंगे ठीक है पर उनका दिल भी कहीं न कहीं मानने से इनकार जरुर करेगा। वैसे 'वेलकम' शब्द पर इतनी व्याख्या क्यूँ? तो हुआ कुछ ऐसा कि घर के एक बुजुर्ग की ब्लड टेस्ट रिपोर्ट एक डॉक्टर को दिखाने का कार्य मेरे जिम्मे आया।

डॉक्टर के पास यूँ ही शायद ही कोई गया होगा, जाता है तो तंदुरुस्ती से जुड़ी किसी समस्या को लेकर ही। शहर छोटा हो या बड़ा, कुछ दो-पाँच मशहूर डॉक्टर का होना नॉर्मल बात है। जिस ब्लड रिपोर्ट दिखाने की बात यहाँ हो रही थी वह भी हमारे शहर के एक ख्यातनाम डॉक्टर में से एक थे। शाम का वक्त था फिर भी उस दिन ज्यादा पेशेंट नहीं थे। गिनती के कुछ पाँच या छह होंगे, उसमें भी मेरी जानकारी के मुताबिक आधे तो रिपोर्ट दिखाने हेतु ही खड़े थे। एक-दो कुर्सी पर बैठे थे, कुछ अपने मोबाइल में व्यस्त थे। कुछ ही देर में डॉक्टर अपने कन्सलटिंग कक्ष में आये। उनके आते ही सभी व्यक्ति सतर्क हो गये। बेल बजते ही पहला व्यक्ति परामर्श कक्ष में पहुँचा। कुछ ही क्षण में डॉक्टर बाहर आये और फटाफट सीढ़ी उतर कर अपनी गाड़ी लेकर वहाँ से निकल गये।

फिर भी सभी व्यक्ति ज्यों के त्यों अपने स्थान पर जमे हुए थे। माहौल देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता था कि बात गंभीर नहीं थी। डॉक्टर आये और कुछ ही क्षण में चले भी गये। अब मुझे वहाँ कितना समय रुकना पड़ेगा वह तय नहीं था। प्रतीक्षा कक्ष की खाली दीवारें जिस पर सिर्फ एक कैलेंडर लटका हुआ था। अचानक ही मेरी नज़र परामर्श कक्ष के बाहर रखे हुए पायदान पर गई। नज़र जाने के पश्चात मेरा मन द्रवित हो उठा। 'वेलकम', हाँ यही शब्द उस कन्सलटिंग कक्ष के

बाहर रखे पायदान पर दिखा। मुझे तकलीफ इस बात की हुई कि अपनी बीमारी की जाँच करने हेतु हम डॉक्टर के पास जाते है और वहाँ पायदान पर 'स्वागत' का भाव दर्शाया हो तो अच्छा है, पर अगर रिपोर्ट में ज्यादा दुःख की बात हो तो यह बात कुछ हजम नहीं होती।

ऐसा लगता है जैसे अपनी बीमारी की जानकारी हमें वेलकम करते हुए डॉक्टर साहब सुनाते है। आज तक जितने भी बीमार व्यक्ति यहाँ आये होंगे, ज्यादातर सभी ने इस वेलकम को तो पढ़ा ही होगा। किसी वृद्ध व्यक्ति के लाइलाज बीमारी की खबर यहाँ से मिली होगी, भले ही उसने काफी उम्र काट दी हो फिर भी परिवार को काफी दुःख हुआ होगा। डॉक्टर के पास तो हर उम्र का व्यक्ति अपने इलाज के लिए आया करता है। तो किसी छोटी उम्र के बीमार पर लाइलाज बीमारी की मुहर लग जाए, तब इस 'वेलकम' को देखकर उसके दिल में क्या भाव आये होंगे यह तो जिस पर बीती है वही महसूस कर पाएगा।

यहाँ जिस डॉक्टर की बात चल रही है वे खुद काफी सुलझे हुए और सामाजिक व्यक्ति है। अच्छी बड़ी जगह से रिटायर भी हुए है। मेरे ख्याल से यह तो नामुमकिन है कि उनकी भावना ही मर चुकी होगी। हाँ यह जरुर हुआ होगा कि उन्होंने इस बात पर गौर ही न किया हो या फिर नज़रअंदाज़ कर दिया हो। बीमारी चाहे कोई भी हो डॉक्टर अपनी पूरी ताकत लगाते है। बीमार को फिर से स्वस्थ करने के लिए हर मुमकिन प्रयास जारी रखते है। समाज का सबसे बड़ा ज़िम्मेदार व्यक्ति 'वेलकम' लिखा हुआ पायदान कैसे रख सकता है? वैसे तो सुना है कि डॉक्टर अपने करीबी व्यक्ति का ऑपरेशन नहीं करते क्यूंकि डॉक्टर है तो एक सामाजिक प्राणी ही न! मेरी समझ में यह नहीं आया कि उस पायदान पर उनकी नज़र कभी गई होगी या नहीं। अगर गई है तो, जैसे मेरा हृदय द्रवित हो उठा वैसे ही... खैर फिलहाल तो मैंने घड़ी की ओर नज़र की तो करीब आधा घंटा हो चुका था यूँ ही एक ही पोजीशन में खड़े-खड़े। अस्पताल में इस 'वेलकम' शब्द को लेकर मन में सवालों की बौछार उमड़ रही थी। अब कुछ देर रुककर मेरा नंबर भी आ ही गया जिस काम के लिए मुझे वहाँ जाना पड़ा था, जिस रिपोर्ट को लेकर मेरे मन में भी कई विचार उमड़ रहे थे। आखिरकार रिपोर्ट नॉर्मल आया। तब उसी पायदान पर पाँव रखते हुए मुझे वहाँ से निकलना पड़ा।

अभी तक तो मेरे विचार चल रहे थे कि पायदान पर 'वेलकम' लिखना ही गलत है और उससे भी ज्यादा शर्मनाक बात यह थी कि वो गलत जगह पर रखा हुआ था। रोज़-बरोज़ हमारे जीवन में ऐसी कई घटनाएँ घटित होती है जो है तो अहम पर हम उस पर ज़ूयादा गौर नहीं करते। मान लो किसी घर में बेटी की शादी हो, तब लड़की वालों को सूट करे वैसा गाना न बजाकर कुछ और बजा दें जैसे 'आज मेरे यार की शादी है'। दूसरी ओर मान लो विदाई के वक्त 'बाबुल की दुआएं लेती जा' गाना बजे तो कैसा लगे? इस छोटे से उदाहरण के द्वारा आप समझ ही गये होंगे कि मुझे 'वेलकम' शब्द से एतराज नहीं है, बस एतराज है तो उस जगह से जहाँ पर वो रखा गया था।

''प्रस्तुत लेख 'वेलकम' दैनिक जीवन की एक छोटी सी दिखने वाली घटना के माध्यम से समाज और विशेषकर चिकित्सा जगत की संवेदनशीलता (Sensitivity) पर सवाल उठाता है। एक शिक्षक होने के नाते, मेरा मानना है कि हमारे शब्द और व्यवहार स्थान के अनुरूप होने चाहिए। यह लेख 'शब्दों के औचित्य' और 'मानवीय मनोविज्ञान' के अंतर्संबंधों को रेखांकित करने का एक प्रयास है।''

''अक्सर हम निर्जीव वस्तुओं और औपचारिक शब्दों के पीछे छिपी मानवीय संवेदनाओं को नज़रअंदाज़ कर देते हैं। अस्पताल के पायदान पर लिखा एक छोटा सा शब्द 'वेलकम' कैसे किसी पीड़ित के लिए विरोधाभास बन सकता है, यह लेख उसी सूक्ष्म दृष्टि का परिणाम है।''

संदर्भ सूची

1 सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', आत्मनेपद (भारतीय ज्ञानपीठ) नई दिल्ली, पृष्ठ 45

2 आचार्य क्षेमेंद्र ('औचित्य विचार चर्चा'), चौखम्बा विद्याभवन - वाराणसी, पृष्ठ 70-80

3 प्रेमचंद, मानसरोवर (खण्ड-3), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 205-215

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

Psychological Well-being and Happiness Among Adolescents of Working and Non-working Mothers

Monika Sahai
Associate Professor and Head
Department of Psychology
S. N. Sen B. V. P. G. College, Kanpur, Uttar Pradesh, India

Abstract

Adolescence is a crucial developmental period characterized by substantial biological, cognitive, emotional and social changes. During this period, psychological well-being and happiness become important indicators of positive development and adaptive functioning. At the same time, changing family structures and the increasing participation of women in paid employment have generated considerable interest in the relationship between maternal employment and adolescent development. The present review examines psychological well-being and happiness among adolescents of working and non-working mothers from Indian and international perspectives. The review focuses on the ways in which maternal employment may influence adolescents through family income, maternal psychological well-being, role modelling, parent–adolescent interaction, work–family conflict, parenting practices and social support. The literature indicates that maternal employment does not have a uniformly positive or negative effect on adolescent psychological outcomes. Some studies report advantages associated with maternal employment, including greater economic resources, independence, social exposure and positive role modelling, whereas other studies emphasize possible difficulties related to occupational stress, reduced parental availability and work–family conflict. Several studies have found no significant differences between children or adolescents of working and non-working mothers on selected psychological outcomes, suggesting that employment status alone is insufficient to explain adolescent well-being. The paper concludes that both working and non-working mothers can provide environments conducive to happiness and psychological well-being when adolescents experience warmth, security, communication, support and opportunities for autonomy.

Keywords: adolescence, psychological well-being, happiness, working mothers, non-working mothers, maternal employment, family environment, positive development

Introduction

Adolescence represents a significant transition from childhood to adulthood. It is accompanied by rapid physical maturation, increasing cognitive sophistication, changing emotional experiences and

the gradual development of independence. Adolescents begin to establish their identities, develop personal values, evaluate their relationships and formulate expectations about their future. These developmental changes make adolescence both a period of opportunity and a period of vulnerability.

Psychological well-being and happiness are particularly important during this stage. Psychological well-being refers to positive psychological functioning rather than simply the absence of psychological symptoms. Ryff's model conceptualizes psychological well-being through dimensions including self-acceptance, positive relations with others, autonomy, environmental mastery, purpose in life and personal growth. These dimensions are highly relevant to adolescence because young people are developing their identities, becoming increasingly autonomous and beginning to establish long-term educational and occupational goals.

Happiness, generally considered within the broader framework of subjective well-being, includes positive emotional experiences and satisfaction with one's life. Diener emphasized that subjective well-being includes both affective and cognitive evaluations of life. In adolescence, happiness may be influenced by relationships with parents and peers, academic experiences, self-esteem, socioeconomic conditions and opportunities for personal choice.

Women's employment has important consequences for family life. Employment can enhance financial security and provide mothers with personal identity, social recognition, occupational satisfaction and greater autonomy. It may also expose adolescents to positive models of achievement and gender equality. At the same time, demanding occupations may create stress and reduce the amount of time available for family interaction.

Consequently, the question of whether adolescents of working mothers experience greater or lesser psychological well-being than adolescents of non-working mothers cannot be answered simply by comparing employment categories. Maternal employment occurs within a wider social and family context. The nature of employment, number of working hours, occupational stress, family support, childcare arrangements, socioeconomic status and the quality of mother–adolescent communication may all influence outcomes.

The present review therefore examines the available literature concerning happiness and psychological well-being among adolescents of working and non-working mothers and attempts to develop a contextual understanding of maternal employment.

Conceptualizing Psychological Well-Being

Psychological well-being represents positive functioning and the realization of psychological potential. Ryff's multidimensional model identifies six components: self-acceptance, positive relations with others, autonomy, environmental mastery, purpose in life and personal growth.

For adolescents, self-acceptance involves developing a relatively positive and realistic view of oneself. Positive relationships involve the ability to establish trusting and meaningful relationships with family members and peers. Autonomy concerns the development of independent thought and decision-making. Environmental mastery reflects the ability to manage developmental and environmental demands. Purpose in life involves having meaningful goals, while personal growth reflects continued development and openness to new experiences.

The family can contribute to each of these dimensions. Supportive parents may facilitate self-

confidence and autonomy, while harmonious parent–adolescent relationships may strengthen emotional security and interpersonal competence.

Understanding Happiness in Adolescence

Happiness is a multidimensional psychological experience rather than simply a momentary positive emotion. It may involve frequent positive affect, relatively low negative affect and satisfaction with life.

During adolescence, happiness can be influenced by the quality of family relationships, friendships, academic achievement, physical self-perceptions and expectations about the future. Family support may be especially important when adolescents face academic pressure, identity-related concerns and changing peer relationships.

From a positive psychology perspective, happiness should therefore be understood within the broader context of positive functioning, relationships, meaning and personal development.

Maternal Employment and Changing Family Roles

The participation of women in paid employment has increased substantially across many societies. In India, women are increasingly involved in education, professional occupations, government employment, business and other forms of paid work.

Maternal employment can influence families through several pathways. First, employment may increase household income and improve access to educational and developmental resources. Second, employment may contribute to mothers' self-esteem and psychological well-being. Third, employed mothers may serve as important role models demonstrating independence, competence and achievement.

However, employment can also create challenges. Long working hours, commuting, occupational demands and work-related stress may reduce the mother's emotional and physical availability. Work–family conflict may consequently affect family interactions.

It is therefore important to distinguish maternal employment from maternal availability and parenting quality. A mother may work outside the home and still maintain a close, supportive relationship with her adolescent. Conversely, a non-working mother may not necessarily have a warm or supportive relationship with her child.

Theoretical Perspectives

Ecological Perspective

Bronfenbrenner's ecological systems theory provides a useful framework for understanding the relationship between maternal employment and adolescent development. The adolescent develops within several interconnected systems, including the family, school, peer group, community and broader socioeconomic environment.

Maternal employment may depend on interactions among the mother's workplace, family, school and community.

For example, a mother working in a supportive organization with flexible hours may experience

employment differently from a mother working long hours under stressful conditions. Similarly, adolescents living in extended families may have different experiences from adolescents living in nuclear families.

Attachment Perspective

Attachment theory emphasizes the importance of emotional security and responsive caregiving. From this perspective, the psychological significance of maternal employment depends partly on whether adolescents continue to experience their mothers as emotionally available and responsive.

Physical presence is therefore not necessarily equivalent to emotional availability. A working mother who maintains consistent communication, warmth and responsiveness may provide a secure relational environment.

Self-Determination Perspective

Self-Determination Theory emphasizes autonomy, competence and relatedness as fundamental psychological needs. Maternal employment may influence these needs indirectly.

For example, an employed mother may provide adolescents with opportunities to develop independence and responsibility. At the same time, excessive parental stress or inadequate emotional interaction could interfere with adolescents' need for relatedness.

Positive Psychology Perspective

Positive psychology shifts attention from psychological problems to strengths, positive emotions, meaningful relationships, engagement and flourishing. From this perspective, the central question is not whether a mother works but whether adolescents experience conditions that enable them to flourish.

Maternal employment may therefore be understood as one contextual factor among many that can contribute to or constrain positive development.

Review of Indian Literature

Indian research concerning maternal employment and children's psychological development has produced mixed findings.

Paul (2020) examined psychological well-being among adolescents with working and non-working mothers. The study reported differences in several dimensions of psychological well-being, including satisfaction, efficiency, sociability and mental health, while interpersonal relationships did not differ significantly. These findings suggest that maternal employment may be associated with some aspects of adolescent psychological functioning but does not necessarily affect all dimensions in the same way.

Majumdar, Jasmine and Sandhya (2021) investigated anxiety-related emotional disorders among children of working and non-working mothers. Their findings indicated no significant difference in anxiety between the two groups. This finding is important because it challenges the assumption that maternal employment necessarily produces emotional difficulties.

Choudhury (2022) examined adjustment among children of working and non-working mothers. The study contributes to the broader literature indicating that adjustment is influenced by the interaction of family circumstances and individual characteristics rather than maternal employment alone.

Sharma and Devi (2025) compared adjustment, self-esteem and life satisfaction among children of working and non-working mothers. Their findings indicated significant differences in some dimensions

of adjustment and self-esteem but no significant difference in life satisfaction. This finding is particularly relevant to the present review because life satisfaction constitutes an important component of subjective well-being.

Vikram, Desai and Vanneman (2018) used data from the India Human Development Survey to examine maternal work patterns and children's cognitive achievement. Their findings showed that the association between maternal employment and children's outcomes differed according to the nature of employment and maternal education. Their work demonstrates that maternal employment should not be conceptualized as a single homogeneous experience.

The Indian literature therefore presents a complex picture. Some studies identify differences between children of working and non-working mothers, whereas others find no significant differences in specific psychological outcomes.

International Perspectives

International research has similarly produced mixed conclusions concerning maternal employment and child development. Some research suggests that maternal employment can benefit children through increased household resources, maternal psychological well-being and positive role modelling. Other

research has emphasized the potential influence of work–family conflict and reduced parental time.

Research on working mothers has also highlighted the importance of childcare quality and the division of domestic responsibilities. Where childcare and family responsibilities are adequately supported, maternal employment may have fewer negative consequences for children.

Another important issue is maternal psychological well-being. Employment that provides satisfaction and autonomy may have positive indirect effects on adolescents because mothers may experience greater self-esteem and life satisfaction. Conversely, employment characterized by high stress and low control may negatively affect family interactions.

International research therefore increasingly emphasizes work characteristics, parenting quality and family processes rather than maternal employment status alone.

Maternal Employment as a Source of Positive Role Modelling

One potentially positive influence of maternal employment is role modelling. Adolescents observe their parents' behaviour and may develop beliefs about gender roles, work, responsibility and achievement.

Working mothers can demonstrate independence, persistence, professional competence and responsibility. For adolescent girls in particular, an employed mother may provide a model of female occupational participation and achievement.

For adolescent boys, maternal employment may also contribute to more flexible beliefs concerning gender roles and household responsibilities.

Thus, maternal employment may contribute to adolescents' psychological development through social learning even when it reduces the amount of time available for direct interaction.

Economic Resources and Psychological Well-Being

Economic circumstances are closely related to family well-being. Employment may increase household income and enable parents to provide better educational opportunities, healthcare, recreational activities and other resources.

Economic security can reduce family stress and create conditions conducive to adolescent well-being. However, income alone does not guarantee happiness. Adolescents require emotional support and meaningful family relationships in addition to material resources.

Consequently, the potential economic benefits of maternal employment should be considered alongside the emotional and relational dimensions of family life.

Work–Family Conflict and Adolescents

One of the major concerns associated with maternal employment is work–family conflict. When occupational responsibilities compete with family responsibilities, mothers may experience stress, fatigue and guilt.

Adolescents may perceive these pressures and may experience reduced opportunities for communication. However, the impact depends heavily on the mother's working conditions and the availability of family support.

Extended family members, fathers, grandparents and other caregivers can play important roles in supporting adolescents when mothers have demanding work schedules.

Thus, the psychological consequences of maternal employment may be reduced when family responsibilities are distributed cooperatively.

Quality of Parenting Versus Quantity of Time

An important theme emerging from the literature is the distinction between the quantity and quality of parental interaction.

A non-working mother may have greater physical availability but may not necessarily provide emotional support or positive communication. Conversely, a working mother may have less time at home but may maintain highly meaningful interactions with her adolescent.

Therefore, the quality of communication, warmth, responsiveness and emotional availability may be more important than the number of hours spent together.

Happiness and Psychological Well-Being: Their Relationship

Happiness and psychological well-being are related but conceptually distinct. Happiness emphasizes positive emotional experience and satisfaction, whereas psychological well-being focuses more broadly on positive functioning and personal development.

An adolescent may experience happiness because of positive social relationships or pleasurable experiences while simultaneously experiencing difficulties in autonomy or purpose. Conversely, an adolescent may experience temporary stress while still demonstrating strong psychological well-being because of meaningful goals, supportive relationships and a sense of competence.

The relationship between the two constructs is nevertheless expected to be positive. Adolescents who experience supportive relationships, personal growth, autonomy and purpose are likely to report greater life satisfaction and positive affect.

The reviewed literature indicates that maternal employment should not be treated as a simple binary variable. Several additional characteristics are important.

Discussion

The reviewed evidence suggests that the relationship between maternal employment and adolescent happiness and psychological well-being is multidimensional.

Maternal employment may have positive pathways through increased financial resources, maternal self-esteem, social participation, occupational satisfaction, positive role modelling and opportunities for adolescents to develop independence.

At the same time, there may be negative pathways through work–family conflict, occupational stress, fatigue and reduced opportunities for communication.

There may also be neutral pathways, in which maternal employment has little direct effect because strong family relationships, supportive fathers, grandparents or other social resources compensate for reduced maternal availability.

Implications for Parents and Families

Parents should avoid interpreting employment status as the primary determinant of adolescent well-being. Instead, attention should be directed toward maintaining emotional warmth, open communication and mutual respect.

Working mothers may benefit from establishing predictable periods of meaningful interaction with adolescents. Non-working mothers can similarly encourage adolescents' autonomy and independence while maintaining supportive relationships.

Fathers and other family members should participate actively in caregiving and emotional support. A shared distribution of family responsibilities can reduce the pressure experienced by mothers and create a more supportive environment for adolescents.

Implications for Schools and Counsellors

Parent-education programmes can emphasize positive communication, emotional availability, adolescent autonomy and constructive conflict resolution.

Implications for Organizations and Policy

Organizations can indirectly contribute to adolescent psychological well-being by supporting working parents. Flexible working arrangements, reasonable working hours, family leave and supportive workplace cultures may reduce work–family conflict.

Conclusion

The review of Indian and international literature indicates that maternal employment has a complex and context-dependent relationship with adolescent happiness and psychological well-being. The available evidence does not support the simplistic conclusion that adolescents of working mothers are either psychologically better or worse off than adolescents of non-working mothers.

Maternal employment may provide important advantages, including economic security, personal fulfilment, social participation and positive role modelling. At the same time, occupational stress and

work–family conflict may create challenges for family interaction. The ultimate influence on adolescents appears to depend substantially on the quality of parenting, emotional availability, family support, socioeconomic circumstances and characteristics of maternal employment.

The distinction between employment status and parenting quality is therefore central. A working mother can maintain a highly supportive relationship with her adolescent, while a non-working mother may also experience difficulties in family relationships. What appears most important is whether adolescents experience warmth, acceptance, communication, security, autonomy and meaningful relationships.

From the perspective of positive psychology, the goal should not be to determine whether working or non-working motherhood is superior. Rather, attention should be directed toward creating family and social conditions in which adolescents can flourish regardless of their mother's employment status.

References

Bronfenbrenner, U. (1979). The ecology of human development. Harvard University Press. Diener, E. (1984). Subjective well-being. Psychological Bulletin, 95(3), 542–575.

Diener, E., Oishi, S., & Lucas, R. E. (2003). Personality, culture, and subjective well-being: Emotional and cognitive evaluations of life. Annual Review of Psychology, 54, 403–425.

Majumdar, S., Jasmine, E., & Sandhya, S. (2021). Anxiety related emotional disorders among children of working and non-working mothers. International Journal of Indian Psychology, 9(4).

Paul, R. K. I. (2020). Psychological well-being among adolescents with working and non-working mothers. International Journal of Indian Psychology, 8(2), 1379–1384.

Ryff, C. D. (1989). Happiness is everything, or is it? Explorations on the meaning of psychological well-being. Journal of Personality and Social Psychology, 57(6), 1069–1081.

Ryff, C. D., & Keyes, C. L. M. (1995). The structure of psychological well-being revisited. Journal of Personality and Social Psychology, 69(4), 719–727.

Sharma, M., & Devi, R. (2025). Adjustment, self-esteem and life satisfaction of children of working and non-working mothers: A comparative study. Journal of Psychosocial Wellbeing, 6(1), 18–27.

Vikram, K., Desai, S., & Vanneman, R. (2018). Mothers' work patterns and children's cognitive achievement: Evidence from the India Human Development Survey. Social Science Research, 72, 137–157.

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

विस्थापन और जनजातिय संघर्ष, जल-जंगल-जमीन एवं जनआक्रोश झारखण्ड के संदर्भ में

अनिल प्रदीप पन्ना
शोधार्थी, इतिहास विभाग
राँची विश्वविद्यालय, राँची

शोध सारांश :

जल, जमीन, जंगल हमारा है। यह पेड़ हमारा है, यह पहाड़ हमारा है, यह धरती हमारी है। आजादी के पहले आदिवासियों द्वारा ब्रिटिश लोगों के खिलाफ इस प्रकार के नारे लगाए गए थे। हालाकि अब ब्रिटिश शासक जा चुके हैं लेकिन स्थिति अब भी वैसी ही है। अपने दमन के खिलाफ आदिवासियों को आज दूसरी आजादी की लड़ाई लड़ने और अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करने की जरूरत आ पड़ी है।

आदिवासी लोग जंगलों में युगों से रहते आए हैं और जंगल के उत्पादों से ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इधर पारिस्थितिकी विज्ञान के तहत जंगली जानवरों की वचाने के नाम पर बिभिन्न तरह की योजनाएँ, जैसे राष्ट्रीय पार्क, वन्यजीव अभयारण्य आदि स्थापित किए गए हैं। इन सबके कारण आदिवासियों को अपनी भूमि से विस्थापित होना पड़ा है। आदिवासियों को पैसे व शराब का लालच देकर या कभी-कमी जबरन उनकी भूमि से बेदखल कर दिया जाता है। शिकार करना, मछली पकड़ना और वनोत्पाद इकट्ठा करना, आदिवासियों का परम्परागत व्यवसाय रहा है। अर्थात् जनजातियों के उनके लिए जमीन का एक टुकड़ा भर ही नहीं होता है। भूमि के साथ उनकी भावनायें जुड़ी होती हैं। आदिवासियों के लिए उनकी पारंपरिक जमीन प्रतीकात्मक और भावनात्मक मायने रखती है। उनके पूर्वजों को उनकी अपनी ही जमीन में दफनाया जाता है। किल्ली की शुरुआत भी उसी जमीन से माना जाता है और अन्य पवित्र विशेषता भी जुड़ी होती है। जमीन के संबंध में आदिवासियों की अवधारणा को बाहरी लोग समझ नहीं पाते। भूमि का स्वामित्व सामूहिक होता है। किसी आदिवासी को यह अधिकार नहीं है कि जमीन को स्थायी रूप से समुदाय से अलग कर सके। आदिवासी ही जमीन के न्यासधारी होते हैं। इनमें जीवित आदिवासी ही नहीं होते बल्कि उनके पूर्वज और आनेवाली पीढ़ियों का अधिकार होता है। इसी वजह से आदिवासियो की जमीन और खून सजातीय होता है। उनका समाज, संस्कृति, धर्म, पहचान यहां तक कि उनका अस्तित्व भी उनी जमीन से जुड़ा होता है, जिसके वे मालिक हैं। उन्हें उस जमीन से अलग करना ठीक उसी तरह चीर कर अलग करना होता है जो उनका जीवनदायक स्रोत है। आंतरिक उपनिवेशवाद आदिवासियों के साथ यही कर रहा है।

18वीं सदी तक भारत की भूमि, भूमि संबंधी और वन के दस्तावेज में यह देखने को मिलता है कि 80 फीसदी प्राकृतिक संपदा सामूहिक थी, केवल 20 फीसदी जमीन का निजीरूप से उपयोग किया जाता था। भारत के देहाती क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासी उसी सामूहिक संपदा का उपयोग अपनी जीविका के लिए करते थे। सामुदायिक स्रोतों के निजीकरण की प्रक्रिया अंग्रेजों के समय 1985 में आरंभ हो गयी थी। उसके बाद भारी संख्या में सामुदायिक संपत्ति जमीन में स्थायी सेटलमेंट करा

दिया जाने लगा। बहुत से क्षेत्रों को रिजर्व फॉरेस्ट', 'प्रोटेक्टेड फॉरेस्ट' और रेवेन्यू लैंड घोषित कर दिया गया और राज्य की संपत्ति बना दी गयी। फलस्वरूप आदिवासी अपने पंरपरागत तरीके यहां-वहां खेती करने के अधिकार से वंचित कर दिये गये, दानापानी बुनना-बटोरना जो वे सामुदायिक संपति में करते थे, यह अधिकार भी जाता रहा। आदिवासियों में जो प्रथा थी, भूमि का सामुदायिक मलिकाना का जो प्रचलन था उसे भी खत्म किया जाने लगा। अंग्रेजों ने जमीन के निजीकरण को बढ़ावा दिया। इसी से प्रोत्साहित हो कर इस क्षेत्र में दिकुयों की प्रवेश बाढ़ की तरह होने लगा। जमींदार, ठीकेदार, सूदखोर आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल करना शुरू कर दिए। अगर हम ओलाचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करें तो वननीति और भारत में जो प्रचलन या, वह यह दर्शाता है कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद और उसके बाद वननीति में राज्य का वनों में एकाधिकार बड़ता गया है, वह भी आदिवासियों को दांव में लगा कर। 1894 और 1952 की वननीति ने इसे देश के हित में जायज बताया था।

विशिष्ट शब्द - परिस्थितिकी, खिलाफ, योजनाएं, धरोहर, राष्ट्रीय, पार्क

विश्लेषण

आदिवासी समाज अपने द्वारा आबाद इस धरोहर को अपना परंपरागत अधिकार मानता है, अपनी खूंटकट्टी आधिकार मानता है। अपने गांव में अपना श्वासान व्यवस्था के तहत जमीन - जंगल को समुदाय का सामुदायिक धरोहर माना है। जिसका कोई लगान या टैक्स भुगतान नहीं किया जाता था। जब लैण्ड सेटेलमेन्ट की व्यवस्था अंग्रेजी हुकूमत आदिवासी समुदाय के सामूहिक व्यवस्था पर टैक्स थोपना शुरू किया तब आदिवासी समाज ने इसका तीखा विरोध किया। विद्रोह का आग संताल परगना में 1888-90 में पहाडिया विद्रोह से सुलग कर पूरे संताल परगना, मुण्डा दिसुम से लेकर कोल्हान की धरती तक विद्रोह का आग धधक उठा। 1798 में चोवाड विद्रोह, 1800 में चेरो विद्रोह, 1820-21 में हो विद्रोह, 1831-33 में कोल निदोह, 1885-1900 में बिरसा उलगुलान ने संघर्ष दर संघर्ष का इतिहास रचा।

सर्वप्रथम मुगल शासन काल में भूमि सम्बन्धी आदिवासियों की पारम्परिक व्यवस्था पर जबरन व्यक्तिवादी सम्पत्ति की अवधारणा स्थापित करने की कार्रवाई की गई। पहली बार जब 1616 ई. में जहाँगीर के शासनकाल में छोटानागपुर पर चढ़ाई कर यहाँ के राजा दुर्जन को बन्दी बनाया गया और उसकी रिहाई के बदले उस पर सालाना 6000 रु. कर निर्धारित किया गया तो इसी के साथ छोटानागपुर में कर-व्यवस्था की शुरुआत हो गई। आदिवासियों को उनकी व्यवस्था और अवधारणा के खिलाफ साधारण पट्टेदार बनाया गया तथा लगान की विदेशी प्रथा लागू की गई। अंग्रेजों ने एक के बाद एक भूमि सम्बन्धी कानून बनाए, जिसके परिणामस्वरूप आदिवासियों की भूमि से पारम्परिक अधिकार छिनने की प्रक्रिया शुरू हो गई। अंग्रेजों ने न सिर्फ प्रतिवर्ष लगान बढ़ाया बल्कि इसे निर्दयतापूर्वक वसूला भी, जिसे आदिवासियों ने सामंतवाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का नाम दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा झारखंड में भी अपने व्यापार के विस्तार की शुरुआत की गई और यहाँ के कच्चे माल के दोहन तथा लगान वसूली के जरिए अपार धनराशि अर्जित की गई, जिससे इंग्लैंड में उद्योगों का विकास बड़े पैमाने पर हुआ। अपने व्यापार के दूसरे चरण में यानि 19वीं सदी के प्रथमार्द्ध में भारतवर्ष का उपयोग ब्रिटेन में बनी हुई औद्योगिक वस्तुओ के लिए मुख्य बाजार के रूप में किया गया तथा 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में ब्रिटिश उद्योगपतियों द्वारा पूँजी विनियोग की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। इसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण भारत में श्रमिकों का वड़े पैमाने पर शोषण शुरू हुआ। पूँजी विनियोग के क्रम में झारखंड क्षेत्र से लाखों मजदूर असम के चाय बागानों, रबर मिलों और जूट के खेतों में ले जाए गए। एक रिपोर्ट के मुताबिक असम में झारखंड के आदिवासियों की संख्या 52 लाख से ऊपर है। अंग्रेजों ने जागीरदारों और जमींदारों को ही भूमि का असली मालिक माना और उन्हें ही लगान वसूली का मालिक बना दिया। इस क्रम में आदिवासियों की ढेर सारी जमीनें गलत तरीके से हथिया ली गई, जिसके फलस्वरूप आदिवात्ती भूमिहीन हो गए और जमीन से उनका अधिकार छिन गया। इन परिस्थितियों ने आदिवासी समाज को उद्वेलित कर दिया और उनके अन्दर आक्रोश उत्पन्न होने लगा, जिसकी परिर्णात समय-समय पर होने वाले आन्दोलनों के रूप में हुई। 19वीं सदी में हुआ कोल-विद्रोह चुआड़-विद्रोह, संथाल-हूल और

बिरसा मुंडा का उलगुलान आदि राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ-साथ एक सशक्त सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आन्दोलन भी थे, जो ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ झारखंड क्षेत्र में लड़े गए थे। इसी सामाजिक-सांस्कृतिक एवं आर्थिक अस्तित्व की लड़ाई ने बाद में अलग राज्य के राजनीतिक आन्दोलन का स्वरूप ग्रहण कर लिया, जिसकी शुरुआत 20वीं सदी के प्रारम्भिक काल से होती है। 1910 ई. से लेकर आजादी के पूर्व तक वृहद झारखंड (चार राज्यों के सामाजिक सांस्कृतिक सामान्य क्षेत्रों को मिलाकर) राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर आत्मनिर्णय के अधिकार की सशक्त लड़ाई जनांदोलन के रूप में लड़ी गई। हम इस आन्दोलन को झारखंड राज्य का स्वतंत्रता पूर्व का आन्दोलन कह सकते हैं। बाह्य उपनिवेशवादी ताकतों ने आदिवासी समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक और परम्परावादी व्यवस्था को तहस-नहस करने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी थी। फलस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन को आदिवासी आन्दोलनों का सामना करना पड़ा। हालाँकि ब्रिटिश शासकों को संथाल हूल, कोल विद्रोह, बिरसा मुंडा उलगुलान के तेवरों ने आदिवासियों को भूमि रक्षा और उनके सामाजिक-सांस्कृतिक सुरक्षा के लिए विल्किनसन रुल्स, संथाल परगना काश्तकारी अधिनियम तथा छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम जैसे कई प्रभावी कानून बनाने को मजबूर कर दिया था।

विकास से विस्थापन एक सुनियोजित रणनीति के तहत किया जा रहा है। विभिन्न तरह की विकास की योजनाएं जैसे बड़े संघ, मध्यम बांध, छोटे बांध, विभिन्न खनिजों के लिए खनन, थर्मल पावर प्लांट, उद्योग, रेलवे, सड़क, बंदरगाह, राष्ट्रीय पाक्र, सुंचरी, आश्रयणी, सेना की स्थायी छावनी, सेना के लिए रूटीन फायरिंग अभ्यास के लिए अस्थायी और स्थायी स्थान, सरकारी कार्यालयों के लिए भवनों व इमारतों व अन्य छोटी छोटी और बड़ी विकास की योजनाओं से विस्थापन योजनाबद्ध तरीके से किया जाता रहा है। इन विकास की योजनाओं के लिए दुर्भाग्य से सुदूर ग्रामीण अंचलों व जंगल क्षेत्रों का चयन किया जाता रहा है। विकास की योजनाओं के लिए इन इलाकों की भूमि का ही अधिग्रहण किया जाता रहा है। संयोग से और दुर्भाग्य से इन तमाम इलाकों की भूमि पर आदिवासी व अन्य निर्भर जातियों का निवास होता है और उनकी आजीविका और फिर इन्हीं भूमि और प्राकृतिक संसाधनों जंगलों पर निर्भर होती है। नीति निर्धारकों के द्वारा अथवा अभिजात्य विद्वानजन के द्वारा प्राकृतिक विपदा से अपने विस्थापन और विकास योजनाओं से पैदा हुई विस्थापन की समस्या का तुलनात्मक अध्ययन या विचार करना पसंद नहीं करते हैं। जबकि प्राकृतिक विपदा मानव के द्वारा नियंत्रित की भी जा सकती है और नहीं भी की जा सकती है। वैसे यह नियंत्रण का मामला है। लेकिन विकास से हुए विस्थापन की समस्या विशुद्ध तौर पर ''मानव सृजित'' प्रवशति है। दोनों ही परिस्थितियों में प्रभावितों के पहचान का सवाल जुड़ा है जो पीढ़ी दर पीढ़ी उन्हें भुगतना पड़ता है। बुनियादी अन्तर केवल इतना है कि विकास योजना अग्रिम तौर पर तैयार और योजनाबद्ध होती है जिसे न्यूनतम किया जा सकता है। अगर इच्छाशक्ति हो तो उसे कमतर कर उचित पुनर्वास किया जा सकता है। लेकिन ऐसा नहीं किया जाता रहा है। सरकारी मशीनरी यह कोशिश करता है कि अधिक से अधिक भूमि का अधिग्रहण हो जाए और जमीन उनके नियंत्रण में रहे। इससे विस्थापन के कम होने और विस्थापितों की संख्या की कम होने की संभावना समाप्त हो जाती है। अब तक के तमाम उदाहरणों से तमाम मेगा परियोजनाओं के लिए विभिन्न सरकारों ने जरूरत से तीन या चार गुना अधिक भूमि का अधिग्रहण किया है। बाद में जरूरत के मुताबिक कारखाना या बांध स्थापित करने के बाद अतिरिक्त रह गई भूमि को रैयतों को या असली भू स्वामियों को लौटाया नहीं जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। 1894 के भूमि अधिग्रहण अधिनियम के समाप्त होने के बावजूद और नए कानून 2013 के भूमि अधिग्रहण में पारदर्शिता, प्रतिक, भुगतान और पुनर्वास पुनर्स्थापन अधिनियम के एक जनवरी 2014 से लागू होने के बावजूद अनेक परियोजनाओं की अतिरिक्त भूमि को सरकार में लैंड बैंक बनाकर उसके अधीन करने का निर्णय लिया है।

संदर्भ

1. डॉ. प्रेमचन्द मुर्मू, 2014 लैन्ड रेभिन्यू प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-136-137

2. बेलमेना टोप्पो, 2013, 'विस्थापित जीन्दगियों का अर्थ, प्रथम संस्करण, प्रकाशन नवाकरण जनसंख्या, पृष्ठ संख्या- 78
3. ग्लैडसन डुंगडुंग एवं सजय कृष्ण, 2014, क्रॉसफायर, आदिवानी ट्यूलिप अपार्टमेन्ट 29ए, इसमाइल स्ट्रीट, 4जी फलोर, कोलकत्ता, पृष्ठ संख्या- 224-225
4. गोपीनाथ घोष, 2010 धरती को बचाने का संघर्ष, प्रथम संस्करण देशज प्रकाशन, उर्मिला इंक्वेलेव पीस रोड रांची पृष्ठ संख्या-114
5. विनोद कुमार, 2016, विकास की अवधारणा, अनुज्ञा बुक्स लेन नं.-1 बेस्ट गोरख पार्क शाहदरा, दिल्ली, पृष्ठ संख्या-48-49
6. वीर भारत तलवार, 2017, झारखण्ड आन्दोलन के दस्तावेज, खण्ड-1. सी-303, जनसत्ता आपर्टमेन्ट, सेक्टर-9 वसुंधरा, गाजियाबाद-201012, उत्तर प्रदेश, पृष्ठ संख्या-174
7. वासवी, 2003, ताबेन जोम, आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, एस.सी. एफ. 267, सेक्टर-16 पंचकूला, हरियाणा, पृष्ठ संख्या-54-55
8. ग्लैडसन डुगडुग, 2017, झारखण्ड में जमीन की जंग, द्वितीय संस्करण, आई. डी. पब्लिसिग, राची, झारखण्ड, पृष्ठ संख्या-83
9. अनिरुद्ध प्रसाद, 1999. झारखण्ड विकास (चुनौती एवं सम्भावनाएँ), इण्टर इण्डिया पब्लिकेशन्स, राजा गार्डन नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 107-108
10. डॉ. बी. वीरोतम, 2017. झारखण्ड इतिहास एवं सस्कृति, प्रकाशक बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, राजेन्द्र नगर पटना, पृष्ठ संख्या-113
11. अनुज कुमार सिन्हा, 2019, असली झारखण्ड, प्रभात प्रकाशन, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-108
12 सुनील मिंज, 2017, उजड़ता झारखण्ड, पश्थ्वी प्रकाशन, नई दिल्ली. पृष्ठ संख्या-34-35
13. सिन्हा सच्चिदानन्द, 2001, संस्कृति विमर्श, वाग्देवी प्रकाशन, विनायक शिखर पॉलिटेक्निक कॉलेज के पास, बीकानेर-334003, पृष्ठ संख्या-41-13
14. सिंह ए. के., और आर. शरण, एम. जायसवाल, स. चौधरी, 1999, स्टेटस ऑफ ट्राइबल्स इन झारखण्ड, सोशल चेन्ज भाग-29, संख्या-3 एवं संख्या-4
15. सिंह सुरेश, 2009, उलगुलान (बिरसा मुण्डा और उनका आंदोलन), आदिवासी प्रकाशन, राँची, पृष्ठ संख्या-34-35
16. सिन्हा अनुज कुमार, 2019, असली झारखण्ड, प्रभात प्रकाशन, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, 110002, पृष्ठ संख्या-108-109
17. सिंह डॉ. सुरेश कुमार, 2018 'जंगल, जमीन और विकास', द्वितीय संस्करण, विनय प्रकाशन, त्रिवेणी मार्केट, दिल्ली, पृष्ठ संख्या-69-71
18. हरिवंश, 2012, झारखण्ड समय और सवाल, प्रभात प्रकाशन, 4ध19, आसफ अली, रोड, नई दिल्ली-110002, पृष्ठ संख्या- 87-88

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

जनजातीय विस्थापन एवं समस्या : झारखण्ड राज्य के विशेष संदर्भ में

प्रेम रोशन एक्का
शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग
मधुपुर महाविद्यालय मधुपुर, देवघर।
ईमेलः iampremroshanekka@gmail.com

शोध सारांश :

भारत में विस्थापन की एक व्यापक विविधतापूर्ण पृष्ठभूमि रही है। अर्थात विस्थापन की समस्या जनजातीय समुदायों के पारस्परिक जीवन व्यवस्था को पूर्णरूपेण तहस-नहस कर बेदखल करने या जनजातीय सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक आधार पर प्राकृतिक अवस्था से उजाड़कर दूसरे स्थान पर बसाने को बाध्य करना होता है। पुष्टि होता है कि जनजातियों के परम्परागत बसाहट भूमि प्रक्षेत्र और संसाधनों का अतिक्रमण कर उन्हें बेदखल करना ही विस्थापन है। जनजातीय समाज अपने पूर्वजों के परम्परागत बसाहटो में ही निवास करना एवं वंश परम्परागत आधारित होता है। अर्थात जनजातियों को अपने मूल निवास स्थान से इच्छा विरोध एक स्थान से दूसरे स्थान में हस्तांतरित करना ही विस्थापन है। अर्थात् विस्थापन से झारखण्ड राज्य के जनजातीय समुदाय सर्वाधिक प्रभावित होता है। ब्रिटिश काल में ही झारखण्ड में टाटा स्टील सिटी की स्थापना सर्वप्रथम 1907 में किया, ग्रामीण सुदूर क्षेत्रों में जनजातीय समुदायों का बसाहट होती है, जनजातीय निवास स्थलों में जंगल होता है। नदियाँ होती है। उस भूमि के गर्भ में खनिज सम्पदा होती है। विस्थापन से मूलतः जनजातीय समुदाय अपने जन्मभूमि, कार्य भूमि से शमूल रूप से दूर कर दिये जाते रहे हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के नीति निर्धारण प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विकास के पश्चिमी मॉडल को स्वीकार किया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में तीव्र औद्योगीकरण पर जोर दिया गया। नेहरू द्वारा कारखानों को आधुनिक भारत का मन्दिर कहा गया। पूरे भारतवर्ष में विशेषकर जनजातीय क्षेत्रों में विशाल विकासात्मक प्रोजेक्ट बनाए गए। जिसमें कारखाने खान सम्मिलित थे। इस तथाकथित विकास के कारण जनजातीय लोग इसके शिकार तो हुए ही, वे विस्थापित भी हो गए।

1951 से 2000 के बीच 2185 लाख लोग विस्थापित हुए, जो 1911 की भारत की जनसंख्या के दो प्रतिशत के बराबर था। इनमें से अधिकांश जनजातीय थे. जो राष्ट्रीय जनसंख्या में आठ प्रतिशत का योगदान करते हैं। विस्थापित लोगों में 40 प्रतिशत से अधिक लोग जनजातीय ही थे। यह विडम्बना ही है कि राष्ट्रीय विकास और जनजातियों के हानि एक-दूसरा पर्याय बन चुके हैं।

विशिष्ट शब्द :- विस्थापन, जनजातीय, परम्परा, विडम्बना, भूमि, खनिज

तथ्य विश्लेषण :- झारखण्ड देश का 28वां राज्य है जिसके पाँच प्रमण्डल दक्षिणी छोटानागपुर, उत्तरी छोटानागपुर,

कोल्हान, पलामू एवं संथाल परगना है। वर्तमान में झारखण्ड प्रदेश अन्तर्गत 24 जिले हैं। झारखण्ड प्रदेश खनिज सम्पदा से भरा है। झारखण्ड का बहुत बड़ा भाग पठारों और जंगलों से घिरा है जहाँ अनेक सम्प्रदायों और जातियों के लोग अपनी सम्पूर्ण अस्मिता के साथ बसे हैं। झारखण्ड की धरती खनिजों एवं उद्योगों से भरा होने के कारण देश के विभिन्न क्षेत्रों से लोग आये। 20वीं सदी के शुरुआती दशकों में शुरु किया गया बहिष्कार आन्दोलन का प्रभाव ब्रिटिश काल से स्वतंत्र भारत में जनजातियों के द्वारा अपने आवाज बुलंद करते रहे हैं खासकर 1905 जब औद्योगिक कॉंग्रेसी ने 'स्वदेशी' का नारा दिया। प्रथम युद्ध के बाद ब्रिटिश औद्योगिक नीति में जो बदलाव आया, स्पष्ट किया गया कि युद्ध के बाद भारत यह लाजमी समझेगा कि वह उन सारी सुविधाओं को माँग करें जो उसे उत्पादक राष्ट्रों को कतार में खड़ा करने के लिए जरूरी है।'' 1919 में सरकार में एक अलग उद्योग विभाग की स्थापना के साथ इस सम्भावना की खोज की जाने लगी कि जनजातीय क्षेत्रों में औद्योगिक और खनन के विकास की सम्भावनाएँ क्या हैं। इन प्रयासों ने जनजातीय क्षेत्रों में औद्योगिक प्रक्रिया का प्रचलन शुरू किया गया, ब्रिटिश पूँजी के, संरक्षण में ही।

जनजातीय क्षेत्र में जिन उद्योगों पर विशेष बल दिया गया उसमें कोयला का खनन ज्यादा महत्वपूर्ण था कोयला रेलों को गतिशील रखने, बिजली उत्पादित करने तथा उच्च किस्म के मेटालाजिकल कोयला कई बुनियादी उद्योगों के लिए जरूरी था। 1901 में एक संयत्र विकास हुआ, कोयला के खनन का, पुराना तरीका ब्रिटिश सरकार की कोयला की जरूरतों की पूर्ति नहीं कर सकता था इस कारण प्रथम कोयला खनन कानून अमल में आया। इससे खनन को नियंत्रित ढंग पर लाया गया, लोगों की बहाली की गई और उनमें ज्यादातर अन्य राज्यों के जनता ही थी। बाहर के खनन को नियमित बनाने, ज्यादा निकासी आदि को सुनिश्चित करने के लिए काम के हालातों, क्षतिपूर्ति कानूनों, बेहतर मजदूरी आदि की गारंटी भी कराई गई। जनजातीय मजदूरों की स्थिति को थोड़ा बेहतर किया मगर अब भी यह संतोषप्रद नहीं था। 1920 के करीब, जब युद्धजनित आर्थिक मंदी ने खान मालिकों और मजदूरों को आमने-सामने खड़ा कर दिया तब मजदूरों की यूनियनें सामने आई, संघर्ष शुरु हुए और यह प्रक्रिया आगे बढ़ी। अब जनजातीय क्षेत्र के मजदूरों के संघर्ष ने सरकार को झुकाया और तत्कालीन कानून में सुधार किए गए- 1921 से 1935 कई अधिनियम् सामने आए।

जनजातीय बनाये गये क्षेत्रों में औद्योगीकरण उन्हीं जंगलों में तरजीह पाया जहाँ प्राकृतिक संसाधन मौजूद थे और इसमें लौह अयस्क एक प्रमुख खनिज था जिसका गलाकर विभिन्न तरह के उपयोग की वस्तुओं का निर्माण किया गया। ऐसे क्षेत्रों में छोटानागपुर और सिंहभूम का क्षेत्र प्रधान था। सिंहभूम में लौह अयस्क का क्षेत्र 30 मील का था जो गुवा से 3 मील दक्षिण-पश्चिम से शुरु होकर रथ और बर्नय के क्षेत्र जो निकटवर्ती उड़ीसा में थे, तक जाता था और अन्य क्षेत्र थे नोवामुण्डी, वासादरा, बुड़ाबुरू गुवा, हकोगुरा में लौह अयस्क को गलाने का जो स्थानीय तरीका था, जिसका उपयोग किया जाता था उसे अब बदल कर नये ढंग से गलाने का एक तरीका 1872 में ही डोनाल्डसन ने लाया। 1916-17 में डा. कैम्पबेल ने रिपोर्ट दिया था कि 20 वर्ष पहले तत्कालिक बिहार के क्षेत्र में लौह अयस्क को गलाने के कारखाने काफी फैले हुए थे जो मानभूम और हजारीबाग के जिलों में ज्यादा थे। ऐसे कारखानों में स्थानीय जनजातियों को काफी काम मिलता था और तैयार लोहा मुंगेर के बंदूक कारखानों में काफी खपत होता था। कलांतर में जंगलों में आई कमी के कारण तारकोल की कमी के साथ-साथ यह क्रम धीरे-धीरे बंद होता गया। स्पष्ट रूप से पुष्टि होता है कि ब्रिटिश भारत के मानचित्र में झारखण्ड राज्य में सन् 1907 में विस्थापन का प्रथम शिलान्यास किया गया।

भारत में विस्थापन की पहली नींव झाडखंड के जमशेदपुर से प्रारंभ होता है और वहा भी टाटा स्टील कंपनी ने ही स्टील फैक्टरी के नाम पर जनजातियों को विस्थापित किया और कपनी की स्थापना की। जमशेदजी नेशरवान जी दाटा ने टाटा स्टील कारखाना स्थापित करने के लिए सर्वप्रथम साकची बलडीह, जुगसलाई आर सुसनीगडिया गांवों का अधिग्रहण किया। इसके दाद कम्पनी का विस्तारीकरण करने के लिए अनेक गाँवों कालानाटी, साकयी विष्टुपर कोसीकुदर, गहुलवेडा, काशीडीह, नीलडीह, गोलमुरी, बारीडीह, रानीकुदर, कदमा, चातकीडीह, भाटिया, सोनारी, सूटाडीह, उलियान, गमरियागोड़ा, सिदगोडा, नालूबारा, बाड़ा, भुइयाडीह, मोहरदा जोजोबेड़ा का बाद में अधिग्रहण किया गया। डिमनालेक के लिए पटमदा प्रखंड के तीन गांवों मिर्जाडीह,

लालम और गेडुआ, की जमीन का अधिग्रहण किया गया। सिंहभूम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर 1958 के पेज नं. 302 और 303 में टाटा द्वारा टिस्को कम्पनी स्थापित करने का वर्णन है। स्पष्ट होता है कि क्षेत्र का सबसे पहले खड़ा किया गया संयत्र मूलतः बड़ा कारखाना टाटा का था जो देशी पूँजी से लगा था और जिसमें मयूरगंज के राजा तथा सिन्धिया का शेयर क्रमशः 20,000 और 40,00,000 का था। 1875 में ही टाटा कम्पनी की स्थापना के पूर्व ही बंगाल के कुल्टी में यह प्रयास बंगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी द्वारा किया गया था, जो कोयला आधारित बनाने का प्रयास था। मगर 1908 में टाटा कम्पनी द्वारा जमशेदपुर में लोहा का कारखाना बनाने के बाद क्षेत्र का वातावरण औद्योगिक रूप ग्रहण करना शुरु किया। प्रथम युद्ध के बाद कारखाने के विस्तार कार्यक्रम ने क्षेत्र को औद्योगिक प्रधानता पर लाया।

भारी उद्योग की स्थापना से जनजातीय जगत एवं संरचना काफी प्रभावित हुआ। गैर-जनजातियों का जमाव विभिन्न तरह के कामों के लिए होना शुरु हो गया था। इसमें शुरुआती दौर में काम के खोज में दूसरे प्रान्तों में जनजातीय पलायन कुछ कम हुआ। खानों की खुदाई को भी अब काफी बल मिला इसका परिणाम जगत सिर्फ एक शांतिप्रिय प्रान्त न रहा। देश के मुख्य बाजारों से सम्बद्ध होता चला गया। यह निरंतरता ने जनजातियों के एकांतप्रिय वातावरण को तोड़ दिया और जनजातियों के समुदायिक जीवन में नई संस्कृतियां गहराता गया। स्पष्ट होता है कि छोटानागपुर में कोयला खनन का कार्य संगठित रूप से उन्नीसवीं सदी के साथ शुरू हुआ, तब रानीगंज में पहली भूमिगत खदान खुली। सन् 1814 में रानीगंज भूमिगत खदान से कोयले का खनन शुरू हो गया था। भारत में रेलवे और स्टीमर व्यवस्था के विकास में इन शुरुआती खदानों का सबसे महत्वपूर्ण योगदान रहा। इन्हीं खदानों से भाप के इंजनों को कोयला जाता था। कलकत्ता की जूट मिलों और अन्य कल-कारखाना को भी कोयले की आपूर्ति शुरू की गई। प्राथमिक दौर के दिनों में खदानों के मालिक आसपास के किसानों और बाहर से आए लोगों को अपने यहां खनिक के रूप में मनमर्जी मजदूरी पर नियुक्त करते थे और उनसे अपना निजी काम धंधा भी कराते थे। खदान मालिकों ने एक तरह की जमींदारी कायम कर ली और काफी जमीन भी अपने नाम हस्तांतरित करा ली। इन समकालीन परिस्थितियों में छोटानागपुर में जनजातीय जनसंख्या का पूरी आबादी में अनुपात घटना शुरू हुआ। एक तरफ उत्तर प्रदेश, गुजरात, राजस्थान, पंजाब और बिहार से व्यवसायियों और सूदखोर महाजनों का आना जारी रहा तो दूसरी तरफ पड़ोस के क्षेत्रों से दलित (गैर-जनजातीय) भी बड़ी संख्या में यहां रोजगार की तलाश में आते रहे। इस तरह संथालों, मुंडाओं, उरांवों, हो और चेरों जनजातियों के इलाके में ब्राह्मण, राजपूत, सिख, पठान, मारवाड़ी, गुजराती, बंगाली और बिहारी (उत्तर बिहार के) मूल के लोगों की संख्या बढ़ गई। बीसवीं सदी के प्रारंभ के साथ यहां और देश के अन्य क्षेत्रों में लौह-इस्पात उद्योग बैठाए जाने लगे। इसके लिए उच्च श्रेणी के कोयले की आवश्यकता बढ़ी। तब कोयला उद्योग में नई तकनीक और कुशल मजदूरों की मांग भी बढ़ गई। इस बदलते परि श्य में छोटानागपुर की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बनावट में कई तरह के परिवर्तन हुए। सरकार को विकास नीति ने जहाँ शत-प्रतिशत थे, उन्हें अपनी पुश्तैनी अर्थात् परम्परागत व्यवस्था विरासत पर आल्पसंख्यक बना दिया। आजादी के 79 साल में विकास ने जनजातियों की संख्या मात्र 25 प्रतिशत कर उनके अस्तित्व को हाशिए पर पहुंचा दिया। आजादी के पहले जिन वीर शहीदों, सिद्धो-कान्हू, चाँद-भैरव से लेकर वीर बिरसा मुण्डा ने जिन देशज मूल्यों का सपना देखा था उसका चित्र उल्टा हो गया। झारखण्डी सामाजिक मूल्यों के आधार जल-जंगल-जमीन को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों एवं विकासवादी सरकार ने पश्चिमी जीवन शैली एवं झारखण्ड की उपभोक्ता संस्कृति का आधार बना दिया है।

प्रत्येक जीवमंडल संरक्षित स्थान उस देश का जनजातीय भूमि पर है। आजाद भारत में जिन बड़े बांधों को भारत का मन्दिर माना गया था वही भूमि को डूबो रहा है। भारत का प्रत्येक मश्गवन जनजातियों के निवास को उजाड़कर बना है। प्रत्येक राष्ट्रीय बाग ने पूरी तरह से जनजातियों के जीवन को तहस-नहस किया है। भारत की खानों में बहुसंख्यक झारखण्ड की धरती पर है। भारत का सबसे अधिक कोयला, बॉक्साइट, अभ्रक, ताँबा यूरेनियम झारखण्ड की भूमि पर उत्पादित होता है। लेकिन फिर भी पचासी प्रतिशत जनजातीय जनता गरीबी रेखा के नीचे जीवन बसर कर रही है। आजादी के पचास साल में झारखण्ड क्षेत्र में विकास के नाम पर जनजातियों की एक चौथाई आबादी यानी हर चार में से एक विस्थापन का शिकार हो चुका है (यह सरकारी रिर्पोट के आधार पर) लेकिन झारखण्डी जनता मानती है कि यहाँ हम चार में से दो व्यक्ति विस्थापित

हो रहे हैं।

आजादी के 79 वर्षों में बड़े-बड़े बाँधों और सिंचाई परियोजनाओं औद्योगिक प्रतिष्ठानों और दूसरे संस्थानों के लिए बड़े पैमाने पर हुए कृषि-भूमि तथा वनभूमि के अधिग्रहण से देश के करीब तीन करोड़ लोगों को अपने निवास एवं जीविका से उजड़ना पड़ा। उन्हें अपने परम्परागत संसाधनों से बेदखल होना पड़ा है। इसमें 2 करोड़ लोग केवल बाँधों एवं सिंचाई परियोजनाओं से विस्थापित हुए। इसमें से केवल पचास हजार लोगों को ही पुनर्वासित किया गया बाकी डेढ़ करोड़ लोगों को विकास के नाम पर बलि होना पड़ा है। या यह कहें कि दूसरों की खुशहाली के लिए उन्हें बेहाल होना पड़ा है। झारखण्ड क्षेत्र में हटिया, टाटा, बोकारो, राउरकेला, धनबाद, बी.सी.सी.एल. इ.सी.सी.एल. जैसे बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों का जाल बिछ गया। सरकार कोयला खनन, यूरेनियम, बॉक्साइट खनन, थर्मल पावर स्टेशनों एवं अन्य बड़े-बड़े कल-कारखानों एवं निजी व सरकारी संस्थाओं के लिए भारी मात्रा में यहाँ के जनजातियों की जमीनों का आधिग्रहण किया और लाखों लोग विस्थापित हो गये। बिजली एवं सिंचाई के लिए बाँधों के चलते हजारों गाँव डूब गए। प्लांटों में हजारों एकड़ जमीन खप गई। कोयला खदानों में विशेष मशीनीकृत ओपन कास्ट खनन-प्रणाली के चलते खेत-दर-खेत, जंगल-दर-जंगल उजड़ गए। भारी विस्फोटकों के चलते पानी के स्रोत सूख गए। लहलहाते खेत रेगिस्तान में पलट गया। भूगर्भ परियोजनाओं के चलते भी जमीने धंस गई और धान के खेत बंजर भूमि बन गए।

उपसंहार :

स्वतंत्र भारत के सविधान में भारत को एक समाजवादी लोकतंत्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया तथा समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता का अधिकार घोषित किया गया। अर्थात् सत्ता हस्तांतरण में अंग्रेजों से सत्ता प्राप्त करने वाले नव शासकों ने किसानों की घोर उपेक्षा की। आजादी के बाद भारत के भाग्य विधाताओं ने कहा ''विज्ञान की प्रगति का मुकाबला हम बैलगाड़ी से ही कर सकते, विकास के लिए हमें तेज रफ्तार से चलना होगा'' और कृषि की उपेक्षा कर भारी उद्योगों और बाधों का निर्माण तेजी से शुरू हुआ।

वर्तमान अर्थव्यवस्था, जो खुद को लोकतांत्रिक और सबसे विकसित बताती है, उसका आधार तत्व है-खनन उद्योग। खनन और उस पर आधारित उद्योग ही इस अर्थव्यवस्था को संचालित करती है। जो इसके विकास के आरम्भिक काल से लेकर आज यहां तक आयी है और अब उसी के कारण उस पर प्रश्न-चिन्ह भी लग गया है। अर्थात् यह व्यवस्था पूर्णतः संसाधनों की चोरी पर आधारित जनजातियों के लिए उनकी पारंपरिक जमीन प्रतीकात्मक और भावनात्मक मायने रखती है। उनके पूर्वजों को उनकी अपनी ही जमीन में दफनाया जाता है। किली की शुरुआत भी उसी जमीन से जाना जाता है और अन्य पवित्रता विशेषता भी जुड़ी होती है। जमीन के संबंध में जनजातियों की अवधारणा को बाहरी लोग समझ नहीं पाते। भूमि का स्वामित्व सामूहिक होता है। किसी अन्य को यह अधिकार नहीं है कि जमीन को स्थायी रूप से समुदाय से अलग कर सके। जनजातीय ही जमीन के न्यासधारी होते हैं। इनमें जीवित ही नहीं होते बल्कि उनके पूर्वज और आनेवाली पीढ़ियों का अधिकार होता है। इसी वजह से जनजातियों की जमीन और खून सजातीय होता है। उनका समाज, संस्कृति, धर्म, पहचान यहां तक कि उनका अस्तित्व भी उसी जमीन से जुड़ा होता है, जिसके वे मालिक हैं। उन्हें उस जमीन से अलग करना ठीक उसी तरह चीर कर अलग करना होता है जो उनका जीवनदायक स्रोत है। आंतरिक उपनिवेशवाद जनजातियों के साथ यही कर रहा है।

अंततः जल, जंगल और जमीन की सुरक्षा, संरक्षण और संवर्धन ही झारखंड की अवधारणा है। इस अवधारणा को साकार करने के लिए झारखंड की क्षेत्रीय पार्टियां-जनजातीय महासभा से लेकर झारखंड मुक्ति मोर्चा तक की कहानी कमोबेश एक जैसी है। झारखंड की सभी छोटी-बड़ी क्षेत्रीय पार्टियां या संगठन वर्षों से इसी को मुद्दा बना कर संघर्ष करती रही है। इसी से जुड़ी हुई है इस क्षेत्र के जनजातीय और मूलवासी की आजीविका और अस्तित्व । झारखंड के जल, जंगल और जमीन जैसे प्राकृतिक संसाधन यदि झारखंड में संरक्षित और सुरक्षित रहते है तभी यहां की आदिवासियत सुरक्षित रह सकती है। सदियों

से जो लोग इन्हीं प्राकृतिक संसाधनों के सहारे अपना जीवन यापन करते आए हैं, इसके बिना उनके जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। इन्ही प्राकृतिक संसाधनों के सहारे जनजातीय अपनी विशिष्ट सामाजिक, सांस्कृतिक संरचना सदियों से आज तक बनाए रखने में सफल रहे हैं और वाह्य संस्कृति की संकीर्णता के कुप्रभाव को रोकते रहे हैं।

संदर्भ-सूची

1. के एन पंडित, 2015, विस्थापन एवं जनआंदोलन, प्रकाशक विस्थापन विरोधी जन विकास आन्दोलन, सरईटांड, मोराबादी, पृ0 संख्या--88-89
2. रमणिका गुप्ता, 2008. जनजातीय कॉल, प्रकाशक राधाकृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, दारियागंज, नई दिल्ली-110002, पृष्ठ संख्या- 149-150
3. बिनोद कुमार 2005 आवृति 2015, जनजातीय संघर्षगाथा, प्रथम संस्करण प्रकाशन सरधान नही दिल्ली पृ. गंख्या- 48
4. अनुराग फैसला/सुनली मिज/घनश्याम, 2010, झारखण्ड में स्वशासन का समय, प्रथम संस्करण, हिकेश फ्लेट नं0-402, कैलाश प्रेस कन्वर्सन प्राइवेट लिमिटेड, राँधी, पृष्ठ संख्या -88
5. हरिबंस, 2002, झारखण्ड विसम गुक्तिगाथा और सश्जन के सपने, प्रकाशक राज कमल प्रकाशन प्रा.लि.-1 बी. ते ताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली,, पृष्ठ संख्या- 96-97
6. उर्मिलेश, 2000 आरखण्ड जादुई जमीन का अंधेरा, द्वितीय संस्करण, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, पृष्ठ-103-104
7. एस. हेराल्ड तोपनो, 2016, उपनिवेशवाद और जनजातीय संघर्ष, प्रथम संस्करण, विकल्प प्रकाशन 2226/बी. प्रथम तल गली न.-33 सोनिया बिहार, दिल्ली, पृष्ठ सं0- 81-86
8. ए. जे.एस. कामल विल 2018 भासा ने जनजातियों की स्थिति, जावेयर पब्लिकेशन राची, आरखण्ड पृष्ठ संख्या-47
9. रमिणक गुप्ता, 2008, जनजातीय विकास से विस्थापन, प्रथम संस्करण राधाकृष्ण प्रकाशन प्र0 लि0 7/31 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-157
10. जे0एस. पीटर पौल एक्का, 2016, परती जमीन, प्रथम संस्करण, सत्य भारतीय प्रकाशन, रांची, पृष्ठ संख्या-71
11. शैलेन्द्र महतो, 2011, झारखण्ड को समरगाथा, प्रथम सस्करण, द्वितीय वर्दित संस्करण-2015, दानिश बुक्श, गाजीपुर, दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 54
12. सच्चिदानन्द सिन्हा, 2001 सस्कृति विमर्श, वाग्देवी प्रकाशन, विनायक शिखर पॉलिटेक्निक कॉलेज, बीकानेर पृष्ठ संख्या-145-146
13. दयामनी बरला, 2017 किसानों की जमीन लूट किसके लिए, तश्तीय संस्करण, जनजातीय मूलवासी अस्तित्व रक्षा मच, न्यू गार्डेन सिरोम टोली क्लब रोड, राँची, पश सख्या- 23-24
14. बीर भारत तलवार 2017, झारखण्ड आदोलन के दस्तावेज खण्ड-1, प्रथम संस्करण, नबारूण सी0-9 वसुधार गाजियाबाद, (उत्तर प्रदेश), पृष्ठ संख्या- 11-12
15. के.एन. पंडित 2005 विस्थापन विरोधी जन विकास आदोलन, प्रथम सस्करण, केन्द्रीय कार्यालय विस्थापन विरोधी जन विकास आंदोलन सरई टॉस, मोरहाबादी पोस्ट-राची विश्वविद्यालय, राँची, पृष्ठ सख्या- 9-12
16. अश्विनी कुमार पकज, 2018 आदिवासवित. पथारा केरकेट्टो फाउण्डेशन चेशायर होम रोड, बरियातु, राँची, पृष्ठ- 78-79
17. ओन डेवलपमेंट डिस्प्लेसमेंट एण्ड रिप्रेशन उन झारखण्ड टुडे, 2009. इंडिपेंडेंट पीपल्स टिब्यूनल इंडियन सोशल एकशन फारम नई दिल्ली पृष्ठ संख्या-49
18. अलेक्स एक्का एवं आसिफ मोहम्मद, 2000 डेवलपमेंट इंड्यूस्ट जिसप्लेसमेंट एवं रिहेबिलिटेशन इन झारखण्ड 1951, 1995 ए डाटाबेस ओन इटस, एकसटेंट एण्ड नेचर इंडियन सोशल डस्टीच्यूट नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-14-15
19. बालाजी पाण्डेय, 1998, डिसपेरमेट डेवलपमेंट इम्पैक्ट ऑफ ओपन कास्ट माइनिंग ओन चुमेन फ्रेडरिक इवर्ट इसटिफाटग, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-45-46

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

कुँड़ुख़ बेंजा नु मंडला नेग (मंड़वा एतअना)

विनोद टाना भगत
शोधार्थी, विश्वविद्यालय कुँड़ुख़ विभाग
राँची विश्वविद्यालय राँची

झारखण्ड राजी नु अनाईत बग्गे आदिवासी जातीयर रअनर संथाल, मुण्डा, हो, खड़िया, अरा कुँड़ुख़र झारखण्ड राजीन्ता कोहा आदिवासी जातियर तलनर। झारखण्ड राजीन्ता हूरमीन्ती बग्गे जनसंखया आबो संथाली जातियर तलनर अदि गही ख़ोख़ा कुँड़ुखर गही गिनती मनी। ई सौंसे झारखण्ड राजी नु 32 किसिम ही आदिवासी जातियर मन्नर। ईर होरमर तो आदिवासियर दिम तलनर अन्नु हुँ, तंगआ-तंगआ जाति नु उला कोरआ की एरोय होले आर ही नेग-जोग जुदा-जुदा मनी, औंगें नाम बआ ओंगदत का :- ढ़ेर बग्गे फूल गही ओंटे झुम्पा तलदत । इदि ही मने ईद मन्जा का इवन्दा बग्गे नेग-जोग मल जुटरना ख़ोख़ा हुँ नाम ओंटे तलदन। इदि ही कोंहा रुपे तले का नाम होरमत दिम प्रकृति ही पूजा ननु आलत तलदत। होरमा आदिवासी जातियर तंगआ जाति उला नु रकम रकम ही नेग-चार नन्नर। एकासें का पुना खद्दर ही कुन्दरना खतरना मंजका बेडा नेग-जोग। बेंजा चुन्जा मनो बीरिन्ता नेंग जोग अरा केचका बिचका बेडन्ता नेग-जोग। अकु गुचा एरोत कुँड़ुख बेंजन्ता नेग जोग। नम्हे बेंन्जा नु आ लेखआ दिम कुँड़ुख बेंजा नु हुरमी ती ख़ोख़ा ओंटा नेग मनी अदिन मंडला बअनर अरा मड़वा एतअना गही नामे ती हुँ अखनर।

मंडला

तरपांति ती हुरमी नेग-जोग मनी दरा बेंन्जा हूँ दव लेखआ मनी काली। बेंन्जा कटका ख़ोख़ा एक अम फूटा उल्ला 3वाँ, 5वाँ, 7वाँ, 9वाँ, उल्लान एरर नेड़डा टिपनर। हेदे नुम ओंटा ती बग्गे बेंजा मन्जकी र'ई होले बेंन्जा एड़पा उरूबस पहान-मुण्डा, महतो-पनभरा गार ती कत्था ननर की मंडला ही उल्ला टिपआ गे रायबड़ी नन्दस। मलता ओंटा एकला बेंजा कटकी राई होले , बेंजा एड़पा उरूबस गे नेड्डा टिपआ गे सेब्बा मनीं।

उल्ला टिपचका ख़ोख़ा बेंजा एड़पा उरुबस महतो, पनभरा, कोटवार, अरा पदान्ता जोको आलारिन आनदस, टिपचका बेड़ा नु अंड़सा गे। टिपचका उल्ला नु आनका आलर बेड़ा सिरे बेंजा एड़पा नु बरनर। पहान, मुण्ड़ा, महतो, पनभरा, कोटवार अरा बरचका पदन्ता होरमा आलर मड़वा नु ओकनर। होले बेंजा एडपन्ता आलर बरचका होरमा आलर गे नास्ता रूपे नु जोको झरा-अरखी चाय अरा चखना चिअनर। अन्तले मंडला गही नेग-जोग ओरे नन्नर चिअनर।

मंडला नेग-जोग नु बरना आलो

1. किन्दा पिटरी
2. मक्का मन अतखा गही मुन्द गोटंग सोड़ा
3. आबदा तीखिला
4. कांसा लोटा

5. अम्म
6. ओंटा पंडरू किचरी (धोती)
7. टटख़ा डहूडा
8. दुब्बा घासी

नेग-जोग नन्ना मन्ना

हुरमीन्ती मुन्द मड़वा नु एर्रर ख़ेख़लन सफा ननर। दरा किन्दा पिटरीन मुन्द (तीन) धाप ख़ेख़लन एमसआ-एमसआ उलट-पलट नन्नर पुरबे छमहे नन्नर ओंक्का गे पिटरीन अटनर। पिटरी नु कन्या अरा दुल्हा एडो झनारीन ओकतअनर। मुन्धवारे पिटरी मइया सोड़ा नु आबदा तीखिल उइनर। एंड़ गोंटांग निदी सोंड़ा अरा ओंद लोटा अम्म अरा टटख़ा डहुड़ा हुँ उईनार।

चुमाबअना (चोंखतअना)

अक्कु मुन्द नु एड़पा मालिकर आबदा तिखिलन कन्या-दुल्हा रीन चुमाबअनर अन्तले आर मेईया पोंयतअनर (बरसाअना, छिटनर)। ई पोंयताचका आबदा तीखिलन कन्या-दुलहार गही ख़ोख़ा तरा ओकरकी पंडरू किचरी नु झोकनर। (अदिन ओहरा नन्ना बअनर)

ई बेड़ा नु जोको ढिबा हुँ ओंटा जुदा सोड़ा नु उईनर। इदि गही ख़ोख़ा पदन्ता नयगस मलता महतोस, चुमाबअदस दरा गयराही ढ़िबन सोड़ा नु ऊईदस। ठीक एन्नेम पदन्ता बरचका होरमा आलर तरकूटी ती ननर। अदि गही ख़ोख़ा नु हुरमी ढिबन महतोस गिनअर की मुण्ड़ास गे चिअदस होले मुण्ड़ास होरमारीन इजआ गे बअदस। अंतले इजनार दरा पदन्ता होरमा आलर ओन संगेम मनर की ढ़िबन कन्या गहि ख़ेंख़ा नु चिअनर।

ढिबा चिओ बरी बअना कत्था (मंत्र)

पहान, महतो, मुण्डा, पनभरा, अरा पदन्ता आलर ओंट रागे नु एन्ने बअनर :-
ओंदय मईया इन्ना निगागे,
नगड़ा पदन्ता पंचर पुंजी चिआ लगनर।
ई ढिबा गने नीन एड़ा, अड्डो, किस्सी, ख़ेर, गेड़े,
एन्दरआ दिम पोसआ गे ख़ेंदके।
ढिबा कमती मनो होले,
निंग्हाय ढिबन हूँ मेसा ननके।
दवले कुना ननके-ओनके, ख़द्द-ख़र्रारीन,
दवले कुना पोसआके।
निंग्हाय एड़पा नु निकईम हूँ बरओर होले,
दवले कुना मनके-गनके,
चाहे अल्ला-बेरख़ा हूँ कालो होले,
लोटा अम्म ओथरअर मानिम चिअके।

ई बअना कत्था (मंत्र) मुंजुरई होले मुड़ा, महतो, पहान, अरा जोको संग्गे आलर मेसा मनर ओन संग्गेम कनेया मईया गहि अंचरा नु सोड़ा नु निंदका ढिबान झोकतअनर। कन्या मईया तंगआ अंचरा नु रिझ ती इंजिरई दरा कन्या अरा दुल्हा एड़ो झनर होरमा पुजारी अरा उक्का बुजुर्ग आलरिन ख़ेड्ड ओत्ता कि दव एख़ ख़खनर।

मडवा एतअना

अकु ई बाईसकी नु बरचाका आलर मुड़ास गहि अगुवाई नु मड़वा एतअना गहि नलख नन्नर, होरमा आलर इजअर की डण्डी पाड़नर-

डण्डी

क) के भईया मड़वा छाँदय 2
मड़वा छाँदय गाँवा भइया रे
मड़वा छाँदय पंच भइया रे।
ख) आयो न मड़वा छाँदय
बाबा न मड़वा छाँदय
मड़वा छाँदय गाँवा भईया रे
मड़वा छाँदय पंच भईया रे।
ग) के भईया शोभा बैसय 2
शोभा बैसय गाँवा भईया रे
शोभा बैसय पंच भईया रे
घ) के भईया बाँहि जोड़य 2
बाँहि जोड़य गाँवा भईया रे
बाँहि जोड़य पंच भईया रे
ङ) आयो न विदा करय
बाबा न विदा करय
विदा करय गाँवा भईया रे
विदा करय पंच भईया रे

गीत का भावार्थ :-

उराँव का बेटी विदाई या शादी में जो कुछ भी क्रिया क्लाप होता है वह सामुहिक सह भागिता पर आधारित होता है। शादी करने वाला माता पिता का गर्जियन के रुप मे खड़ा होना केवल रहता है। गाँव के लोग अपना खाना पिना, हड़िया खैनी चुना भी अपना लेकर आते है और अपना लिए हुए वस्तु का ही प्रयोग करते है। इसके आलावा गाँव के लोग (जिसे गाँवा भइया या पंच भइया कहा गया है) ही मड़वा बनाना, मड़वा में बैठना, सभा बैठाना हो या समधिजोड़ना, और बेटी का विदाई करना सभी रष्म गाँव के लोग या पंच भइया के देख-रेख एवं पूर्ण जिम्मेवारी के साथ होता है। कन्या/दुल्हा के माता-पिता गर्जियन स्वरुप खेड़ रहते है।

ई डण्डी गहि मुंजुरका ख़ोख़ा मुड़ास मंडवा एतअना गहि नलख नन्दस -ओरे नु मड़वा ता ओंटे डहुड़ान नतगर एतअदस, एन्नेम मुंद गोटांग डहुड़ान नतगर एतअदस। मुंद गोटांग डहुड़ान मेसगा मेय्या उयदस चिअदस। अकु इन्ना ती मड़वा गहि नलख मुंजरा केरा। इदी गहि ख़ोख़ा ओंना-मोंखना मनी।

मण्डी ओंन्ना :-

मण्डी ओंन्ना ओरे ननना ती मुन्द पद्दान्ता मुड़ास, होरमी देवतान एका से का :- चाला पच्चो, चंड़ी, दरहा, देषवली, टोप्पो

पच्चवल, धर्मेष (बीड़ी बेलस) ईर होरमर गे टिड़दस (अपने ईष्ट देव को सबसे पहले अर्पन करना) इदि हि खो़ख़ा होरमर मण्डी ख़टरनर दरा रिझ ती ओन्नर।

निष्कर्स

मड़वा नेग अरा मड़वा एतना नलख नु ईद एरा गे ख़खरा का कुँड़ुख़र गहि बेंजा नन्ना नु होरमी ओत्था पदन्ता आलर अरा पंचार मइया दिम रई। एकअम एड़पन्ता बेटी अरा बेटा खद्दे आ एड़पान्ता भईर मलनर, आर ख़ोड़हा ता दिम पुँजी तलनर अरा पंच भाईयार दिम जमार संगरा (सामुहिक सहभागिता) ननर बेंजान्ता हूरमी नलख नन्नर। अंतले दवले उज्जा बिजा गे एड़ा-आड्डो खेंदर पोसना (पषुपालन) अरा इदिन परदआ की व्यावसाय हूँ नना ओंगना गहि सीख ख़ख़रई।

साक्षात्कार

1. गन्दरु उराँव- मुड़ा, (सेवा निवश्तः-पोस्टल एसिस्टेंट) ग्राम-नगड़ा, थाना-माण्डर, राँची।
2. अजय उराँव - डोंगाईत, ग्राम-नगड़ा, थाना-माण्डर, राँची।
3. गोपाल भगत - ग्राम प्रधान, पहान, ग्राम-नगड़ा, थाना-माण्डर, राँची।
4. बिरसा उराँव - महतो, ग्राम-नगड़ा, थाना-माण्डर, राँची।

शब्दार्थ :-

कुँड़ुख़ बकः-	हिन्दी शब्दः-	कुँड़ुख़ बकः-	हिन्दी शब्दः-
1. एड़पन्ता	- घर का	11. केचका	- मरा हुआ
2. किस्सी	- सुवर	12. मलता	- आथवा
3. पोसना	- पालना	13. आनका	- आने का खबर
4. टिड़दस	- ईस्वर को अर्पन	14. झरा	- हड़िया
5. बेंजा	- शादी	15. अरख़ी	- दारु
6. एतअना	- उतारना	16. आवदा तीख़िल	- अरवा चावल
7. ख़द्दर	- बच्चे	17. पंडरु	- सफेद
8. कुन्दरना	- जन्म लेना	18. किचरी	- कपड़ा
9. हूरमीन्ती बगे	- सबसे अधिक	19. ख़ोख़ा	- बाद में
10. तंगआ	- अपना		

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

दलित अस्मिता और नागार्जुन

डॉ. मंटू कुमार साव
सहायक प्राध्यापक
कालिम्पोंग कॉलेज, दार्जिलिंग
संपर्क-9339825170

साधारणतः हिन्दी का दलित साहित्य, हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक खास दौर अस्सी और नब्बे के दशक में उभरा एक साहित्यिक आंदोलन है, जिसमें दलित लेखक-कवि आत्म सहजता के साथ आए और अपने को एक अलग साहित्यिक धारा के रूप में वैचारिक संघर्ष चलाया। वास्तव में दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि की अपनी एक लंबी परंपरा रही है। यह परंपरा मानव जीवन की सृजनात्मक रूप-साहित्य, सभ्यता-संस्कृति के साथ ही शुरू हो जाती है। जिसमें एक स्वरूप सत्ता पक्ष के साथ होता है तो दूसरा पक्ष सत्ता पक्ष के विरोध में होता है। दलित साहित्य का अस्तित्व इसी प्रतिरोध की संस्कृति की उपज है। सही मायने में देखा जाय तो "दलित साहित्य का वैचारिक आधार डॉ. अंबेडकर का विचार है। यह विचार दलितों के धार्मिक शोषण के विरुद्ध पनपा था। बुद्ध के प्रभाव में लिखे गए जिस साहित्य को ब्राह्मणों ने आठ सौ साल पूर्व नष्ट कर दिया था, अंबेडकर ने उसे पुनर्जीवित करने का अभियान छेड़ा। यही कारण है कि बिना अंबेडकर के दलित साहित्य की बात नहीं की जा सकती।"[1] ज्योतिबा फुले और डॉ अंबेडकर की जीवन दृष्टि दलित साहित्य की ऊर्जा है। इन्हीं महापुरुषों के जीवन संघर्षो से दलितों में चेतना का प्रकाश हुआ।

दलित साहित्य सिर्फ दलितों की अस्मिता एवं अस्तित्व की बात नहीं करता बल्कि उनकी सामाजिक सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की पहचान के लिए संघर्ष भी करता है। "आज दलित साहित्य उस अस्मिता, अस्तित्व और अभिव्यक्ति की अभिव्यंजना है जो मानव-मानव के बीच समानता चाहता है, जातिविहीन, वर्णविहीन समाज बनाकर एक मानवीय समाज की घोषणा करता है। जनवादी, प्रगतिशील जनतांत्रिक साहित्य जो भारत के जनमा जाति के संदर्भ में केवल वर्ग की ही बात करके इकहरा भावबोध का परिचय देता है वहीं दलित साहित्य ने सामाजिक समानता और राजनैतिक भागीदारी की भी मुहिम को पूर्णता देता हैं। इन तीनों मुद्दों पर समानता प्राप्त किए बगैर मनुष्य पूर्ण समानता प्राप्त नहीं कर सकता। दलित साहित्य इस पूर्ण समानता के लिए संघर्षरत है।"[2]

दलित साहित्य दलितों की स्व-अनुभूति और संवेदना की उपज है। उनके साहित्य का यथार्थ अलग है। विमल घोराट के शब्दों में कहें तो " दलित साहित्य उस विद्रोह का उन्मेष है, जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि 'स्व' की खोज में निकले हुये एक पूरे समाज का, पूर्व परम्पराओं से विद्रोह है एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है।"[3] वास्तव में दलित साहित्य सवर्ण समाज के सामने अपनी व्यथा और वेदना का दुखड़ा ब्यान करना ही नहीं हैं बल्कि सदियों से ब्राह्मणवादी व्यवस्था के बोझ तले दबे जो मनुष्य की कला और दर्शन है उसको रूपायित भी करना हैं एवं सभी तरह के भेद-भाव, विषमता के विरुद्ध क्रांति की चेतना पैदा कर वर्ण व्यवस्था से उपजी घोर अमानवीयता, स्वतंत्रता समता विरोधी, सामाजिक अलगाव की पक्षधर सोच को परिवर्तित कर बदलाव की प्रक्रिया को तेज भी करना है। डॉ॰ अंबेडकर के दर्शन

"समता','स्वतंत्रता'और 'बंधुत्व' तथा शिक्षित बनो, संघर्ष करो और संगठित हो' की वैचारिक प्रतिबद्धता है। शोषणपरक, विषमता, असमानता, और विद्वेषपूर्ण जातिवादी, वर्णसत्तावादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह और प्रतिशोध की संस्कृति तथा लिटरेचर ऑफ एक्शन"[4] है तो समतामूलक, जातिविहीन, वर्णविहीन, वर्गहीन समाज की स्थापना की क्रियामूलक ससंबद्धता है। इन परिकल्पनाओं में कोई भी संवेदनशील कवि या लेखक मूक नहीं रह सकता है। सृजन की स्वायतः प्रक्रिया उनके कृतित्व और व्यक्तित्व में दिखने लगती है। नागार्जुन का साहित्य, उनका जीवन और सृजन, व्यक्तित्व और कृतित्व की एकरूपता तथा सिद्धांत और व्यवहार का समन्वय रूप इन्ही संकल्पनाओं का एक उज्जवल उदाहरण है। नागार्जुन का साहित्य और उनका संघर्ष दोनों समाज के उस विस्तृत भूमि से जुड़ी है जहां की जनता आज भी सामंतवाद, ब्रह्मणवाद, पूंजीवाद और इन सब से बनी सत्ता का शिकार है, मूक है। अस्तित्व और अस्मिता के संकट मे पड़ी जनता अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं है। इसीलिए सत्ता के विरुद्ध और दलित जनता के पक्ष में नागार्जुन का साहित्य भूमि तैयार होती है।

वास्तव में नागार्जुन की साहित्यभूमि वही है जो दलित-पीड़ितों की भावभूमि है। जनता की इस बड़ी आबादी की आवश्यकताएं और आकांक्षाएँ के लिए लड़ाई ही उनके साहित्य की विषयवस्तु है। नागार्जुन की यही संवेदना और वैचारिकी उनकी कविता 'हरिजन-गाथा' (1977) में झलकती है। यह वही समय है जहां एक तरफ देश इमरजेंसी का पड़ाव पर रहा था और देश सामाजिक तथा राजनीतिक दोनों स्तर पर संकट से गुजर रहा था। चारों तरफ वर्णसत्तावादी शक्ति का दबदबा बना हुआ था। वही दूसरी तरफ पटना जिले के बेलछी गाँव में कुर्मी भूस्वामियों ने 13 दलितों को आग में झोककर जिंदा जला दिया था। यह घटना वर्णसत्तावादी मानसिकता की संवेदनहीन का परिचय था। इस घटना पर कवि प्रश्नवाची मुद्रा में पूछने लगते है :

ऐसा तो कभी नहीं हुआ था कि
एक नही, दो नही, तीन नहीं-
तेरह के तेरह अभागे
अकिंचन मनुपुत्र
जिंदा झोंक दिए गए हों
प्रचंड अग्नि की लपटों में
साधन-सम्पन्न ऊंची जातियों वाले
सौ-सौ मनुपुत्रों द्वारा!
ऐसा तो कभी नहीं हुआ था.....[5]

कवि घटित घटना को देखकर बेचौन हो जाते हैं। नागार्जुन इसके पीछे रहस्य को तलाशते है तथा घटित निर्मम घटना के छोर तक जाने का प्रयास करते हैं कि कैसे गर्भकुक्षियों के अंदर भ्रूण के दौड़ लगाने की बात दलितों के अंदर सक्रियता और चेतनशीलता को बढाती जा रही है। कवि आगे कहते हैं :

"ऐसा तो कभी नहीं हुआ था
एक अपूर्व आकुलता
उनकी गर्भकुक्षियों के अंदर
बार-बार उठने लगी टीसें
लगाने लगे दौड़ उनके भ्रूण
अंदर ही अंदर
ऐसा तो कभी नहीं हुआ था।"[6]

दलितों के अंदर बढ़ती सक्रियता और चेतनशीलता ब्राह्मणवादी सत्ता के खिलाफ एक आगाज है। नागार्जुन इन वर्णसत्ताधारी पर व्यंग्य करते हुए कहते है कि इस वर्ग की मानसिकता ऐसी है जहां समभावना की कोई अभिव्यक्ति नही है,

समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय की भावना न के बराबर है।

हरिजन-गाथा का ऐतिहासिक बोध भारतीय समाज के उस हिस्से की उपस्थिति को दर्ज करता है जो ब्राह्मणवादी मानसिकता और वर्णसत्तात्मक विचारधारा को आघात करता नजर आता है जिस आघात को वर्णसत्ताधारी बर्दाश्त नही कर पाता। जिसका परिणाम यह हुआ कि दलितों को सामूहिक रूप से प्रताड़ित किया जाने लगा। हरिजन गाथा में चित्रित बच्चा भारतीय समाज में उदित हो रहे दलितों की चेतना है जिसे सत्ता के मनुपुत्रों द्वारा अग्नि कुंडों में झोक दिया जाता हैं। नागार्जुन दलित सर्वहारा बच्चों के माध्यम से उनके भविष्य की अनिश्चितता तथा दलितों की अभावग्रस्त जीवन स्थितियों का एक मार्मिक चित्र गढ़ने का प्रयास करते हैं :

"जाने कैसा सलूक करेगा इस बालक से
पैदा हुआ है बेचारा
भूमिहीन बंधुआ मजदूरों के घर में
जीवन गुजारेगा हैवान की तरह
भटकेगा जहां-तहां वनमानुष-जैसा
अधपेटा रहेगा अधनंगा डोलेगा
तोतला होगा कि साफ-साफ बोलेगा
जाने क्या करेगा
बहादुर होगा कि बेमौत मरेगा"[7]

नागार्जुन की रचना में एक वैचारिक संघर्ष है। यह वैचारिक संघर्ष नागार्जुन की सामाजिक प्रतिबद्धता से है। जो क्रांति चेतना और मनुष्य के बेहतर भविष्य के निर्माण से समन्वित है। वे वर्तमान की पीड़ा को भविष्य की क्रांति की संभावनाओं के सकारात्मक पहलू के साथ जोड़ते है। गरीबदास हरिजन बस्ती में उन्हे राजनीति सीखाने आते है। उसकी हथेली में अस्त्र-शस्त्र के चिन्ह देखकर यह अनुमान करने लगते हैं कि यह शोषण का अंत कर वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करेगा। यहाँ नागार्जुन युग के साथ होकर भी युग की सीमा का तथा वर्तमान में होकर भी वर्तमान के दायरे का अतिक्रमण करते हुए भावी समाज-निर्माण का संकेत देते हैं :

"खान खोदनेवाले सौ-सौ मजदूरों के बीच पलेगा
युग की आंचों में फौलादी साँचों-सा यह वहीं ढलेगा।"[8]
"निम्न वर्ग का नायक होगा
नयी ऋचाओं का
नये वेद का गायक होगा''[9]

"इस कलुए की तदबीरों से
शोषण की बुनियाद हिलेगी''[10]

नागार्जुन सशस्त्र क्रांति का बार-बार समर्थन करता है। यही कारण है कि उनकी रचना में प्रतिहिंसा स्थायी भाव बनकर उभरता है। नागार्जुन के साहित्य में दलित-पिछड़ों के जीवन में बदलाव के लिए प्रतिहिंसा की बात करते हैं। दलित साहित्य की वैचारिकी में प्रतिरोध और प्रतिहिंसा की कोई अवधारणा नहीं हैं। कारण देखा जाय तो एक तरफ डॉ॰अंबेडकर का सामाजिक संरचना है जिसका वैचारिक आधार महामानव बुद्ध के सिद्धान्त, अहिंसा, करुणा और प्रेम है तो दूसरी तरफ ईश्वरीय अवधारणा के विश्वास में आकर अंधविसवास, पाखंड, पुरोहितवाद और इन सब से जुड़ी हुई विचारधारा ब्राह्मणवादी विचारधारा का शिकार है जो कहीं न कहीं दलित-पीड़ितों को मूक दर्शक के रूप में गड़ता चला जाता है। नागार्जुन यहाँ मनुष्य के मानसिक गुलामी से मुक्ति की बात करते हैं क्योंकि इस पर ही समाज और देश का समुचित विकास संभव है। नागार्जुन ने दलित जीवन की

यातना के साथ-साथ मुक्ति की चेतना की भी अभिव्यक्ति दी है :

"दिल ने कहा- दलित माओं के
सब बच्चे अब बागी होंगे
अग्नि पुत्र होंगे वे, अंतिम
विप्लव में सहभागी होंगे।"[11]

कवि समाज में व्याप्त पराधीनता के विभिन्न स्थितियों को पहचानते हैं और स्वाधीनता के लिए संघर्ष एवं सामाजिक न्याय की बात करते हैं। कवि समाज में उद्योगों और कृषि का समाजीकरण चाहते हैं तथा बुद्धि और वैभव के समन्वय में मानव-जीवन की सफलता और खुशहली को देखते हैं जिसमें समाज की भावी रूप-रेखा बनती है। उन्होंने भारतीय किसान की विपन्नता के कारणों की खोज कर आम जनता की आवश्यकताओं को उभरा है, उसके हक़ की लड़ाई का समर्थन दिया है। विषमतामूलक और वर्णसत्ता समाज के खिलाफ विद्रोह कर दलितों के प्रति जो आसक्ति भाव दिखाया है तथा आर्थिक समता और सामाजिक पहचान के लिए जिन सवालों को नागार्जुन उठाते है जिससे यह सिद्ध होता है कि बाबा नागार्जुन दलित-पीड़ित-सर्वहारों के साथ हैं।

संदर्भ

1. श्योराज सिंह बेचैन और देवेंद्र चौबे (संपादक) चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य, 2002 नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग , पृष्ठ -64
2. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, 2001 राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ 25
3. वही, पृष्ठ-65
4. वही, पृष्ठ-15
5. शोभाकांत मिश्र, नागार्जुन रचनावली खंड-2, 2003 राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ-177
6. वही, पृष्ठ-177
7. वही, पृष्ठ-178
8. नागार्जुन, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1980, संभावना प्रकाशन, हापुड़, पृष्ठ-123
9. वही, पृष्ठ-125
10. वही, पृष्ठ-126

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम (Project -Based Learning) का प्रभाव

डॉ. राम नगीना रजक
व्याख्याता
जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान (DIET)
दीघी (वैशाली) हाजीपुर

सारांश (Abstract) :-

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम (Project-Based Learning—PBL) एक ऐसी विद्यार्थी-केंद्रित शिक्षण पद्धति है, जिसमें विद्यार्थी किसी वास्तविक जीवन से संबंधित समस्या, प्रश्न या विषय पर योजनाबद्ध तरीके से कार्य करते हुए ज्ञान एवं कौशल प्राप्त करते हैं। इस पद्धति में विद्यार्थी केवल पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त नहीं करते, बल्कि उसे व्यवहारिक परिस्थितियों में लागू करना सीखते हैं। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम को प्रभावी शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया के रूप में विशेष महत्व दिया जाता है।

मुख्य शब्द (keywords) :- प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम, विद्यार्थी-केंद्रित शिक्षण, शैक्षिक उपलब्धि, सक्रिय सहभागिता, समस्या-समाधान, रचनात्मकता एवं सहयोगात्मक अधिगम।

प्रस्तावना (introduaction) :-

शिक्षा मानव जीवन के सर्वांगीण विकास का एक महत्वपूर्ण साधन है। शिक्षा का उद्देश्य केवल विद्यार्थियों को पुस्तकीय ज्ञान प्रदान करना नहीं है, बल्कि उनमें ज्ञान, कौशल, सोचने की क्षमता, रचनात्मकता, समस्या-समाधान क्षमता, सामाजिक व्यवहार तथा जीवन में उचित निर्णय लेने की क्षमता का विकास करना भी है। बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक एवं तकनीकी परिवेश में शिक्षा की प्रकृति में भी निरंतर परिवर्तन हो रहा है। आज ऐसी शिक्षण पद्धतियों की आवश्यकता है, जो विद्यार्थियों को केवल जानकारी ग्रहण करने वाला न बनाकर सीखने की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार बनाएँ। इसी संदर्भ में प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम (Project&Based Learning—PBL) एक प्रभावी एवं विद्यार्थी-केंद्रित शिक्षण पद्धति के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम ऐसी शिक्षण प्रक्रिया है जिसमें विद्यार्थी किसी वास्तविक जीवन से संबंधित समस्या, प्रश्न या विषय को केंद्र में रखकर योजनाबद्ध तरीके से कार्य करते हुए ज्ञान का निर्माण करते हैं। इसमें विद्यार्थी किसी विषय के बारे में केवल पढ़ते या सुनते नहीं हैं, बल्कि जानकारी एकत्र करते हैं, उसका विश्लेषण करते हैं, चर्चा करते हैं, प्रयोग करते हैं और अंत में किसी प्रोजेक्ट या गतिविधि के रूप में अपने सीखने को प्रस्तुत करते हैं। इस प्रक्रिया में शिक्षक मुख्य रूप से मार्गदर्शक, सहयोगी और सुविधा प्रदान करने वाले व्यक्ति की भूमिका निभाता है, जबकि विद्यार्थी सीखने की प्रक्रिया में

सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

पारंपरिक शिक्षण व्यवस्था में प्रायः शिक्षक विषय-वस्तु को समझाता है और विद्यार्थी उसे सुनकर तथा लिखकर सीखते हैं। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों की सक्रिय सहभागिता सीमित हो सकती है। इसके विपरीत प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम विद्यार्थियों को स्वयं खोजने, प्रश्न पूछने, विचार करने और समाधान खोजने का अवसर प्रदान करता है। इससे अधिगम अधिक अर्थपूर्ण, रुचिकर और व्यवहारिक बनता है। विद्यार्थी अपने आसपास के वातावरण तथा दैनिक जीवन की समस्याओं से जुड़कर सीखते हैं, जिसके कारण उनके लिए प्राप्त ज्ञान को वास्तविक परिस्थितियों में लागू करना आसान हो जाता है

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम की एक प्रमुख विशेषता विद्यार्थी-केंद्रितता है। इसमें विद्यार्थी अपने प्रोजेक्ट की योजना बनाने, कार्यों का विभाजन करने, आवश्यक सामग्री एकत्र करने तथा परिणाम प्रस्तुत करने में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। इस प्रक्रिया से उनमें आत्मनिर्भरता और जिम्मेदारी की भावना विकसित होती है। जब विद्यार्थी किसी कार्य को स्वयं पूरा करते हैं, तो उनके आत्मविश्वास में वृद्धि होती है तथा उनमें यह भावना विकसित होती है कि वे स्वयं भी किसी समस्या का समाधान कर सकते हैं। PBL का विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। किसी विषय को केवल पढ़ने की अपेक्षा जब विद्यार्थी उस विषय से संबंधित गतिविधि या प्रोजेक्ट करते हैं, तो विषय-वस्तु को समझने और लंबे समय तक याद रखने में सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए, गणित में केवल सूत्रों को याद करने के स्थान पर विद्यार्थी माप, आकृतियों, बाजार की गणना, बजट निर्माण या आँकड़ों के संग्रह से संबंधित प्रोजेक्ट कर सकते हैं। इसी प्रकार विज्ञान में पौधों, जल संरक्षण, पर्यावरण या ऊर्जा से संबंधित प्रोजेक्ट विद्यार्थियों को वैज्ञानिक अवधारणाओं को व्यवहारिक रूप में समझने का अवसर देते हैं।

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम विद्यार्थियों की समस्या-समाधान क्षमता के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रोजेक्ट के दौरान विद्यार्थियों के सामने विभिन्न प्रकार की समस्याएँ आती हैं। उन्हें समस्या की पहचान करनी होती है, संभावित समाधान पर विचार करना होता है और उपलब्ध संसाधनों के आधार पर उचित समाधान चुनना होता है। इस प्रक्रिया से उनमें तार्किक एवं आलोचनात्मक चिंतन का विकास होता है। विद्यार्थी किसी समस्या को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने और उसके समाधान के लिए नए विचार प्रस्तुत करने का प्रयास करते हचइसके साथ ही PBL विद्यार्थियों की रचनात्मकता को बढ़ावा देता है। प्रोजेक्ट तैयार करते समय विद्यार्थियों को अपनी कल्पना और नए विचारों का उपयोग करने की स्वतंत्रता मिलती है। वे मॉडल, चार्ट, पोस्टर, रिपोर्ट, प्रस्तुति या अन्य रचनात्मक माध्यमों से अपने विचारों को व्यक्त कर सकते हैं। इससे उनमें सृजनात्मक सोच तथा अपनी बात प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता विकसित होती है।

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम में सहयोगात्मक अधिगम का भी विशेष महत्व है। कई प्रोजेक्ट समूह में किए जाते हैं, जिसमें विद्यार्थी मिलकर कार्य करते हैं। वे एक-दूसरे के विचार सुनते हैं, कार्यों का विभाजन करते हैं तथा सामूहिक रूप से लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इससे विद्यार्थियों में सहयोग, संचार, नेतृत्व, जिम्मेदारी, सहनशीलता तथा समूह में कार्य करने जैसे सामाजिक कौशलों का विकास होता है। ये कौशल केवल विद्यालयी जीवन में ही नहीं, बल्कि भविष्य के व्यक्तिगत एवं व्यावसायिक जीवन में भी उपयोगी होते हैं।

PBL में शिक्षक की भूमिका भी पारंपरिक शिक्षक की भूमिका से कुछ अलग होती है। शिक्षक केवल ज्ञान प्रदान करने वाला व्यक्ति न होकर विद्यार्थियों को उचित दिशा देने वाला मार्गदर्शक बनता है। वह विद्यार्थियों को समस्या को समझने, आवश्यक संसाधन उपलब्ध कराने, प्रश्न पूछने तथा उनकी प्रगति का मूल्यांकन करने में सहायता करता है। इस प्रकार शिक्षक और विद्यार्थी के बीच संवाद एवं सहभागिता बढ़ती है।

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम का एक महत्वपूर्ण पक्ष मूल्यांकन भी है। इसमें केवल अंतिम उत्तर या परीक्षा के अंक पर ध्यान नहीं दिया जाता, बल्कि पूरी सीखने की प्रक्रिया का मूल्यांकन किया जा सकता है। विद्यार्थी ने समस्या को कैसे समझा, योजना कैसे बनाई, समूह में कैसे कार्य किया, जानकारी का उपयोग कैसे किया और अंतिम परिणाम कैसे प्रस्तुत किया—इन सभी पहलुओं को ध्यान में रखा जा सकता है। इससे विद्यार्थियों की वास्तविक क्षमताओं को समझने में सहायता मिलती है।

हालाँकि प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम को लागू करने में कुछ चुनौतियाँ भी होती हैं। इसके लिए पर्याप्त समय, संसाधन, उचित योजना और शिक्षक की तैयारी आवश्यक होती है। बड़ी कक्षा में सभी विद्यार्थियों की गतिविधियों पर समान रूप से ध्यान देना कठिन हो सकता है। कुछ विद्यार्थियों की सहभागिता कम भी हो सकती है। इसलिए PBL को सफल बनाने के लिए स्पष्ट उद्देश्य, उचित कार्य-विभाजन, समय-प्रबंधन, आवश्यक शिक्षण-अधिगम सामग्री तथा नियमित मार्गदर्शन आवश्यक है।वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में ऐसी शिक्षण पद्धति की आवश्यकता है जो विद्यार्थियों को भविष्य की चुनौतियों के लिए तैयार कर सके। प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम विद्यार्थियों को ज्ञान के साथ-साथ विभिन्न जीवनोपयोगी कौशल प्रदान करता है। यह सीखने को कक्षा की चारदीवारी तक सीमित न रखकर उसे वास्तविक जीवन से जोड़ता है। इससे विद्यार्थियों में सीखने के प्रति रुचि, सक्रिय सहभागिता, रचनात्मकता, सहयोग, आत्मविश्वास तथा समस्या-समाधान की क्षमता विकसित होने की संभावना बढ़ती है।

अतः "प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम का प्रभाव" विषय का अध्ययन वर्तमान शैक्षिक संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके माध्यम से यह समझने का प्रयास किया जा सकता है कि प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि, सीखने की रुचि, सक्रिय सहभागिता, रचनात्मकता, समस्या-समाधान क्षमता तथा सामाजिक कौशलों को किस प्रकार प्रभावित करता है। इस प्रकार PBL आधुनिक, सक्रिय, व्यवहारिक एवं विद्यार्थी-केंद्रित शिक्षा को प्रभावी बनाने की दिशा में एक उपयोगी शिक्षण दृष्टिकोण के रूप में देखा जा सकता है।

सामान्य उद्देश्य (General Amis) :-

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम के प्रभाव का सामान्य उद्देश्य विद्यार्थियों की सीखने की प्रक्रिया को अधिक प्रभावी, रुचिकर एवं व्यवहारिक बनाना है। इसके माध्यम से विद्यार्थियों में विषय-वस्तु की समझ, शैक्षिक उपलब्धि, सक्रिय सहभागिता, रचनात्मकता तथा समस्या-समाधान क्षमता का विकास करना है। साथ ही विद्यार्थियों में सहयोगात्मक भावना, संचार कौशल, आत्मविश्वास, नेतृत्व क्षमता एवं स्व-अधिगम की प्रवृत्ति विकसित करना भी इसका उद्देश्य है। प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम द्वारा विद्यार्थियों को वास्तविक जीवन की समस्याओं से जोड़कर ज्ञान को व्यवहार में प्रयोग करने के अवसर प्रदान करना तथा उन्हें स्वतंत्र एवं जिम्मेदार शिक्षार्थी बनाना भी इसका प्रमुख उद्देश्य है।

प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम के विद्यार्थियों के सीखने पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना है। अध्ययन में यह जानने का प्रयास किया गया है कि PBL विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि, रुचि, सक्रिय सहभागिता, समस्या-समाधान क्षमता, रचनात्मकता तथा सहयोगात्मक कौशल को किस प्रकार प्रभावित करता है। पारंपरिक शिक्षण में जहाँ शिक्षक की भूमिका अधिक सक्रिय होती है, वहीं प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम में विद्यार्थी स्वयं सीखने की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। वे विषय से संबंधित जानकारी एकत्र करते हैं, उसका विश्लेषण करते हैं, समूह में चर्चा करते हैं तथा प्राप्त ज्ञान के आधार पर प्रोजेक्ट तैयार करते है प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम का विद्यार्थियों की रुचि एवं प्रेरणा पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। जब विद्यार्थियों को वास्तविक जीवन से जुड़ी समस्याओं पर कार्य करने का अवसर मिलता है, तो वे सीखने में अधिक रुचि लेते हैं। समूह में कार्य करने से उनमें सहयोग, संचार, नेतृत्व, जिम्मेदारी और निर्णय लेने जैसे सामाजिक एवं जीवनोपयोगी कौशलों का विकास होता है। इसके साथ ही विद्यार्थी विभिन्न स्रोतों से जानकारी प्राप्त करना, उसका मूल्यांकन करना तथा समस्या के समाधान के लिए उचित निर्णय लेना सीख PBL विद्यार्थियों की रचनात्मक एवं आलोचनात्मक चिंतन क्षमता को भी विकसित करता है। प्रोजेक्ट तैयार करते समय विद्यार्थियों को नए विचार प्रस्तुत करने, प्रयोग करने और अपनी गलतियों से सीखने का अवसर मिलता है। इससे उनमें आत्मविश्वास और स्व-अधिगम की भावना विकसित होती है। शिक्षक इस प्रक्रिया में मार्गदर्शक एवं सहायक की भूमिका निभाता है तथा विद्यार्थियों को आवश्यक दिशा-निर्देश प्रदान करता है।

अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास में

उपयोगी है। यह केवल विषयगत ज्ञान को मजबूत नहीं करता, बल्कि विद्यार्थियों में समस्या-समाधान, रचनात्मकता, सहयोग, संचार, नेतृत्व तथा व्यावहारिक ज्ञान जैसे महत्वपूर्ण कौशलों का विकास भी करता है। हालांकि PBL को प्रभावी बनाने के लिए पर्याप्त समय, संसाधन, उचित योजना तथा प्रशिक्षित शिक्षक की आवश्यकता होती है। इसलिए विद्यालयों में प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम को पाठ्यक्रम एवं कक्षा-शिक्षण के साथ उचित रूप से समन्वित किया जाना चाहिए। इस प्रकार PBL आधुनिक एवं विद्यार्थी-केंद्रित शिक्षा को प्रभावी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

विशिष्ट उद्देश्य (Specific Aims) :-

"प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम का प्रभाव" अध्ययन के विशिष्ट उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम के प्रभाव का अध्ययन करना।
2. विद्यार्थियों की सीखने की रुचि एवं सक्रिय सहभागिता में होने वाले परिवर्तन का अध्ययन करना।
3. विद्यार्थियों की समस्या-समाधान क्षमता के विकास पर इसके प्रभाव का अध्ययन करना।
4. विद्यार्थियों की रचनात्मक एवं आलोचनात्मक चिंतन क्षमता का विकास करना।
5. विद्यार्थियों के सहयोग, संचार एवं नेतृत्व कौशल पर इसके प्रभाव का अध्ययन करना।
6. विद्यार्थियों में आत्मविश्वास एवं स्व-अधिगम की भावना के विकास का अध्ययन करना।
7. प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम को प्रभावी बनाने में आने वाली चुनौतियों एवं उनके समाधान का अध्ययन करना।

शोध विधि (Methodology) :-

इस अध्ययन में वर्णनात्मक एवं सर्वेक्षण शोध विधि का प्रयोग किया गया है। अध्ययन के लिए विद्यार्थियों का चयन किया गया तथा प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम से संबंधित जानकारी प्रश्नावली, अवलोकन एवं साक्षात्कार के माध्यम से एकत्र की गई। प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण सरल सांख्यिकीय विधियों द्वारा किया गया, जिससे विद्यार्थियों के अधिगम पर PBL के प्रभाव का अध्ययन किया जा सके।

मॉनिटरिंग (Monitoring) :-

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम की प्रक्रिया के दौरान विद्यार्थियों की गतिविधियों का नियमित रूप से मॉनिटरिंग किया गया। शिक्षक ने विद्यार्थियों की सक्रिय सहभागिता, कार्य-विभाजन, समस्या-समाधान, सहयोग, समय-प्रबंधन तथा प्रोजेक्ट कार्य की प्रगति का अवलोकन किया। प्रत्येक समूह के कार्य की समय-समय पर समीक्षा की गई और आवश्यकतानुसार मार्गदर्शन एवं सुझाव दिए गए। विद्यार्थियों को अपनी कठिनाइयों को व्यक्त करने तथा समाधान खोजने के अवसर प्रदान किए गए। प्रोजेक्ट के विभिन्न चरणों में उनकी सीखने की प्रगति एवं व्यवहार में होने वाले परिवर्तनों को दर्ज किया गया। अंत में प्रोजेक्ट के परिणामों का मूल्यांकन करके विद्यार्थियों की उपलब्धियों और कमियों की पहचान की गई।

निष्कर्ष (Conclusion) :-

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम (PBL) विद्यार्थियों के सीखने की प्रक्रिया को अधिक प्रभावी, रुचिकर एवं व्यवहारिक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस पद्धति में विद्यार्थी केवल शिक्षक द्वारा दी गई जानकारी को ग्रहण नहीं करते, बल्कि स्वयं खोज, अवलोकन, प्रयोग, चर्चा एवं गतिविधियों के माध्यम से ज्ञान का निर्माण करते हैं। इससे विद्यार्थियों की विषय-वस्तु को समझने तथा उसे वास्तविक जीवन में प्रयोग करने की क्षमता विकसित होती है

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम से विद्यार्थियों की सक्रिय सहभागिता, सीखने की रुचि, रचनात्मकता, समस्या-समाधान

क्षमता और आलोचनात्मक चिंतन में सकारात्मक परिवर्तन देखने को मिलता है। समूह में कार्य करने के कारण सहयोग, संचार, नेतृत्व और जिम्मेदारी जैसे सामाजिक कौशलों का भी विकास होता है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों में आत्मविश्वास तथा स्व-अधिगम की भावना मजबूत होती है।

अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि PBL को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए शिक्षक का उचित मार्गदर्शन, पर्याप्त समय, संसाधन तथा सुनियोजित गतिविधियाँ आवश्यक हैं। अतः प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम को विद्यालयी शिक्षण प्रक्रिया में उचित रूप से शामिल किया जाना चाहिए, ताकि विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास सुनिश्चित किया जा सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची (Bibliography) :-

1. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (NCERT)। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005। नई दिल्ली : NCERT
2. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (NCERT)। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2023। नई दिल्ली : NCERT
3. शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020। नई दिल्ली : भारत सरकार।
4. अग्रवाल, जे. सी. शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार। नई दिल्ली : विकास पब्लिशिंग हाउस।
5. शर्मा, आर. ए. शिक्षा के सिद्धांत एवं शिक्षण विधियाँ। मेरठ : आर. लाल बुक डिपो।
6. माथुर, एस. एस. शिक्षा मनोविज्ञान। आगरा : अग्रवाल पब्लिकेशन।
7. सक्सेना, एन. आर. शिक्षण अधिगम एवं मूल्यांकन। नई दिल्ली : विनोद पुस्तक मंदिर।
8. त्यागी, गुरुदत्त। आधुनिक शिक्षण विधियाँ। नई दिल्ली : एपीएच पब्लिशिंग कॉरपोरेशन।
9. पाण्डेय, रामशकल। शिक्षा एवं शिक्षण प्रक्रिया। वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन।
10. वर्मा, आर. पी. शिक्षा मनोविज्ञान एवं अधिगम। आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल।
11. भटनागर, सुरेश। शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार। मेरठ : आर. लाल बुक डिपो।
12. सिंह, अरुण कुमार। शैक्षिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी। नई दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास।
13. यादव, सी. पी. शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया एवं नवाचार। नई दिल्ली : शैक्षिक प्रकाशन।
14. शर्मा, आर. ए. शैक्षिक अनुसंधान। आगरा : अग्रवाल पब्लिकेशन।
15. कुमार, कृष्ण। बच्चे की शिक्षा और विद्यालय। नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
16. तिवारी, आर. पी. शिक्षा में नवाचार एवं प्रयोग। नई दिल्ली : एपीएच पब्लिशिंग कॉरपोरेशन।
17. जैन, एस. सी. शिक्षण की आधुनिक प्रविधियाँ। जयपुर : राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी।
18. मिश्रा, एस. एन. शैक्षिक तकनीकी एवं अधिगम। नई दिल्ली : एपीएच पब्लिशिंग कॉरपोरेशन।
19. कौर, हरजीत। बाल-केंद्रित शिक्षा एवं शिक्षण। नई दिल्ली : राधा प्रकाशन।
20. वर्मा, महेश। शिक्षा में क्रियात्मक अनुसंधान एवं नवाचार। नई दिल्ली : शैक्षिक प्रकाशन।

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

इक्कीमीं सदी दे पैह्ले द्हाके दे उपन्यासें च आदर्शवादी रूझान

डॉ. विजय कुमारी
वार्ड नं. 21, मकान नं. 1059
(नज़दीक राधास्वामी सत्संग घर, बट्टल बलियां मार्ग)
तहसील तथा ज़िला - उधमपुर - 182101
जम्मू-कश्मीर (केन्द्रीय प्रदेश)

उपन्यास गद्य साहित्य दी इक ऐसी विधा ऐ, जिसदा घेरा साहित्य दियें दूइयें विधाएं - कविता, नाटक, निबंध, आलोचना बगैरा दे मकाबले च मौकला होंदा ऐ। इस च बक्ख-बक्ख घटनाएं गी कलात्मक ढंगै कन्नै अभिव्यक्त कीता गेदा होंदा ऐ। लेखक किश इक पात्तरें दे स्हारै समाज विशेश दे पूरे परिद्रश्श गी चित्तरदा ऐ, जिस च ओह् पात्तर विचरण करदे न। इ'नें पात्तरें गी गतिशीलता देने गितै लेखक इक मुक्ख लेखक इक मुक्ख घटना दे कन्ने होर नेकें घटनाएं दा समावेश बी करदा ऐ। इस च कथ्य गी विस्तार कन्नै व्यक्त करने दा पात्तरें गी खासा म्हौल मिली जंदा ऐ ते पाठक गी बी घटना दी पूरी जानकारी हासल होई जंदी ऐ।

उपन्यास साहित्य आधुनिक युग दी देन ऐ। डोगरी च उपन्यास साहित्य दा रंग बी भारत दी दुइयें भाषाएं आह्ला लेखा चिरें मगरा होआ। इस च किट्ठे त्र'ऊं उपन्यासकारें 1960 ई. च इस विधा दा श्रीगणेश कीता। जिंदे च प्रो. मदनमोहन शर्मा हुंदा 'धारा ते धूड़ां', नरेन्द्र खजूरिया हुंदा 'शानो' ते वेदराही हुंदा 'हाड़, बेड़ी ते पत्तन' छपियै सामनै आए।

बीह्मी सदी दे उपन्यासें च उपन्यासकारें जीवन दे हर इक पैह्लू दा चित्तरण कीते दा ऐ। इ'नें जित्थें समाजक, राजनीतिक, प्रतीकवाद, आंचलिक ते मार्क्सवादी उपन्यासें राहें ग्रांई लोकें दी अनपढ़ता, भुक्ख'-नंग, गरीबी, उंदी रैह्त-बैह्त, बेमेल ब्याह, दोह्री ब्याह, विधवा-ब्याह, कार व्यवहार ते उंदे आपसी झगडें दी गल्ल इ'नें उपन्यासें च होई दी मिलदी ऐ। इसदे कन्नै गै शैह्री जन जीवन गी ते इतिहासक विशे गी लेइयै बी डोगरी उपन्यास लिखेआ गेआ ऐ।

हून जित्थूं तगर इस शोध पत्तर दा सरबन्ध ऐ तां इस शोध पत्तर च इक्कीमीं सदी दे पैह्ले द्हाके दे मूल डोगरी उपन्यासें गी अधार बनाया गेदा ऐ जिंदी गिनतरी उन्नी (19) ऐ। जिंदे च नरसिह देव जम्वाल हुंदा 'चरखड़ी (2001), शिवदेव सिंह सुशील हुंदा 'खाली अम्बर' (2001), अशोक जेरथ हुंदा 'डिग्गल सोचें दे' (2002), इंदरजीत केसर हुंदे त्रै उपन्यास 'मातरेआं' (2002), 'मूरतो' (2004) ते 'जौल' (2007), पदमा सचदेव हुंदा 'इक ही सुग्गी' (2004), वेदराही हुंदा 'ललद्यद' (2007), ओम गोस्वामी हुंदे चार उपन्यास 'मशुआ बेमुहार' (2008), 'नानू पीर दी जंग दा आखरी किला' (2009), 'सद्धरां पौंगरी पेइयां' (2010), 'उन्नी सौ संताली' (2010), तारा दानपुरी हुंदा 'चेतना' (2008), देशबंधु डोगरा 'नूतन' हुंदे महानावल 'भीमू' दे पैह्ले त्रै भाग, जिंदे च 'बुआ बसैंती दा गढ़' भीमू-I (2009), 'सीतू दा कारखाना' भीमू-II (2009), भीमू-III 'हरदेइए दी गढ़ी' (2009), दर्शन दर्शी हुंदा 'गास ओपरा धरत बगानी' (2009), रतन गोपाल खजूरिया हुंदा 'बेल' (2009), शैलेंद्र सिंह हुंदा 'हाशिये पर' (2010) उपन्यास शामल न।

इ'नें उपन्यासें दा रूझानें दी दृष्टि कन्नै कथ्यगत अध्ययन ते विश्लेषण सिलसिले बारै द्ढंगै कन्नै प्रस्तुत ऐ -

1. आदर्शवादी उपन्यास - आदर्शवादी उपन्यास ओह् ऐ जेह्ड़ा हकीकत दा चित्तरण करदे होई इक उच्च नैतिक जां आध्यात्मिक लक्ष्य दी स्थापना उप्पर जोर दिंदा ऐ, जित्थें पात्तरें गी आदर्शें (जि'यां - सच्चाई, न्यांऽ ते हिरखै) आह्ली बक्खी चलाया जंदा ऐ। इस उप्पर चलने आस्तै जीवन दी कठोर हकीकतें गी नज़रअंदाज करने जां उंदे उप्पर काबू पाने दी लोड़ होंदी ऐ एह् यथार्थवाद थमां बक्ख ऐ। जेह्ड़ा सिर्फ हकीकत दा चित्तरण करदा ऐ ते प्रेमचंद जनेह् लेखक इसगी आदर्शवादी यथार्थवाद दे रूप च पेश करदे न, जित्थें आदर्श यथार्थ दे माध्यम कन्नै स्थापत होंदा ऐ। डोगरी च बी इस चाल्ली दे उपन्यास मिलदे न जिंदे च इंदरजीत केसर हुंदे उपन्यास 'मातरेआं', 'मूरतो' ते 'जौल', वेदराही हुंदा उपन्यास 'ललद्यद' औदे न। 'मातरेआं' उपन्यास इंदरजीत केसर हुंदा दूआ उपन्यास ऐ जेह्ड़ा 2002 ई. च छपेआ। एह् इक नायका प्रधान उपन्यास ऐ जिसदी नायका लीलो ऐ। इसै पात्तर दे चतरफै उपन्यास दा ताना-बाना बुनेआ गेदा ऐ। इस च लेखक ने जन-जीवन च व्याप्त मातरेआं शब्द दे अर्थ गी बदलने दा प्रयास कीते दा ऐ।

मातरेआं दा हिरख इक भावात्मक रिश्ता ऐ, जेह्ड़ा अक्सर परंपरागत धारणा दे उल्ट, डूंहगे हिरख, आदर ते दिक्ख-रिक्ख कन्नै भरोची सकदा ऐ। जित्थै मातरेआं अपने साकनी दे जागतै गी सच्ची मां दी तर्ज पर हिरख, निसुआरथता ते समझदारी दस्सदी ऐ तां रिश्ता समें कन्नै, भरोसे ते नज़दीकी दी मजबूत नींह् उप्पर बनी सकदा ऐ। इस्सै चाल्ली दा उदाहरण जेह्ड़ा मातरेआं दे सच्चे हिरखै दा बखान करदा नज़री औंदा ऐ जिसलै गुआंढिये दा जागत लीलो गी दांदे आह्ली घटना बारै सनांदा ऐ जे सूरजै गी टक्कर मारी ऐ- "इन्ना सुनदा गै लीलो दा थ्राका निकली'आ। नुहाड़े नैन-प्राण ढलोई ऐ। नुहाड़ा जांत गै बकोइ'आ। ही झटके नै उट्ठी अश्कै बिजली दी शॉट लग्गी गेई होंदी ऐ ते बाह्रै ई द्रौड़ी पेई। ओह् बांवरी नंगे पैरें ते खिल्लरे दे बालें द्रौड़दी नि'री सुदाई बझोऐ दी ही।" (इंदरजीत केसर, मातरेआं, सफा - 8)

हस्पताल च लीलो दा हिरख-प्रेम दिक्खी सूरज बी अपनी मातारेआं गी माऊ आह्ला लेखा हिरख करन लगदा ऐ ते हून ओह् लीलो दियां सारियां गल्लां मनदा ऐ ते मन-चित्त लाई पढ़ाई बी करन लगी पौंदा ऐ ते जिसदा नतीजा एह् निकलदा ऐ जे सूरज दसमीं च पैह्ले नम्बर उप्पर आइयै पास होंदा ऐ। जिसलै सूरज दी ारमीं च दाखले दी बारी औंदी ऐ तां लीलो बेचैन होई जंदी ऐ। इत्थै इंदा साथ रमन दिंदा ऐ जेह्ड़ा उपन्यास दा सहायक पात्तर बी ऐ इत्थै उसदी निसुआरथ भावना नज़री औंदी ऐ - "तुसें मिगी सनेहा भेज्जना हा। अऊं कोई इन्ना दूर थोढ़ा आ जां ही मिगी बखला बुझदे ओ।'... खैर दाखला अजें खुल्ले दा ऐ जां बंद होई'अ ऐ? 'अज्ज खीरला दिन ऐ।' ... किन्ने पैसे लोड़दे न? रमन नै पुच्छेआ। 'चार-पंज सौ रपेऽ ते लग्गी गै जाने न'। लीलो दे आखदे गै रमन नै खीस्सेआ पैसे कड्ढे। ... 'उट्ठ फटाफट जा त्यार हो। अज्ज खीरी दिन ऐ। ढिल्ल-मट्ठ निं करेआं। सिद्धा कालज जा ते दाखला लै'। ही लीलो ई आक्खन लगा, "ही इ'यां नि करेओ। जे औखै मौकै अपना कम्म निं आवै तां केह् फैदा।" (इंदरजीत केसर, मातरेआं, सफा - 59-60)

सूरज आदर्शवादी सोच कक्खने आह्ला पात्तर ऐ ओह् डॉ. अभिनाश दी कुड़ी रेशू कन्नै हिरख करदा ऐ। पर सूरज दी गरीबी कारण डॉ. अभिनाश गी एह् रिश्ता मनजूर नेईं होंदा ते इस कारण रेशू बमार पेई जंदी ऐ ते टेस्ट कराने पर पता चलदा ऐ जे उसदा इक गुर्दा खराब होई गेदा ऐ। एह् गल्ल सुनी रेशू दे पिता परेशान होई जंदे न ते अखबारै च गुर्दे बारै इश्तेहार दिंदे न। जिसलै सूरज रेशू दे पिता कन्नै मिलदा ऐ तां ओह् सारी गल्ल सूरज गी सनांदे न - "मुल्लें की लैना ऐ गुर्दा? रेशू ठीक होई जा तां होर मिगी केह् लोड़दा। अऊं देऽ इसी अपना गुर्दा। तुस मासा फिकर निं करो।" (इंदरजीत केसर, मातरेआं, सफा - 133)

इस उपन्यास दे प्रासंगिक कथानकें च सरला ते कृष्ण दे कथानक च आदर्शवाद दा चित्तरण होए दा मिलदा ऐ। सरला लाजो दी स्हेली ऐ। ते सरला दे जिसलै कोई लोआद नेईं होंदी तां उसदी सस्स अपने पुत्तर कृष्ण दा दूआ ब्याह् कराना चांह्दी ऐ एह् सुनी कृष्ण अपनी मां गी प्रतिक्रिया दिन्दे होई गलांदा ऐ - "जे दूई चा बी लोआद नेईं थ्होई तां ही त्रिया ब्याह् करागे। गुड्डी-गुड्डें दी खेढ थोह्ड़ी ऐ, जेह्ड़ी ओइयानें हर रुतै च नमीं रचांदे।" (इंदरजीत केसर, मातरेआं, सफा - 20)

"'मूरतो उपन्यास बी मातरेआं लेखा इक आदर्शवादी नावल ऐ, बो इस च चंगे ते मंदे पात्तरें मंझ मता लम्मा संघर्श ऐ। चंगे पात्तरैं च दानशीलता, सैहनशीलता, माफ करने ते जोर जुलम जरने दी ब्रीती, परमात्मा कन्नै सरीकतिआ'च, चाचा, पटाली -दुजी दसां'च उसगी पंड्डने गी तिआर होई जंदे। उं'दै 'च उस'लै नां कोई तरस-क्यास खाने दा माद्दा ऐ नां कोई मनुक्खी भावना ऐ। मूरतो दै उपदेश करी उसदा चाचा बिशन बदली जंदा ते सौहरा शेंकरू दूऐ दिन भिहागा बदली जंदा ते माफियां मंगदा। आर्दशवादी नावलें दा इय्यै ते सुआत्तम होंदा जे पात्तर अपना सुआत्तम बदलदे रौंह्दे।" (देशबंधु डोगरा 'नूतन', इक्कीमीं सदी दा डोगरी नावल : इक जैज़ा, डोगरी शीराज़ा (कान्फ्रैंस बशेश अंक) 2016, सफा - 50)

'मूरतो' उपन्यास च दो घटना बरोसदी चलदियां न। इस उपन्यास च आतंकवाद दा चित्तरण बी होए दा मिलदा ऐ। जिसा कन्नै उपन्यास दे पात्तरें दे जीवन च मतियां परेशानियां औंदियां न। जिस थमां निजात पाने लेई उ'नेंगी इक समां लग्गी जंदा ऐ। पैह्ली घटना जेह्ड़ी बादै होंदी ऐ ओह् मूरतो दे घरैआह्ले मोहन दे श्हीद होई जाने दी ऐ। इसदे बाद मूरतो उप्पर दुखें दा प्हाड़ डिग्गी पौंदा ऐ। दूई घटना च रेशू दे माता-पिता दा बम्ब बलास्ट होने करी काल होई जंदा ऐ ते त्रैवै कुड़ियां (रेशू, सीमां ते निक्की) जतीम होई जंदियां न।

सूरज मूरतो दा भ्राऽ ऐ जेह्ड़ा रेणू कन्नै हिरख करदा ऐ। ओह् बी आदर्शवादी सोच रक्खने आह्ला पात्तर ऐ उसदी इस सोच दा पता असेंगी उसलै लगदा ऐ जिसलै रेणू दे माता-पिता दी बम्ब बलास्ट च मौत होई जंदी ऐ ते रेशू सभनें कुड़ियें थमां बड्डी ऐ। उसदा रिश्ता सूरज कन्नै होए दा ऐ सूरज इस दुख दी घड़ी च उंदा साथ दिंदा ऐ - "कल्लै ते अज्जै बश्क्हार बड़ा फर्क पेई गेदा ऐ। कल्ल असेईं अपने हिरखै बगैर किश लभदा निं हा ते अज्ज फिलहाल असेंई निक्की ते सीमां दे भविक्खै बारै किश दिक्खना निं चाहिदा। निक्कें दे सुखै अग्गें बड्डें दे सुखै दा कोई मुल्ल नेईं। दुए ई लोऽ देनी होऐ तां लाटुऐं गी जलना गै पौंदा ऐ पैह्लें निक्की ते सीमां ई ब्याहना ते मालकै दी रज़ा होग तां ही अपना किश सोचगे।" (इंदरजीत केसर, मातरेआं, सफा - 194)

'जौल' उपन्यास बी इन्दरजीत केसर हुंदा आदर्शवादी उपन्यास ऐ। एह् इक नायका प्रधान उपन्यास ऐ। उपन्यास दे पात्तरें च बुआ ईशरी, मनिया, सत्या, सत्तो, सैंतराम, बिल्ला पटोआरी, किरपा राम, नानकू बगैरा पात्तरें दा चित्तरण सराह्नेजोग ऐ। इस उपन्यास च बी मते सारे पात्तर अपनी आदर्शवादी सोच कन्नै उपन्यास गी चरम सीमा उप्पर पजांदे न।

अपने देस आस्तै कम्म करना ते राश्ट्रीय हित च योगदान देना आदर्शवादी सोच दा इक म्हत्वपूर्ण हिस्सा ऐ। कीजे एह् राश्ट्र दी भलाई ते प्रगति आस्तै नैतिक मुल्लें, कर्तब्बें ते सांझे मकसद गी दर्शांदा ऐ, निजी सुआरथ थमां उप्पर उट्ठना ते ईमानदारी कन्नै अपने कर्तब्ब दा पालन करना इक मजबूत ते समृद्ध राश्ट्र बनाने दी नींह् ऐ। अपने देसै लेई इस्सै चाल्ली दी सोच रक्खने आह्ला इस उपन्यास दा पात्तर किरपाराम ऐ जेह्ड़ा देसै दे हित लेई किश करी दस्सना चांह्दा ऐ। उसदी मां उसगी नेईं जाने लेई बड़े बास्ते पांदी ऐ - "अ'ऊं तुसेंई सच्ची गल्ल सनाना जे अ'ऊं घरा बाह्र नौकरी करन जां पैहे कमान नि जा'रदा। इक जज़बा ऐ जेह्ड़ा मिगी जाने ई मजबूर करा'रदा ऐ। इक पवित्तर मकसद ऐ जेह्दे आस्तै अ'ऊं जा'रना। सगुआं मिगी सीस देओ जे अ'ऊं इक नेक कम्मै च सुफल होआं। जिस दिन मेरा मकसद पूरा होग उस दिन मेरे नांऽ कन्नै मेरे ग्रांऽ दा नांऽ बी रेडियो, टी.वी ते खबारें च नशर होना। सारे देसै ई पता लग्गना ऐ जे थुहाड़े पुत्तरै किश करी दस्सेआ ऐ।" (इंदरजीत केसर, जौल, सफा - 24)

बलिदान (त्याग) दी भावना आर्दशवाद दा इक म्हत्वपूर्ण हिस्सा ऐ। की जे आदर्शवाद उच्च नैतिक मुल्लें, आदर्शें ते आध्यात्मिक विकास उप्पर जोर दिंदा ऐ, जिस च अक्सर भौतिक सुखें जां सुआरथ दे बलिदान दी लोड़ होंदी ऐ। एह् माह्नू गी भौतिकवाद थमां उप्पर उट्ठने ते उच्च आदर्शें (सत्यम, शिवम, सुंदरम) च समर्पित करने लेई प्रोत्साहित करदा ऐ। इस उपन्यास च ईशरी इक ऐसी नारी पात्तर ऐ जिस उप्पर दुखें दा प्हाड़ डिग्गी पौंदा ऐ। उसदे मां-प्यो दा सुद्धमहादेव जंदे रस्ते च ऐक्सीडेंट होई जंदा ऐ। जिस च उंदी मौत होई जंदी ऐ। घरैआह्ला श्हीद होई जंदा ऐ ते ही सस्स उसगी स्हारा दिंदी ऐ ओह् स्हारा बी पुत्तर वयोग कन्नै चलदा होंदा ऐ ते पिच्छें रेही जंदी इक्कली ईशरी। तां एह् सब दिक्खी उसदा भ्राऽ जगदीश उसगी ख'लके ग्रांऽ चलने लेई बड़ा आखदा ऐ ओह् नेईं मनदी ऐ - "इस घर दीया-बत्ती बालने आह्ला ते कोई र'वै। जे अ'ऊं

गेई उठी तां थेह् भलेआं पटोई जाना ऐ। इस घरै च उं'दे ते माता हुंदे चेत्ते न। अजें ते उं'दियां रूहां बी इत्थें गै न। एह् घर उं'दी नशानी ऐ ते इत्थै ओह् मिगी ब्याहइयै लेई आए हे। एह् उं'दे दित्ते दा घर अ'ऊं कियां छुड़ी सकनी'आं। एह् मेरे आस्तै सारें शा बड्डा तीरथ ऐ।" (इंदरजीत केसर, जौल, सफा - 53)

इक होर दक्ख जेह्ड़ा ईशरी दे आदर्शवादी होने दा प्रमाण दिन्दा ऐ जिसलै उसदा भ्राऽ जगदीश ते कमलो उसदी भरजाई उसगी ब्याह् लेई पुछदे न - "नां भापा जी, नां। उं'दे वंश दा नांऽ लैने आह्ला पैह्लें गै कोई निं रेहा ते जो अ'म्मी -। नां, अ'ऊं उस बारे च सोची गै निं सकदी। जिन्ना चिर अ'ऊं जींदी आं इस घरै च दीया ते बालदी गै रौह्ग ते जाने आह्ले दी तित्थ-ध्याड़े पर सम्हाल करदी रौंह्ग, उ'नेईं पूजदी रौह्ग। अ'ऊं उं'दे ते माता हुंदे चेत्तें दे स्हारै कट्टी लैंग। तुस एह्कड़ी गल्ल गै निं लाओ। जे मीं कोई मुश्कल आई तां तुस है ओ ना दिक्ख-भाल करने ई।" (इंदरजीत केसर, जौल, सफा - 54)

उपन्यास दा पात्तर मनिया बी चंगी सोच रक्खने आह्ला माह्नू ऐ जेह्दियां द'ऊं जनानियां अपने निक्के-निक्के ओइयाणें छुड़ियै सुरग सधारी जंदियां न तां लोक मनियें गी ओइयाणें लेई ही ब्याह् करने लेई मजबूर करदे न तां ओह् आखदा ऐ - "हुन इ'यै ओइयानें मेरी दुनियां न। इ'यै पली जाङन तां अ'ऊं समझङ जे गंगा न्हाता। परमेसर मीं सरमत्थ देऐ।" (इंदरजीत केसर, जौल, सफा - 56)

साढ़ी संस्कृति च 'विश्व कुटुम्बकम्' दी भावना निहत ऐ। एह् उस भावना दी गै देन ऐ जे साढ़े लोकें दी सरल जीवन शैली, सैह्ज सभाऽ, आस्था-विश्वास हरिकाम न। साढ़े भारती जनमानस दी वचार प्रणाली सारे समाज थमां बक्खरी ऐ। इत्थें सारे थमां स्हेई ते उच्चा इंसान उ'यै जेह्दे च माह्नू दे प्रति हिरख ते भाईचारे दी भावना मजूद ऐ। 'जौल' उपन्यास दे कथ्य च बी आपसी भाईचारे ते इंसानी रिश्ते दी मसाल कायम होई दी मिलदी ऐ। इस तत्थ दी नशानदेही करदी उपन्यास दे पात्तर सैंतराम शाह दी सोच ऐ। जेह्ड़ा लोकें दी परवाह कीते बगैर मुसलम कुड़ी जेबां दी मदद-मदाद करदा ऐ। उसदी एह् सोच उसदी आदर्शवादी विचारधारा गी बांदै करदी नज़री औंदी ऐ - "नज़ीर दुए धर्मैं दा हा, सै शाह् हुंदे आसेआ नुहाड़े प इन्ना खर्च करने ते ही ओह्दी कुड़ी गी घर रक्खियै पालने दी गल्ल ग्राऽ दे लोकें ई निं ही जची। शाह् होरें कुसै दी निं ही सुनी। उ'नें गलाया हा जे, 'धर्म बक्खरी गल्ल ऐ ते इन्सानियत बक्खरी। मनुक्ख बनियै मनुक्खै दी पीड़ समझो। जे कोई कुसै दा मासा हारा कम्म करदा ऐ तां लोक सौ बारी ओह्दा धन्नवाद करदे न ते जिस मनुक्खै दी जिंद मेरा कम्म करदे होई गेई ऐ अ'ऊं ओह्दी इक्कली ते जतीम कुड़ी दी सुरत-सम्हाल बी निं लैं। अ'ऊं उसी ठोकरां खाने गी छुड़ी देआं तां एह् कुत्थूं दा इन्साफ ऐ।" (इंदरजीत केसर, जौल, सफा - 105)

अध्यात्मिकता मूल रूपै कन्नै माह्नू दे सर्वांगीन विकास दी प्रक्रिया ऐ। अस जिसलै कुसै कम्मै गी पूरे तन-मन लाइयै करने आं तां ओह् साढ़ी आध्यात्मिक साधना दी प्रक्रिया दा मुंढ मन्नेआ जंदा ऐ। कुसै चीजै गी स्हेई तौरा उप्पर जानना संसारिकता ऐ ते उसदी पूरी डुंगाई च जाना अध्यामिकता ऐ। इस चाल्ली दी अध्यात्मिकता दा चित्तरण वेदराही हुंदे उपन्यास 'ललद्यद' च होए दा मिलदा ऐ। लल इक इतिहासक चरित्तर ऐ। जेह्ड़ी प्रेम मार्गी सूफी सैंते बांगर इक कश्मीरी सेंत ऐ। उसदे गुरू सिद्धमोल न ते ओह् उसगी जीवन च शिव दी भक्ति करने दा पाठ पढ़ाई दिंदे न ते आखदे न जे शिव उसदे अन्दर न ते ओह् उंदी तपाश जारी रक्खै, इस थमां बाद लल दा शिवें गी पाने दा सफर शुरू होई जंदा ऐ - "शिव, शिव" दा जाप करदे करदे ओह् नस्सदी जन्दी ही उसी बझोंदा शिव कुतै इत्थैं न, पर उसी उन्दे दर्शन नेईं हे हुन्दे फी बी जेलै ओह् शिवें गी तुप्पदी तां पीड़ घट्ट से'ई हुंदी ही। खुश्बा तुपाई गै अरोचार ही।" (वेदराही, ललद्यद, सफा - 36)

दुए पासै यंद्रावट लल दा रिश्ता पदमपुर दे पं. बलभद्र हुंदे जागत दामोदर कन्नै तैह् होंदा ऐ ते उसदा ब्याह् होई जंदा ऐ। इसदे बाद लल दा जीवन दुखें, कश्टें कन्नै भरोई जंदा ऐ। सस्सू ते खस्में दे जुल्में शा तंग आई ओह् घरा निकली पौंदी ऐ ते शिव दे प्रेम च पागल जन बनी जंदी ऐ। ओह् अपनी सुद्ध-बुद्ध बसारी, टल्ले-कप्पड़े तज्जी बतेरी फिरन लगदी ऐ। जिसलै उसदे माता-पिता गी उसदे घर छोड़ी जाने दा पता लगदा ऐ तां ओह् उसदी तोप्पा निकली पौंदे न। ते उनेंगी जिसलै 'लल' मिलदी ऐ तां ओह् उसगी घर जाने लेई आखदे न, ओह् साफ-साफ मना करदी दिंदी ऐ। मां उसदी हालत दिक्खी रोन लगी पौंदी ऐ प्यो दे आखने उप्पर जे ओह् जंगला च इक्कले कि'यां रौह्ग तां 'लल' आखदी ऐ - "हर थां हर माह्नू इक्कला

गै बापू ते हर माह्नू दे अन्दर रौह्ने आला शिव शंभू बी इक गै ओह्दे हुन्दे मिगी कुसै दा डर नेईं" ... तुगी इक्कली गी छोड़ियै जाना स्हाड़े आस्तै सम्भव नेईं, इत्थै चोर, डाकू, लुटेरे ..." लल बोली, "मिगी कुसा बाह्रै दे चोरा दा डर नेईं, जेह्दा डर ऐ ओह् मेरे अन्दर ऐ में उसी ब'न्नियै रक्खे दा ऐ, ते शरीरै दे सारे रस्ते बन्द करी ओड़े दे न तां जे मेरा माल-मत्ता चराइयै नेईं लेई जा।" (वेदराही, ललद्यद, सफा - 83-84)

'लल' सभनें थमां तंग आइयै खीर कुटिया छुड़ी दिंदी ऐ ते शिवें दी तपाश च होर अग्गें निकली पौंदी ऐ। हून उसगी गर्मी, सर्दी, भुक्ख, त्रेह्, कश्ट कुसै दी कोई परवाह् नेईं, हून उसदी इकै हठ ही जे ओह् शिवें गी पाइयै गै साह् लैग। इस्सै दौरान उसदी मलाटी सहदेव ते गोनंद कन्नै होंदी ऐ जेह्ड़े उसगी सिद्धमोल गुरू हुंदा सनेहा दिंदे न। जिस च उसदे गुरू होर आखदे न जे ओह् 'बाख' घड़दी रोवै ते खीर ओह् हरमुख प्हाड़ दे कींगरे उप्पर पुज्जी जंदी ऐ। जित्थें उसदी मुलाकात मुजाबर कन्नै होंदी ऐ। ओह् उसगी हज़रत बुलबुल शाह दे मकबरे बारै सनांदे न। ओह् दस्सदे न जे जेह्ड़ा इत्थें मुस्लमान बनदा ऐ उसी जन्नत च जगह् मिलदी ऐ तां 'लल' शिव गी अल्लाह दा नांऽ दिंदे होई आखदी ऐ - "मनुक्ख ते मनुक्खै दे मंझ भेदभाव करना परमेसरै कशा दूर जाना ऐ, जेह्ड़ा हिन्दू ते मुसलमान इच फर्क करदा ऐ। ओह् नास्तक ऐ ओह् अल्लाह दा अनादर करदा ऐ" मुजाबर दे मनै च 'लल' लेई इज्जत जागा दी ही, ओह्दे मूंहां निकली गेआ, "तूं अल्लाह दी बंदी ऐ।" (वेदराही, ललद्यद, सफा - 167)

इक्कमी सदी दे पैह्ले द्हाके दे उपन्यासें दा अध्ययन ते विश्लेषण करने परैंत एह् तथ्य बादै होंदा ऐ जे 'मातरेआं', 'मूरतो', 'जौल' ते 'ललद्यद' उपन्यासें थमां आर्दशवादी रूझानें दे उदाहरण मिलदे न।

समाजिक यथार्थवाद दे उपन्यासें च 'खाली अम्बर', 'नानू पीर दी जंग दा आखरी किला', 'उन्नी सौ संताली', 'सद्धरां पौंगरी पेइयां' ते 'भीमू दा कारखाना', 'हरदेइये दी गढ़ी' औंदे न। 'हाशिए पर' उपन्यास आदर्शोन्मुख यथार्थवाद दे अर्न्तगत औंदा ऐ। परा-यथार्थवाद दे अर्न्तगत 'मशुआ बेमुहार' ते 'चेतना' उपन्यास शामल कीते जंदे न। अतियथार्थवादी उपन्यासें च नरसिंह देव जम्वाल हुंदा 'चरखड़ी' उपन्यास औंदा ऐ। सांस्कृतिक रूझान दे अर्न्तगत 'इक्क ही सुग्गी' ते 'बेल' उपन्यास औंदे न ते 'डिग्गल सोचें दे' उपन्यास संस्मरणात्मक रूझान दे अर्न्तगत औंदा ऐ। एह् इक यात्तरा लेखक ऐ जिस च लेखक स्मरणीय थाह्रें दी यात्तरा दा वर्णन इस उपन्यास च करदा ऐ।

खीर एह् आखेआ जाई सकदा ऐ जे डोगरी च उपन्यास साहित्य दा मुंढ बेशक्क चिरें मगरा होआ पर उपन्यासकारें हर रूझान गी लेइयै अपनी कलम चुवकी ऐ इस करी अज्ज डोगरी उपन्यास साहित्य बाकी भारत दियें भाषाएं कन्नै खड़ोने दा जिगरा रक्खदा ऐ। की जे अज्ज साढ़े डोगरी उपन्यास भारत दी दूइयें भाषाएं च अनुदित होआ करदे न। ते दूइयें भाषाएं दे डोगरी च। एह् इक भाषा लेई गोह् दा विशे होंदा ऐ।

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

जैन आगमों में गति का विश्लेषणात्मक अध्ययन

मुनि सत्यकुमार
शोधछात्र, जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं राजस्थान।

आध्यात्मिक, धार्मिक और दार्शनिक जगत में आत्मवाद, कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद आदि अध्ययन एवं अनुसंधान के मुख्य बिन्दु रहे हैं। आत्मा का चरम लक्ष्य मोक्ष है परन्तु अपने कर्मो के कारण वह चतुर्गत्यात्मक संसार कान्तार में परिभ्रमण करती रहती है। एक भव से दूसरे भव में गमन को 'गति' कहते हैं। अध्ययन के उपरोक्त तीनों आयामों के केन्द्र बिन्दु के स्थान को 'गति' कहा जा सकता है। जैन परम्परा में 'गति' एक महत्वपूर्ण विषय है। इस एक विषय के विस्तृत अध्ययन से अनेक विषयों का अध्ययन प्रासंगिक रूप से स्वतः ही हो जाता है। इस तथ्य को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि अध्यात्म-दर्शन के विशद अध्ययन के लिए 'गति' को समझना एक आधारभूत अपेक्षा है। जैन आगमों में गति पर विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है।

गति की अर्थ यात्रा

सामान्यतः गति का अर्थ गमन करना-जाना आदि रूप में होता है– 'गम्यते इति गतिः'। पर प्रस्तुत संदर्भ में गति का अर्थ एक भवस्थिति से दूसरी भवस्थिति में जाना है या एक जन्म से दूसरे जन्म को प्राप्त होना गति कहलाता है।

जैन पारिभाषिक शब्दकोश में गति को परिभाषित करते हुए बताया गया– 'पर्यायान्तरगमन' एक पर्याय से दूसरे पर्याय में जाना गति है। आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापनावृत्ति में गति की परिभाषा बताते हुए लिखा है– जीव का इस भव से अगले भव में गमन 'गति' है।[1] नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप में भव प्राप्त करना गति है।[2] आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने आवश्यकनिर्युक्ति में गति के बारे में लिखा– जीव तैजस और कार्मण शरीर से युक्त एक भव से दूसरे भव में जाता है, उसे गति कहते हैं। और वह जहां जाकर उत्पन्न होता है वह भी गति शब्द से पहचाना जाता है।[3]

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में गति का अर्थ बताते हुए कहा- एक देश से दूसरे देश को प्राप्त करने का साधन गति कहलाता है।[4]

भट्ट अकलंकदेव ने राजवार्तिकम् में लिखा बाह्य और आभ्यन्तर निमित्त के वश से उत्पन्न होने वाला काय का परिस्पन्दन गति है।[5]

गति के प्रकार

संसार परिभ्रमण का मुख्य हेतु है– कर्म। जब तक जीव कर्म से मुक्त नहीं होता है तब तक उसे एक जन्म से दूसरे जन्म में गमन करना पड़ता है। उसके गमन को चार स्थानों से जोड़ा जाता है अर्थात् जीव जब गमन करता है तो वह चार स्थानों में जाकर उत्पन्न होता है। वे स्थान हैं– नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।[6] अपेक्षा भेद से उत्पत्ति स्थान को भी गति कहा जाता है। इस प्रकार गति के भी चार प्रकार हो जाते हैं।

आवश्यकवृत्ति हारिभद्रीयाकृत में भी गति के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं– नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।[7]

आइए हम, एक-एक गति को विस्तार से समझने का प्रयास करें–

1. नरक गति

वह स्थान जहां प्राणी अपने किये हुए पाप कर्मों के कारण अत्यन्त दुःख-वेदना का अनुभव करता है वह नरक है। आचार्य मलयगिरि ने नंदीवृत्ति में कहा– जहां प्राणी अपनी योग्यता के अनुसार बुलाये जाते हैं वह नरक है। और वहां उत्पन्न जीव को नारक कहा जाता है।[8]

नरक भूमियां

नारकीय जीवों का निवास स्थान अधोलोक है। उनके निवास स्थान को ही नरक भूमि कहते हैं। ये नरक भूमियां सात हैं। जो समश्रेणी में न होकर एक-दूसरे के नीचे अवस्थित हैं। सात नरक भूमियां हैं एवं सात उनके गोत्र हैं।

नरक भूमियां– धर्मा, वंशा, शैला, अंजना, रिष्टा मघा व माघवती तथा

उनके गोत्र– रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा, तमतमाप्रभा हैं।[9]

मकान में जैसे मंजिले होती हैं वैसे ही नरकों में अन्तर होते हैं। और मकान में दो मंजिल के बीच में छत होती है वैसे ही दो अन्तर के बीच में प्रतर होते हैं। ये प्रतर तीन हजार योजन चौड़े होते हैं। इसमें ऊपर और नीचे के एक-एक हजार योजन ठोस भाग को छोड़कर मध्य के एक हजार योजन में नरकावास होते हैं। नरक भूमियों की मोटाई, चौड़ाई, अन्तर, प्रतर, नरकावास आदि को यंत्र के माध्यम से दर्शाया जा रहा है–

नरक नाम	नरक गोत्र	मोटाई	चौड़ाई	अन्तर	प्रतर	नरकावास
धर्मा	रत्नप्रभा	180000 योजन	1 रज्जु	12	13	30 लाख
वंशा	शर्कराप्रभा	132000 योजन	2 रज्जु	10	11	25 लाख
शैला	बालुकाप्रभा	128000 योजन	3 रज्जु	8	9	15 लाख
अंजना	पंकप्रभा	120000 योजन	4 रज्जु	6	7	10 लाख
रिष्टा	धूमप्रभा	118000 योजन	5 रज्जु	4	5	3 लाख
मघा	तमप्रभा	116000 योजन	6 रज्जु	2	3	1 लाख में 5 कम
माघवती	तमतमाप्रभा	108000 योजन	7 रज्जु	0	1	5

नारक जीवों का जन्म-मरण

नारकीय जीवों के जन्म को उपपात कहते हैं।[10] नारक जीवों का उत्पत्ति स्थान कुंभि कहा जाता है। ये कुंभियां चार तरह की– ऊंट की गर्दन जैसी, घृत के कुप्पे जैसी, डिब्बे जैसी और अफीम के डोडे के समान होती हैं। नारक जीव आयुष्य पूर्ण कर मनुष्य या तिर्यंच गति में ऊपर जाते हैं इसलिए उनके मरण को उद्वर्तन कहते हैं।[11]

नरक में वेदना

नरक भूमि और वहां रहने वाले नारकीय जीवों का सम्पूर्ण जीवन अत्यन्त दुःखमय, कष्टमय और वेदना प्रधान होता है। नारकीय जीव नरक भूमियों में तीन तरह की वेदना का वेदन करते हैं–

1. परमाधार्मिक देवों द्वारा दी जाने वाली वेदना, 2. परस्पर उदीरित वेदना, 3. क्षेत्रकृत वेदना।

परमाधार्मिक देवकृत वेदना प्रथम तीन नरक भूमियों तक ही होती है, शेष नरक भूमियों में केवल परस्परोपदीरित वेदना व क्षेत्रकृत वेदना ही होती है।[12]

ठाणं एवं भगवई आगम में नरक भूमि में दस प्रकार की वेदनाओं का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है। वे दस प्रकार की

वेदनाएं हैं– शीत, उष्ण, क्षुधा, पीपासा, खुजलाना, परतंत्रता, भय, शोक, जरा और व्याधि।[13]

नरक भूमियों में नारकीय जीव अत्यन्त वेदना का अनुभव प्रतिक्षण करते हैं। कहते हैं आंख की पलक झपके इतनी देर भी सुख का अनुभव वहां नहीं है[14], फिर भी तीर्थंकर परमात्मा के कल्याणक अवसर– च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण पर नारकीय जीवों को भी सुख की अनुभूति होती है, ऐसा परमपूज्य श्रीमद् जयाचार्य ने अपनी लोकप्रिय रचना "चौबीसी" की बाइसवीं गीतिका में प्रभु अरिष्टनेमि की स्तुति करते हुए लिखा है–

'नेरिया पिण पामै मन मोद, तुझ कल्याण सुर करत विनोद।
प्रभु नेम स्वामी! तू जगनाथ अन्तर्यामी।'

नरक गति में जाने के कारण

कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता, हर कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। नरक गति के भीषण दुःखों को देखकर सहज जिज्ञासा होती है कि इनका कारण क्या है? भीतर उठी जिज्ञासा की लहर का समाधान हमें सूत्रकृतांगसूत्र, ठाणं, भगवई, उत्तराध्ययन, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथों में उपलब्ध होता है। वहां नरक जाने के मुख्य कारण बताएं हैं–

क्रूरपापों का आचरण, महान हिंसा का आचरण, असंयम में अनुराग, आश्रवों के सेवन में मूर्च्छित, महापरिग्रह, पंचेन्द्रियवध, कुणापाहार (मांसाहार), मिथ्यादृष्टि वाला आदि।[15]

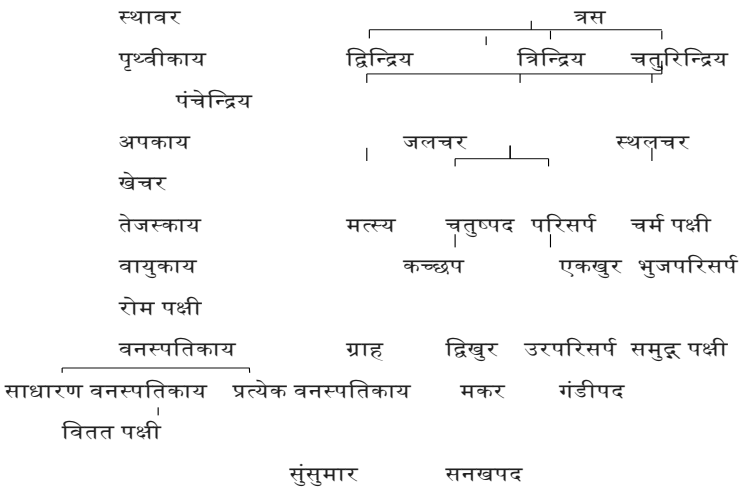
सूत्रकृतांग सूत्र में नारकीय दुःखों, वेदनाओं से बचने के उपाय बताते हुए कहा है कि अगर जीव हिंसा से विरत रहता है, सत्य आदि का आचरण करता है, असंग्रह का पालन करता है, कषाय निग्रह करता है, अठारह पापों से विरत रहता है, और संयम का अनुपालन करता है तो वह नारकीय वेदनाओं से बच सकता है।[16]

2. तिर्यंच गति

गति चक्र के क्रम में दूसरी गति तिर्यंच गति कही गई है। तिर्यंच गति जीवों का अक्षयकोष है। तिर्यंच का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–जो तिरछी गति करते हैं, वे तिर्यंच हैं। और तिर्यंच का प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है–जिन जीवों के तिर्यंच गति नाम कर्म का उदय होता है, वे तिर्यंच हैं। तिर्यंच आयु कर्म के उदय से जीव तिर्यंच गति का आयुष्य भोगते हैं।[17]

तिर्यंच गति का स्वरूप : तिर्यंच गति में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों का समावेश हो जाता है। तिर्यंच गति को समझने के लिए यह वर्गीकरण यंत्र रूप में दिया जा रहा है–

तिर्यंच गति



तिर्यंच गति में जन्म-मरण

जीव जब तक कर्मयुक्त रहता है उसे बार-बार जन्म भी लेना पड़ता है और भवस्थिति पूर्ण कर उसकी मृत्यु भी होती है। तिर्यंच जीवों का जन्म-मरण– पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय और वायुकाय के जीव एक मुहूर्त में उत्कृष्टतः बारह हजार आठ सौ चौबीस बार, प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव बत्तीस हजार बार, साधारण वनस्पतिकाय के जीव पैसठ हजार पांच सौ छत्तीस बार, द्वीन्द्रिय के जीव अस्सी बार, त्रीन्द्रिय के जीव साठ बार, चतुरिन्द्रिय के जीव चालीस बार, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के जीव चौबीस बार व संज्ञी पंचेन्द्रिय के जीव एक बार जन्म-मरण कर सकते हैं।[18]

तिर्यंच गति में जाने के कारण

तिर्यंच गति को अशुभ गति ही माना जाता है क्योंकि इसमें साधना के योग्य विवेक नहीं होता। वध, बंधन, परवशता आदि दुःख भी बहुलता से पाए जाते हैं। जीव के तिर्यंच गति में जाने के हेतु इस प्रकार बताएं गए हैं–

1. माया (मानसिक कुटिलता)
2. निकृत (ठगाई)
3. असत्यवचन
4. कूट तोल-माप
5. तिर्यक् योनिक आयुष्य कर्म शरीर प्रयोग नाम कर्म का उदय आदि।[19]

3. मनुष्य गति

चार प्रकार की गतियों में तीसरी गति है– मनुष्य गति। सबसे विकसित व आध्यात्म विकास की सर्वोच्च भूमिका प्राप्त करने का अधिकार एकमात्र मनुष्य गति के जीवों को ही है। मनुष्य का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– 'मत्वा हिताहितं ज्ञात्वा कर्माणि सिव्यति इति मनुष्याः।' अर्थात् जो अपने हित-अहित का विचार करके कार्य करता है वह मनुष्य है। मनुष्य नाम कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली अवस्था को मनुष्य गति कहते हैं।

मनुष्य के प्रकार : मनुष्य के दो प्रकार हैं–

1. गर्भज मनुष्य।
2. सम्मूर्च्छिम मनुष्य।[20]

जिन मनुष्य की उत्पत्ति स्त्री और पुरुष के रज तथा वीर्य से होती है, वे गर्भज मनुष्य कहलाते हैं अथवा जिन जीवों की गर्भ में उत्पत्ति, व्युत्क्रान्ति होती है वे गर्भज कहलाते हैं।

जो मनुष्य गर्भ से उत्पन्न नहीं होते बल्कि गर्भज के मल-मूत्र आदि चौदह अशुचि स्थानों से उत्पन्न होते हैं वे सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं।[21] इनमें मनुष्य जैसा कुछ भी नहीं होता है पर फिर भी मनुष्य नाम कर्म के उदय से ये सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं। स्त्री और पुरुष के संयोग के बिना ही लोकाकाश में बिखरे हुए परमाणु और विशिष्ट पर्यावरण का योग ही इनकी उत्पत्ति का निमित्त बनता है। ये जीव मन रहित अर्थात् असंज्ञी होते हैं। ये जीव बहुत सूक्ष्म होते हैं हमें आंखों से दिखाई नहीं देते हैं।

गर्भज मनुष्य के प्रकार : गर्भज मनुष्य के तीन प्रकार हैं–कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज।[22]

जिस क्षेत्र में कृषि, व्यापार आदि कर्म तथा संयम, तप आदि अनुष्ठान होते हैं वह कर्मभूमि कहलाती है, और वहां जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं वे कर्मभूमिज मनुष्य कहलाते हैं। कर्मभूमियां पन्द्रह हैं।

जिन मनुष्यों को अपने जीवन निर्वाह के लिए कृषि, मसि, असि, व्यापार आदि करने की अपेक्षा नहीं होती, जिनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों के माध्यम से होती है उन्हें अकर्मभूमिज मनुष्य कहते हैं। इन्हें कर्म करने की अपेक्षा नहीं

होती है। अकर्मभूमियां तीस हैं।

लवण समुद्र के मध्य जो एकोरुक आदि छप्पन द्वीप हैं वे अन्तर्द्वीप कहलाते हैं। वहां उत्पन्न होने वाले मनुष्य व तिर्यंच अन्तर्द्वीपज कहलाते हैं।

मनुष्य की अवगाहना और आयु स्थिति

अवगाहना का संबंध शरीर की लम्बाई से है। ऐसे आकाश प्रदेश को अवगाह करे उसे अवगाहना कहते हैं। अलग-अलग गतियों में जीव जितने काल तक रहता है उसे आयु स्थिति कहते हैं।

सम्मूर्च्छिम मनुष्य की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग होती है और आयु स्थिति जघन्य तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होती है।[23]

संज्ञी मनुष्य की जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग तथा उत्कृष्ट अवगाहना तीन गव्यूत (तीन कोस) प्रमाण होती है। और आयु स्थिति गर्भज मनुष्य की जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है।[24]

मनुष्य गति में जाने के कारण : मनुष्य गति में भी जाने के चार कारण हैं– प्रकृति भद्रता, प्रकृति विनीतता, सदय-हृदयता, परगुणसहिष्णुता से।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त दो अन्य कारण भी बतलाएं हैं– अल्पआरंभ, अल्पपरिग्रह।[25]

अध्यात्म विकास की सर्वोच्च भूमिका है– सिद्धत्व। उस परम लक्ष्य तक मनुष्य गति के माध्यम से ही पहुंचा जा सकता है। मनुष्य गति के इस विवेचन से हमारे भीतर अध्यात्म का भाव जाग्रत हो और आगे से आगे हम साधना के क्षेत्र में बढ़ते रहे यह श्रेयस्कर है।

3. देवगति

जोब जीव अपने स्वरूप से दीप्तिमान होता है, वह देव कहलाता है– देव्यंति स्वरूप इति देवा। तात्त्विक परिप्रेक्ष्य में जो देव नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हो उसे देव कहते हैं। और देवों के सम्पूर्ण समवाय को देवगति कहते हैं। देवगति में देव निरुपम क्रीड़ा का अनुभव करते हैं, इसलिए भी वह देव हैं। देवगति भोग प्रधान गति है। देवों के शरीर में हड्डी-मांस, रक्त, चर्बी, मल-मूत्र आदि नहीं होते। वे समचतुरस्त्र संस्थान से संस्थित होते हैं। देव अत्यधिक ऋद्धि सम्पन्न होते हैं। देवों के चार प्रकार हैं– भवनपति देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव।[26]

देवगति में जाने के कारण : प्रत्येक गति में जाने के कारण की तरह देव गति में भी जाने के कारण आगम शास्त्र में बताएं गए हैं–

1. सराग संयम
2. संयमासंयम
3. बाल तपरूकर्म
4. अकामनिर्जरा
5. देवायुष्य कर्म शरीर प्रयोग नामकर्म का उदय।[27]

आत्मवाद, कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद आदि सिद्धांतों का सहचारी सिद्धांत है– गतिवाद। यह जैनदर्शन का प्रमुख अंश है। जब तक आत्मा सभी कर्मों से मुक्त नहीं हो जाती तब तक चतुर्गत्यात्मक संसार में गति करती रहती है। चार गतियों में तिर्यंच और मनुष्य गति प्रत्यक्ष है। देव और नरक गति युक्ति से प्रत्यक्ष है। एक भव से प्रस्थान के बाद और दूसरे भव में पहुंचने से पूर्व के कालांश को अन्तराल गति कहते हैं। अन्तराल गति के संदर्भ में गति चक्र को मानने वाले अन्य धर्म दर्शन भी मौन हैं। किन्तु तीर्थंकर परमात्मा ने अपने केवलज्ञान द्वारा इसका सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया है।

चार गतियों में नरकगति की बहुत वेदनामय स्थिति है। कर्म के अनुसार इसकी सात पृथ्वियां बताई गई हैं। जहां जीव

अपने कृत कर्मों का फल भोगता है। दूसरी अशुभ गति तिर्यंच गति कही गई है। काल की अपेक्षा से यहां सर्वाधिक लम्बे समय तक कर्म फल भोगने पड़ते हैं। तिर्यंच में विवेक चेतना जाग्रत नहीं होती अतः आत्म विकास का अवसर उनको नहीं मिलता। तीसरी गति मनुष्य गति है। इसे सर्वश्रेष्ठ गति माना जाता है क्योंकि मोक्ष प्राप्ति की यह अनिवार्य अर्हता है। बिना मनुष्य बनें कोई भी जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। मनुष्य के अनेक रूपों का वर्णन जैनागमों में किया गया है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से जिन पर अनुसंधान के अनेक अवसर हैं। चौथी गति देव गति है। ये मनुष्य की तुलना में ऋद्धि, शक्ति, ऐश्वर्य आदि की दृष्टि से बहुत विकसित होते हैं। पर ये संयम की साधना नहीं कर सकते।

चार गतियों का यह संक्षिप्त विश्लेषणात्मक अध्ययन अध्यात्म दर्शन, विज्ञान आदि की ज्ञान शाखाओं के अध्ययन एवं अनुसंधान के लिए नई दिशाओं का उद्घाटन करने वाला होगा ऐसा विश्वास है।

सन्दर्भ सूची

1. जैन पारिभाषिक शब्दकोश, पृ. 103
2. प्रज्ञापना वृत्ति, पत्र 469
   गम्यते -तथा-विधकर्मसचिवैः प्राप्यते इति गतिः - नारकत्वादिपर्याय परिणतिः।
3. आवश्यक निर्युक्ति - 1435
4. सर्वार्थसिद्धि 4/21
   देशद्देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः।
5. राजवार्तिकम्, 4/21, 1/236/3
   उभयनिमित्तवशात् उत्पद्यमानः कायपरिस्पन्दो गतिरित्युच्यते।
6. ठाणं, 4/285-287
7. आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति भाग – 2 पृ. 185
8. नंदी सूत्र वृत्ति, पत्र 77
9. (क) ठाणं–7/23-24
   (ख) भगवई – 1/211
   (ग) उत्तराध्ययन- 36/155,157
10. ठाणं 1/28, 2/250
11. ठाणं 2/251
12. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ.123
13. (क) ठाणं – 10/108
    (ख) भगवई – 7/162
14. सूत्रकृतांग चूर्णि, 130
15. (क) सूयगडो, 1/5/3-5
    (ख) ठाणं, 4/628,
    (ग) भगवई, 8/425
    (घ) उतराध्ययन सुखबोधा वृत्ति, पत्र 67
16. सूयगडो, 1/5/51-52
17. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्यवृत्ति, पत्र 643, 644
18. अवबोध पृ. 73

19. (क) ठाणं – 4/629,
    (ख) भगवई – 8/426
20. उत्तराध्ययन – 36/195
21. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति - पत्र 439
22. (क) ठाणं – 3/53
    (ख) उत्तराध्ययन – 36/196
23. अनुयोगद्वार चूर्णि पृ.– 69
24. (क) उत्तराध्ययन 10/13
    (ख) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति – पत्र- 446
25. ठाणं – 4/630
26. (क) ठाणं – 4/124
    (ख) उत्तराध्ययन 36/204
27. (क) ठाणं – 4/631
    (ख) भगवई - 8/428

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

पर्युषण : प्राचीन साधना, आधुनिक जीवन की आवश्यकता

डॉ. अमिता जैन
सह-आचार्य, शिक्षा विभाग,
जैन विश्व भारती संस्थान लाडनूं, नागौर
amitajainjuly1@gmail.com

सारांश

पर्युषण महापर्व जैन धर्म की ऐसी आध्यात्मिक परंपरा है, जिसका मूल उद्देश्य आत्मनिरीक्षण, आत्मशुद्धि और आत्मसंयम है। यह पर्व केवल धार्मिक अनुष्ठानों और उपवास तक सीमित नहीं, बल्कि अहिंसा, क्षमा, अपरिग्रह, संयम, स्वाध्याय और तप जैसे जीवन-मूल्यों को व्यवहार में उतारने का अवसर प्रदान करता है। आधुनिक युग में विज्ञान और तकनीक ने जीवन को सुविधासंपन्न बनाया है, किंतु तनाव, उपभोक्तावाद, हिंसा, असंतोष, पारिवारिक दूरी और पर्यावरण संकट जैसी समस्याएँ भी बढ़ी हैं। ऐसे समय में पर्युषण की शिक्षाएँ व्यक्ति और समाज को संतुलित एवं मूल्यपरक जीवन की दिशा दे सकती हैं। क्षमा मनुष्य को द्वेष से मुक्त करती है, संयम इच्छाओं और व्यवहार को नियंत्रित करता है तथा अपरिग्रह अनावश्यक संग्रह और उपभोग पर अंकुश लगाता है। अहिंसा केवल शारीरिक हिंसा से बचना नहीं, बल्कि विचार और वाणी में भी संवेदनशीलता का आग्रह करती है। डिजिटल युग में इन मूल्यों को डिजिटल संयम, सकारात्मक संवाद और जिम्मेदार उपभोग से जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार पर्युषण प्राचीन साधना होते हुए भी वर्तमान जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं से गहराई से जुड़ा हुआ है।

मुख्य शब्द : पर्युषण, आत्मशुद्धि, अहिंसा, क्षमा, अपरिग्रह, आत्मचिंतन, आधुनिक जीवन।

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति में पर्व केवल उत्सव नहीं, बल्कि जीवन-मूल्यों के पुनर्स्मरण और आत्मपरिष्कार के अवसर भी रहे हैं। जैन धर्म का पर्युषण महापर्व इसी परंपरा का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका केंद्र बाहरी प्रदर्शन से अधिक अंतर्मुखी साधना और आत्ममूल्यांकन है। पर्युषण व्यक्ति को अपनी दिनचर्या की आपाधापी से कुछ समय विराम लेकर स्वयं से प्रश्न करने की प्रेरणा देता है—मेरे विचार और व्यवहार कैसे हैं? क्या मेरी वाणी से किसी को दुःख पहुँचा? क्या मेरे भीतर क्रोध, अहंकार या लोभ बढ़ रहा है? क्या मैं आवश्यकता से अधिक संग्रह कर रहा हूँ? ऐसे प्रश्न व्यक्ति को अपने दोषों की पहचान और सुधार की ओर ले जाते हैं। आज का मनुष्य भौतिक सुविधाओं से संपन्न होते हुए भी तनाव, प्रतिस्पर्धा, असंतोष और संबंधों में दूरी का अनुभव कर रहा है। इसलिए पर्युषण का आत्मचिंतन, संयम और क्षमा का संदेश आधुनिक जीवन के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

पर्युषण का मूल भाव

पर्युषण का केंद्रीय भाव है—"बाह्य व्यस्तताओं से कुछ समय हटकर आत्मा और अपने आचरण के निकट जाना।" इस

दौरान तप, उपवास, स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिक्रमण और क्षमापना जैसी साधनाएँ की जाती हैं। इनका उद्देश्य केवल धार्मिक कर्तव्य पूरा करना नहीं, बल्कि मन, वचन और कर्म में शुद्धता लाना है। पर्युषण की सार्थकता तभी है जब साधना जीवन-व्यवहार में परिवर्तन लाए। यदि उपवास और धार्मिक क्रियाओं के साथ क्रोध, अहंकार, लोभ और कटुता में कमी आए, तभी पर्व का वास्तविक उद्देश्य पूरा होता है।

आधुनिक जीवन में पर्युषण की प्रासंगिकता

1. क्षमा : संबंधों में नई शुरुआत- पर्युषण की सबसे महत्वपूर्ण शिक्षाओं में क्षमा का स्थान है। क्षमा का अर्थ केवल औपचारिक रूप से 'माफ करना' नहीं, बल्कि मन में जमा द्वेष और कटुता को छोड़ना है। आज परिवार, कार्यस्थल और सामाजिक जीवन में छोटी-छोटी गलतफहमियाँ लंबे विवादों का कारण बन जाती हैं। यदि व्यक्ति अपनी भूल स्वीकार करने और दूसरे को क्षमा करने का साहस रखे, तो अनेक संबंध टूटने से बच सकते हैं। उदाहरण के लिए, दो मित्र किसी बात पर वर्षों से एक-दूसरे से नाराज हैं। पर्युषण का अवसर उन्हें पहल करके संवाद करने और पुरानी कटुता समाप्त करने की प्रेरणा दे सकता है। यहाँ क्षमा कमजोरी नहीं, बल्कि मानसिक स्वतंत्रता का माध्यम बनती है।

2. अहिंसा : केवल शरीर नहीं, वाणी और विचार भी- जैन दर्शन में अहिंसा व्यापक जीवन-मूल्य है। आधुनिक संदर्भ में इसका अर्थ शारीरिक हिंसा से बचने के साथ-साथ मानसिक और भाषिक हिंसा से भी बचना है। सोशल मीडिया पर अपमानजनक टिप्पणियाँ और साइबर बुलिंग इसके आधुनिक उदाहरण हैं। किसी मत से असहमति होना स्वाभाविक है, लेकिन असहमति को अपमान में बदल देना अहिंसक संवाद की भावना के विपरीत है। पर्युषण हमें बोलने से पहले विचार करने की सीख देता है—क्या मेरी बात सत्य होने के साथ-साथ आवश्यक और संवेदनशील भी है?

3. अपरिग्रह : उपभोक्तावाद के बीच संतुलन- आधुनिक जीवन में वस्तुओं का संग्रह अक्सर आवश्यकता से अधिक होकर प्रतिष्ठा और प्रदर्शन का माध्यम बन जाता है। पर्युषण से जुड़ा अपरिग्रह व्यक्ति को आवश्यकता और लालसा के बीच अंतर समझने की प्रेरणा देता है। उदाहरण के लिए, घर में अनेक ऐसी वस्तुएँ जमा हो सकती हैं जिनका लंबे समय से उपयोग नहीं हुआ। उन्हें जरूरतमंदों को देना, अनावश्यक खरीदारी रोकना और संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करना अपरिग्रह की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है। अपरिग्रह का उद्देश्य गरीबी को आदर्श बनाना नहीं, बल्कि वस्तुओं के प्रति आसक्ति और अनावश्यक उपभोग को नियंत्रित करना है।

4. संयम : डिजिटल युग की आवश्यकता- आज मोबाइल और सोशल मीडिया जीवन का अभिन्न हिस्सा हैं। इनके उपयोग ने संचार को आसान बनाया है, परंतु अनियंत्रित उपयोग समय और एकाग्रता को प्रभावित करता है। पर्युषण के संयम-सिद्धांत को आधुनिक जीवन में डिजिटल संयम से जोड़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए, व्यक्ति प्रतिदिन कुछ समय मोबाइल और सोशल मीडिया से दूरी बनाकर स्वाध्याय, ध्यान, परिवार या सेवा के लिए दे सकता है। इसी प्रकार भोजन, धन और मनोरंजन में संयम व्यक्ति को अधिक संतुलित जीवन की ओर ले जाता है।

5. आत्मचिंतन : मानसिक संतुलन का आधार- पर्युषण व्यक्ति को दूसरों की कमियाँ देखने के बजाय स्वयं का मूल्यांकन करना सिखाता है। प्रतिदिन कुछ समय शांत बैठकर अपने विचारों और व्यवहार की समीक्षा करना आत्मविकास का प्रभावी माध्यम हो सकता है। व्यक्ति स्वयं से पूछ सकता है—

- आज मैंने किसके साथ अच्छा व्यवहार किया?
- क्या मेरी किसी बात से किसी को दुःख पहुँचा?
- मैंने क्रोध पर कितना नियंत्रण रखा?
- क्या मैंने आवश्यकता से अधिक उपभोग किया?
- कल मुझे क्या सुधार करना है?

ऐसा आत्मसंवाद व्यक्ति को अपने व्यवहार के प्रति सजग बनाता है।

पर्युषण और परिवार

परिवार में संवाद की कमी आधुनिक जीवन की बड़ी चुनौती है। पर्युषण इस दूरी को कम करने का अवसर बन सकता है। परिवार के सदस्य एक-दूसरे के प्रति क्षमा और कृतज्ञता व्यक्त करें तथा बिना आरोप लगाए अपनी बात साझा करें, तो संबंधों में विश्वास बढ़ सकता है। एक सरल वाक्य—"मेरी किसी बात या व्यवहार से आपको दुःख पहुँचा हो तो मुझे क्षमा करें"—वर्षों की कटुता को समाप्त करने की शुरुआत बन सकता है।

पर्युषण और पर्यावरण- अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धांत पर्यावरण संरक्षण से भी जुड़े हैं। प्राकृतिक संसाधनों का अनावश्यक दोहन, अत्यधिक उपभोग और अपव्यय पर्यावरणीय संकट को बढ़ाते हैं। पर्युषण के अवसर पर जल-बचत, ऊर्जा-संरक्षण, प्लास्टिक का कम उपयोग, वस्तुओं का पुनःउपयोग और जीव-जगत के प्रति करुणा जैसे संकल्प लिए जा सकते हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक साधना पर्यावरणीय जिम्मेदारी का रूप ले सकती है।

पर्युषण और शिक्षा- पर्युषण के मूल्यों को शिक्षा से जोड़ना नई पीढ़ी में नैतिक चेतना विकसित करने का प्रभावी माध्यम हो सकता है। विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अहिंसा, क्षमा, संयम और अपरिग्रह पर परिचर्चा, निबंध-लेखन, ध्यान-सत्र तथा सेवा-कार्य आयोजित किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, विद्यार्थियों को एक सप्ताह के लिए अपनी किसी एक नकारात्मक आदत की पहचान कर उसमें सुधार का संकल्प दिया जाए। इससे पर्युषण केवल पाठ्य-विषय न रहकर व्यवहारिक अनुभव बन सकता है।

सामाजिक सद्भाव और अनेकांत दृष्टि- आज समाज में वैचारिक मतभेद तेजी से बढ़ रहे हैं। जैन दर्शन का अनेकांत दृष्टिकोण हमें यह समझने की प्रेरणा देता है कि किसी विषय को देखने के अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। यह दृष्टि असहमति के बावजूद संवाद और सम्मान बनाए रखने में सहायक है। पर्युषण की क्षमा और आत्मचिंतन की भावना के साथ अनेकांत का समन्वय सामाजिक सद्भाव को मजबूत कर सकता है। इसका संदेश है कि मतभेद को मनभेद में बदलने की आवश्यकता नहीं है।

पर्युषण को जीवन-पद्धति बनाने की आवश्यकता

पर्युषण की वास्तविक प्रासंगिकता तभी सिद्ध होगी जब इसके मूल्य पर्व की अवधि समाप्त होने के बाद भी जीवन में बने रहें। इसके लिए छोटे-छोटे संकल्प प्रभावी हो सकते हैं—

- प्रतिदिन कुछ समय आत्मचिंतन।
- सप्ताह में एक दिन डिजिटल संयम।
- अनावश्यक वस्तुओं का त्याग।
- क्रोध के समय मौन और विवेक का अभ्यास।
- किसी पुराने विवाद को संवाद से समाप्त करने का प्रयास।
- जल, भोजन और ऊर्जा की बर्बादी रोकना।
- नियमित स्वाध्याय और सेवा।

इस प्रकार पर्युषण वार्षिक धार्मिक आयोजन से आगे बढ़कर जीवन-व्यवहार का हिस्सा बन सकता है।

एक समकालीन उदाहरण- एक युवा लगातार काम और सोशल मीडिया में व्यस्त रहने के कारण तनावग्रस्त है। परिवार के लिए समय कम है और छोटी-छोटी बातों पर उसे क्रोध आता है। पर्युषण के दौरान वह पाँच संकल्प करता है—प्रतिदिन 15 मिनट आत्मचिंतन, सीमित सोशल मीडिया उपयोग, भोजन में संयम, परिवार के साथ नियमित संवाद और एक पुराने विवाद को समाप्त करने का प्रयास। कुछ समय बाद उसे अपने समय, व्यवहार और संबंधों में सकारात्मक परिवर्तन दिखाई देता है। यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि पर्युषण की शिक्षाएँ केवल धार्मिक अवसर तक सीमित न रहकर दैनिक जीवन

में व्यावहारिक परिवर्तन ला सकती हैं।

निष्कर्ष

पर्युषण महापर्व प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक परंपरा का ऐसा पर्व है, जिसकी प्रासंगिकता आधुनिक युग में और अधिक बढ़ गई है। आज मनुष्य के पास साधन बहुत हैं, लेकिन संतोष और शांति का अभाव दिखाई देता है। ऐसे समय में पर्युषण आत्मचिंतन, क्षमा, अहिंसा, संयम और अपरिग्रह के माध्यम से जीवन को संतुलित करने का मार्ग दिखाता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह केवल बाहरी परिवर्तन की बात नहीं करता, बल्कि व्यक्ति के भीतर परिवर्तन को प्राथमिकता देता है। क्षमा संबंधों को सुधारती है, अहिंसा संवेदनशीलता बढ़ाती है, संयम जीवन को अनुशासित करता है और अपरिग्रह उपभोग की अति को रोकता है। आत्मचिंतन इन सभी मूल्यों को आत्मसात करने का आधार बनता है। आधुनिक संदर्भ में पर्युषण के संदेश को डिजिटल संयम, पर्यावरण संरक्षण, पारिवारिक संवाद, नैतिक शिक्षा और सामाजिक सद्भाव से जोड़ा जा सकता है। इस दृष्टि से पर्युषण अतीत की केवल धार्मिक परंपरा नहीं, बल्कि वर्तमान की आवश्यकता है।

पर्युषण का वास्तविक संदेश है—बाहर की दुनिया को बदलने से पहले अपने भीतर झाँकिए, स्वयं में शांति, संयम और करुणा विकसित कीजिए। क्योंकि व्यक्ति का आंतरिक परिवर्तन ही परिवार, समाज और अंततः विश्व में सकारात्मक परिवर्तन का आधार बन सकता है। अतः कहा जा सकता है—"पर्युषण प्राचीन साधना है, किंतु उसका संदेश आधुनिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है।"

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आचार्य कुन्दकुन्द (2011). समयसार, भारतीय ज्ञानपीठ।
2. आचार्य तुलसी (2005). अणुव्रत आन्दोलन : जीवन-दर्शन और व्यवहार, जैन विश्व भारती, लाडनूंद्य
3. आचार्य महाप्रज्ञ (2006). प्रेक्षाध्यान : सिद्धांत और प्रयोग, जैन विश्व भारती, लाडनूंद्य
4. आचार्य महाप्रज्ञ (2007). जीवन विज्ञान, जैन विश्व भारती, लाडनूंद्य
5. आचार्य महाप्रज्ञ (2008). अपरिग्रह : एक जीवन-दर्शन, जैन विश्व भारती, लाडनूंद्य
6. आचार्य महाप्रज्ञ (2008). जैन दर्शन और अनेकांत, जैन विश्व भारती, लाडनूंद्य
7. आचार्य महाप्रज्ञ (2009). अहिंसा की जीवन-दृष्टि, जैन विश्व भारती, लाडनूंद्य
8. आचार्य महाश्रमण (2018). अहिंसा यात्रा एवं जीवन-दर्शन, जैन विश्व भारती, लाडनूंद्य
9. आचार्य महाश्रमण (2019). संयम और साधना, जैन विश्व भारती, लाडनूंद्य
10. आचार्य हेमचन्द्र (2009). योगशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ।
11. उमास्वामी (2010). तत्त्वार्थसूत्र, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूंद्य
12. कल्पसूत्र। (2010). कल्पसूत्र, जैन आगम साहित्य।

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

Marital Adjustment and Role Conflict among Working Women: A Comparative Sociological Study of Urban and Rural Contexts in Sangrur District, Punjab

Rama Sharma
(Assistant Professor)
Government Ranbir College Sangrur
Email: - ramasociology@gmail.com
Contact no 8557823106

Abstract

The transformation of women's roles in contemporary India has significantly altered traditional family dynamics, particularly within the institution of marriage. While increased participation in paid employment has enhanced women's economic visibility, it has simultaneously intensified role conflict and marital strain. This study investigates marital adjustment among working women in rural and urban settings of Sangrur district, Punjab. Drawing upon feminist, Marxist, and sociological perspectives, the study examines how structural inequalities, gender norms, and occupational stress shape marital relationships. Using a mixed-method approach, data from 300 respondents (150 rural, 150 urban) are analyzed through both statistical and thematic frameworks. The findings reveal that despite economic participation, women continue to bear disproportionate domestic responsibilities, leading to stress, reduced marital satisfaction, and compromised well-being. The study highlights the persistence of patriarchy in both rural and urban settings, albeit in different forms. It concludes with policy recommendations aimed at promoting gender equity and improving work–family balance.

Keywords: Marital Adjustment, Working Women, Gender Roles, Rural-Urban Divide, Work-Family Conflict, Patriarchy, Punjab

Introduction

The socio-economic transformation of Indian society in the post-liberalization era has brought about profound changes in gender roles, family structures, and patterns of labor participation. The increasing entry of women into the workforce—driven by expanding educational opportunities, economic necessity, and shifting aspirations—marks a significant departure from traditional gender arrangements that historically confined women to the domestic sphere. Despite these advancements, the transformation remains incomplete and uneven, particularly in relation to the redistribution of unpaid domestic labor. Women continue to shoulder a disproportionate share of household responsibilities, thereby experiencing what scholars conceptualize as the "double burden" or "second shift"

(Hochschild, 1989). This dual engagement in paid and unpaid work has far-reaching implications for women's marital relationships, psychological well-being, and overall quality of life.Marriage, as a central social institution, plays a pivotal role in structuring gender relations and regulating interpersonal dynamics within the family. From a sociological perspective, marriage is not merely a personal or emotional union but a socially sanctioned arrangement that reflects and reproduces broader power structures and cultural norms. In the Indian context, deeply embedded patriarchal values continue to shape marital expectations, often positioning men as primary breadwinners and women as caregivers, regardless of women's participation in the labor market. Feminist theorists argue that such arrangements perpetuate gender inequality by normalizing women's unpaid labor and limiting their autonomy within marital relationships (Oakley, 1974; Walby, 1990).

Empirical research consistently demonstrates that women, even when engaged in full-time employment, spend significantly more time on unpaid domestic and care work compared to their male counterparts. This disparity is not solely a function of economic rationality but is deeply rooted in cultural norms, gender socialization, and societal expectations regarding femininity and family roles. The persistence of such inequalities often leads to role conflict, time poverty, and emotional strain among working women. These pressures can manifest in reduced marital satisfaction, increased interpersonal conflict, and compromised mental health outcomes. The unequal division of labor within households thus emerges as a critical factor influencing marital adjustment a multidimensional construct encompassing emotional compatibility, communication, role fulfillment, and conflict resolution between spouses.

The concept of marital adjustment is particularly significant in understanding how couples negotiate changing gender roles in contemporary society. While increased female employment has the potential to promote egalitarian relationships, it may also generate tensions when traditional expectations remain unchanged. The extent to which couples adapt to these shifting dynamics depends on a variety of factors, including education, socio-economic status, cultural values, and the availability of support systems. Notably, the rural–urban divide introduces additional layers of complexity, as differing socio-cultural contexts shape attitudes toward gender roles, work, and family life in distinct ways. Rural areas, often characterized by stronger adherence to traditional norms and limited access to institutional support, may impose greater constraints on women's autonomy and role negotiation within marriage. In contrast, urban settings, with higher exposure to modernization, education, and diverse social influences, may offer relatively more flexibility in redefining gender roles. However, urban working women are not immune to the pressures of the double burden; rather, they may experience intensified stress due to demanding professional environments coupled with persistent domestic expectations.

Against this backdrop, the present study undertakes a comparative analysis of marital adjustment among working women in rural and urban areas of Sangrur district, Punjab. By examining how socio-cultural contexts influence marital dynamics, the study seeks to contribute to the broader discourse on gender, work, and family in contemporary India. It aims to explore the intersection of employment, domestic responsibilities, and marital relationships, thereby providing insights into the challenges and coping mechanisms of working women navigating dual roles. Furthermore, the study endeavors to highlight the need for more equitable distribution of household labor and supportive policy interventions to enhance the well-being and marital satisfaction of working women

Marital adjustment is a dynamic and multifaceted process through which spouses negotiate roles, expectations, and interpersonal relationships in order to sustain a stable and satisfying marital union. It encompasses dimensions such as emotional compatibility, mutual understanding, effective communication, conflict resolution, and the equitable distribution of responsibilities within the household. Rather than being a static condition, marital adjustment is an ongoing process of adaptation that evolves in response to changing life circumstances, socio-economic conditions, and individual aspirations. In contemporary dual-earner households, this process becomes increasingly complex as couples must reconcile traditional norms with emerging egalitarian ideals.

From a sociological and psychological standpoint, marital adjustment is closely linked to role performance and role expectations within the family. Structural-functionalist perspectives emphasize the importance of complementary roles in maintaining family stability, whereas feminist and conflict perspectives highlight how unequal role distribution—particularly in patriarchal settings—can lead to strain and dissatisfaction within marriage. In the Indian context, where gender roles remain deeply entrenched, women are often expected to prioritize domestic responsibilities even when they are actively engaged in paid employment. This asymmetry creates tensions that directly impact marital harmony and satisfaction.A central concept in understanding these tensions is work–family conflict, which refers to a form of inter-role conflict wherein the demands of work and family domains are mutually incompatible. The theoretical foundation of work–family conflict is rooted in role theory, particularly the notion that individuals occupy multiple roles that may impose competing expectations. When the pressures from one domain interfere with the ability to fulfill obligations in another, conflict arises, leading to stress and reduced well-being.

Work–family conflict is typically conceptualized in three interrelated forms: time-based conflict, strain-based conflict, and behavior-based conflict. Time-based conflict occurs when the time devoted to professional responsibilities limits the time available for family roles, resulting in difficulties in managing household tasks and maintaining interpersonal relationships. Strain-based conflict arises when stress or fatigue generated in one domain spills over into another, thereby affecting emotional availability and responsiveness within the marital relationship. Behavior-based conflict emerges when behavioral expectations associated with professional roles—such as assertiveness or competitiveness—are incompatible with those expected within the family setting, such as nurturing and submissiveness.

For working women, these forms of conflict are often intensified due to the persistence of traditional gender norms that assign primary responsibility for domestic and caregiving tasks to women. As a result, women frequently experience role overload and role conflict, as they attempt to meet the demands of both professional and familial spheres. This dual burden manifests in several observable outcomes, including:

- Time constraints, which limit opportunities for rest, leisure, and quality interaction with spouses;
- Emotional exhaustion, resulting from continuous engagement in multiple demanding roles;
- Reduced marital satisfaction, as unmet expectations and lack of shared responsibilities lead to dissatisfaction;
- Increased psychological stress, including anxiety, frustration, and feelings of inadequacy.

The cumulative effect of these stressors can significantly undermine marital adjustment by disrupting

communication patterns, increasing the likelihood of conflict, and weakening emotional bonds between spouses. Moreover, the extent and nature of work–family conflict are shaped by socio-cultural factors such as family structure, level of social support, occupational conditions, and prevailing gender ideologies. Importantly, the relationship between work–family conflict and marital adjustment is not unidirectional but reciprocal. While high levels of work–family conflict can negatively affect marital quality, supportive and well-adjusted marital relationships can also serve as a buffer, helping individuals cope more effectively with external stressors. Spousal support, shared decision-making, and equitable division of labor play a crucial role in mitigating the adverse effects of work–family conflict.

In the context of rural–urban differences, the experience of work–family conflict and its impact on marital adjustment may vary significantly. Rural settings, often characterized by traditional family norms and limited institutional support, may intensify role expectations for women, thereby exacerbating conflict. Conversely, urban environments may provide greater access to resources such as childcare facilities and domestic help, yet the demands of professional life in urban settings may simultaneously increase stress levels. Thus, the interplay between work–family conflict and marital adjustment must be understood within specific socio-cultural contexts.

This conceptual framework positions work–family conflict as a key mediating variable influencing marital adjustment among working women. By examining how competing role demands shape interpersonal dynamics within marriage, the study seeks to provide a nuanced understanding of the challenges faced by working women and the factors that facilitate or hinder successful marital adjustment.

Theoretical Framework

The present study is anchored in an interdisciplinary theoretical framework that draws upon sociological and feminist perspectives to understand the complex relationship between gender, work, and marital relationships. By integrating Patriarchy Theory, Feminist Theory, Marxist Feminism, and Role Theory, the study provides a comprehensive lens to analyze the structural, cultural, and psychological dimensions of marital adjustment among working women.

Patriarchy Theory

Patriarchy Theory offers a foundational framework for understanding the systemic and institutionalized subordination of women within both private and public spheres. As conceptualized by Sylvia Walby (1989), patriarchy is not a monolithic system but a set of interrelated structures, including household production, paid employment, the state, male violence, sexuality, and cultural institutions. These structures operate collectively to sustain male dominance and female subordination across different domains of social life. Within the household, patriarchy manifests through the unequal division of labor, where women are primarily responsible for unpaid domestic work and care giving roles. Even when women actively participate in paid employment, patriarchal norms continue to regulate their responsibilities, often resulting in a "dual role" expectation. This structural imbalance limits women's autonomy and reinforces dependency, thereby influencing marital power dynamics and adjustment patterns. In the Indian context, patriarchal values are deeply embedded in cultural practices and familial expectations, making it particularly challenging for working women to renegotiate traditional

roles within marriage.

Feminist Perspective

The Feminist Perspective provides a critical lens to examine how gender roles are socially constructed, maintained, and reproduced through cultural and institutional practices. A central contribution to this perspective comes from Simone de Beauvoir, whose seminal assertion, *"one is not born, but rather becomes, a woman,"* underscores the idea that femininity is not biologically determined but socially produced. Feminist theorists argue that societal expectations shape women's identities, roles, and behaviors, often confining them to nurturing and subordinate positions within the family. These constructed roles persist even in the face of socio-economic changes, such as increased female labor force participation. Consequently, working women are frequently expected to fulfill both traditional domestic roles and modern professional responsibilities without a corresponding shift in male participation in household labor. This perspective is particularly relevant in analyzing marital adjustment, as it highlights how unequal power relations and gendered expectations can create tensions within marital relationships. Feminist theory also emphasizes the need for egalitarian relationships characterized by shared responsibilities, mutual respect, and equitable decision-making, which are crucial for improving marital satisfaction among working women.

Marxist Feminism

Marxist Feminism extends the analysis of gender inequality by linking it to the structures of capitalism and economic exploitation. Influenced by the works of Karl Marx and later feminist scholars, this perspective argues that women's oppression is rooted in both patriarchy and capitalist modes of production. A key argument of Marxist feminists is that women's unpaid domestic labor plays a crucial role in sustaining the capitalist economy by reproducing labor power. Through activities such as child-rearing, household maintenance, and emotional care, women contribute to the functioning of the workforce without receiving economic compensation. This invisible labor not only reinforces gender inequality but also perpetuates women's economic dependence.

Furthermore, women are often conceptualized as a "reserve army of labor," a term used to describe their flexible and secondary position in the labor market. They are more likely to enter or exit the workforce based on economic demands, family responsibilities, or societal expectations. This precarious positioning exacerbates work–family conflict and limits women's bargaining power within marital relationships. In the context of this study, Marxist Feminism helps explain how economic structures intersect with gender norms to shape the experiences of working women and their marital adjustment.

Role Theory

Role Theory provides a micro-level framework for understanding how individuals navigate multiple social roles and the potential conflicts that arise from competing expectations. Rooted in the work of sociologists such as Robert K. Merton, this perspective conceptualizes society as a network of roles associated with specific norms, obligations, and behaviors .Working women simultaneously occupy multiple roles, including those of employee, spouse, mother, and caregiver. Each of these roles carries distinct expectations that may not always be compatible. The simultaneous performance of

these roles often leads to role conflict, particularly when the demands of one role interfere with the fulfillment of another. Additionally, role overload occurs when the cumulative demands of multiple roles exceed an individual's available time and energy.

In the context of marital relationships, role conflict and overload can strain communication, reduce emotional availability, and increase the likelihood of interpersonal tensions. The inability to effectively balance professional and domestic responsibilities may lead to dissatisfaction, stress, and diminished marital adjustment. However, Role Theory also suggests that supportive social structures, flexible work arrangements, and equitable role distribution can mitigate these conflicts and enhance overall well-being

Theoretical Perspectives

Taken together, these theoretical approaches provide a comprehensive framework for understanding the challenges faced by working women in achieving marital adjustment. Patriarchy Theory highlights the structural roots of gender inequality, Feminist Theory emphasizes the role of socialization and cultural norms, Marxist Feminism connects gender relations to economic systems, and Role Theory explains the individual-level experiences of role conflict and overload. By integrating these perspectives, the study is better positioned to examine how structural inequalities, cultural expectations, and role dynamics interact to shape the lived experiences of working women in rural and urban contexts. This theoretical synthesis not only enriches the analytical depth of the study but also underscores the need for multi-dimensional interventions aimed at promoting gender equality and improving marital relationships.

Review of Literature

The existing body of literature on marital adjustment among working women reflects a complex interplay between employment, gender norms, and family structures. Over time, scholarly inquiry has evolved from descriptive accounts of women's subordinate status to more nuanced analyses of how socio-economic transformations influence marital dynamics and individual well-being.

Early Sociological Perspectives

Early sociological studies in India, particularly those by Irawati Karve and S. C. Dube, emphasized the deeply entrenched patriarchal nature of Indian society. These studies portrayed women as occupying subordinate roles within the family, largely confined to domestic responsibilities and excluded from decision-making processes. Marriage, within this framework, functioned as a key institution reinforcing hierarchical gender relations and maintaining social order. However, with the processes of modernization, urbanization, and expansion of female education, traditional gender roles have undergone gradual transformation. Women's increasing participation in paid employment has challenged conventional norms, although such changes have not been uniformly accompanied by a redistribution of domestic responsibilities. As a result, the literature increasingly highlights the persistence of structural inequalities alongside emerging opportunities.

Marital Adjustment and Employment Status

Empirical research has explored the relationship between women's employment status and marital

adjustment, yielding mixed but insightful findings. The study by Nathawat and Mathur (1993) demonstrated significant differences in marital adjustment and psychological well-being between working women and housewives, suggesting that employment can both empower women and introduce additional stressors. While financial independence and social exposure may enhance self-esteem and bargaining power within marriage, the simultaneous expectation to fulfill domestic roles often leads to role strain. Subsequent studies have reinforced the notion that employment is not inherently detrimental or beneficial to marital adjustment; rather, its impact is mediated by contextual factors such as spousal support, work environment, and cultural expectations. The dual role performed by working women frequently results in time scarcity, fatigue, and emotional exhaustion, which may adversely affect marital satisfaction.

Rural–Urban and Family Structure Variations

A significant strand of literature focuses on the influence of socio-cultural context, particularly the rural–urban divide and family structure, on marital adjustment. Research by Gayathri and Reddy (2022) indicates that women in rural joint family systems often report relatively higher levels of marital adjustment, primarily due to the availability of shared domestic responsibilities and extended support networks. The presence of elders and other family members can alleviate the burden of childcare and household work, thereby reducing work–family conflict.

However, this apparent advantage is accompanied by certain constraints. Joint families may impose restrictions on women's autonomy, mobility, and decision-making power, potentially limiting their ability to negotiate roles within marriage. In contrast, nuclear families, more common in urban settings, may offer greater independence but also place the entire burden of domestic and professional responsibilities on the couple, particularly on women. Thus, the relationship between family structure and marital adjustment is complex and context-dependent.

Work–Family Conflict and Psychological Outcomes

The growing body of literature on work–family conflict provides critical insights into the challenges faced by working women. Studies such as those by Dhar (2022) highlight the prevalence of dual-role stress, wherein women experience competing demands from professional and domestic spheres. This conflict often manifests in psychological strain, including stress, anxiety, and burnout, which in turn affects marital relationships. Work–family conflict has been consistently associated with reduced marital satisfaction, increased interpersonal tensions, and diminished emotional intimacy. The spillover effect of occupational stress into family life can disrupt communication patterns and weaken relational bonds. Furthermore, the lack of institutional support, such as flexible work arrangements or childcare facilities, exacerbates these challenges, particularly in developing contexts.

Deteminants of Marital Adjustment

Recent empirical studies have sought to identify the key determinants of marital adjustment among working women. Research by Chauhan and Mahdi (2023) underscores the importance of factors such as effective communication, financial stability, and social support in fostering healthy marital relationships. Communication, in particular, plays a crucial role in conflict resolution and emotional bonding, while financial stability reduces stress related to economic insecurity. Social support—both

within and outside the family—emerges as a critical buffer against the negative effects of work–family conflict. Supportive spouses who share domestic responsibilities contribute significantly to improved marital adjustment and overall well-being. Conversely, lack of support often intensifies role overload and dissatisfaction.

Emerging Trends and Gendered Realities

Contemporary research highlights several emerging trends that further illuminate the gendered nature of marital adjustment. Studies indicate that women tend to invest greater emotional labor in maintaining relationships, often prioritizing family harmony over personal well-being. This disproportionate emotional investment reflects deeply internalized gender norms that assign responsibility for relational maintenance primarily to women. Occupational stress has also been identified as a significant factor negatively affecting marital satisfaction. High job demands, long working hours, and lack of work-life balance contribute to fatigue and reduced quality time with spouses. At the same time, family structures such as joint families, while providing instrumental support, may reinforce traditional gender roles and limit women's agency.

Persistence of Gender Inequality

Despite socio-economic progress, the literature consistently points to the persistence of gender inequality as a central issue shaping the experiences of working women. Women continue to be overrepresented in informal and low-paying sectors, with limited job security and benefits. Wage disparities between men and women remain a significant concern, reflecting broader structural inequalities in the labor market. Moreover, unpaid domestic labor—largely performed by women—remains undervalued and invisible in economic analyses. This "invisible labor" not only contributes to women's time poverty but also reinforces their subordinate position within both the household and society. The unequal distribution of domestic responsibilities continues to be a major barrier to achieving gender equality and improving marital adjustment.

Rural–Urban Dynamics of Women's Work

Rural and urban contexts differ significantly in terms of:

Aspect	Rural Women	Urban Women
Autonomy	Limited	Relatively higher
Support system	Joint family	Nuclear family
Employment	Agriculture, informal sector	Formal jobs, services

Rural women often benefit from extended family support but face stricter patriarchal norms. Urban women enjoy greater independence but experience higher work-related stress

Research Gap While the existing literature provides valuable insights into the relationship between employment, gender roles, and marital adjustment, there remains a need for context-specific, comparative analyses that account for regional and cultural variations. In particular, limited attention

has been given to district-level studies that examine rural–urban differences within specific socio-cultural settings, such as Sangrur district in Punjab. Additionally, there is a need to integrate structural, cultural, and psychological dimensions within a unified analytical framework.**Research Objectives**[1].
To compare marital adjustment among rural and urban working women [2].
To examine the impact of employment on marital relationships [3].
To analyze the effects of dual roles on health and well-being [4].
To identify coping mechanisms [5].
To suggest policy interventions **Research Methodology**The present study adopts a logical and accurate methodological framework to examine marital adjustment among working women, with particular emphasis on the interplay between socio-cultural context and work–family dynamics. A mixed-method approach is employed to capture both the measurable patterns and the lived experiences of respondents, thereby ensuring a comprehensive understanding of the research problem.**Research Design**This study is based on a mixed-method research design, integrating both quantitative and qualitative approaches to provide a holistic analysis of marital adjustment among working women. The quantitative component facilitates the measurement of key variables such as marital adjustment, work–family conflict, and socio-demographic characteristics, allowing for statistical comparison between rural and urban respondents Simultaneously, the qualitative component enables an in-depth exploration of participants' subjective experiences, perceptions, and coping strategies, which cannot be adequately captured through structured instruments alone. This combination enhances the validity and reliability of the findings through methodological triangulation. The research design is primarily comparative and cross-**s**ectional in nature. It seeks to compare marital adjustment patterns between rural and urban working women at a specific point in time, while also identifying the socio-cultural factors influencing these patterns.**Sampling** The study is based on a sample of **300 working women**, drawn from both rural and urban areas of Sangrur district, Punjab. The sample is equally divided to ensure balanced representation:'
150 respondents from rural areas '
150 respondents from urban areas A stratified sampling technique is employed to ensure representation across key socio-demographic variables such as age, education, occupation, marital duration, and family structure (nuclear/joint). Within each stratum, respondents are selected using purposive and convenience sampling methods, given the practical constraints of accessibility and willingness to participate.**Inclusion criteria** for the sample include:'
Married women engaged in paid employment '
Minimum duration of marriage (e.g., at least one year) '
Willingness to participate in the study This sampling design ensures diversity within the sample while maintaining comparability between rural and urban groups. **Data Collection Methods**The study employs multiple data collection techniques to ensure depth, reliability, and triangulation of findings: **Structured Interviews** Structured interviews are conducted using a pre-designed interview schedule to collect standardized information on respondents' socio-demographic background, employment conditions, marital relationships, and experiences of work–family conflict. This method allows for consistency across respondents while also enabling clarification of responses where necessary. **Questionnaires** A structured questionnaire is administered to quantitatively assess key variables. Standardized scales (where applicable) are used to measure ;'
Marital adjustment (e.g., dimensions of communication, satisfaction, and conflict resolution)'

Work–family conflict ¢'
Psychological stress indicators The use of validated instruments enhances the reliability and comparability of the data.Case Studies Selected case studies are developed to provide detailed insights into the lived experiences of working women. These narratives help illustrate the complexities of balancing professional and domestic roles, highlighting individual coping mechanisms, marital dynamics, and socio-cultural constraints. Focus Group Discussions (FGDs*)* Focus group discussions are conducted separately for rural and urban respondents to capture collective perspectives and shared experiences. FGDs facilitate interactive dialogue, enabling participants to reflect on common challenges such as gender expectations, family support, and workplace pressures. This method is particularly useful in uncovering social norms and group-level dynamics that influence marital adjustment.**Findings** The findings of the study reveal significant insights into the relationship between employment, socio-cultural context, and marital adjustment among working women. By integrating quantitative trends with qualitative narratives, the analysis highlights the complex and often contradictory nature of women's experiences in balancing professional and domestic roles. **Marital Adjustment Levels**The comparative analysis indicates notable differences in marital adjustment between rural and urban working women. Urban respondents exhibit relatively higher levels of autonomy, particularly in decision-making, financial management, and mobility. This increased autonomy can be attributed to greater exposure to education, modernization, and individualistic values prevalent in urban settings. However, this autonomy is accompanied by elevated levels of stress, largely due to demanding work environments, time pressures, and limited support systems. The predominance of nuclear family structures in urban areas often places the full burden of domestic responsibilities on women, thereby intensifying work–family conflict.In contrast, rural women demonstrate comparatively better marital adjustment, which can be linked to the presence of joint family systems and stronger kinship networks. These collective arrangements provide instrumental and emotional support, facilitating the sharing of household responsibilities. Nevertheless, this apparent advantage must be interpreted cautiously, as rural women may also experience restricted autonomy and greater adherence to traditional gender norms. Thus, marital adjustment in rural contexts may reflect accommodation rather than genuine equality.**Role Conflict**The study confirms that working women experience significant levels of role conflict arising from competing demands across professional and domestic domains. Three major dimensions of role conflict emerge from the data:¢'
Time scarcity: Women report difficulty in allocating sufficient time to both work and family responsibilities, leading to compromised performance in one or both domains.'
Emotional fatigue: Continuous engagement in multiple roles results in psychological exhaustion, reducing emotional availability within marital relationships.'
Role overload: The cumulative burden of professional duties and domestic expectations exceeds women's physical and emotional capacity, contributing to stress and dissatisfaction. These findings align with Role Theory, which posits that incompatible role expectations generate strain and conflict. The persistence of traditional gender norms exacerbates this situation, as women remain primarily responsible for domestic work regardless of their employment status.**Impact on Health**The study reveals a strong association between work–family conflict and adverse health outcomes among working women. Respondents report experiencing a range of psychological and physical health issues, including:'
Anxiety, stemming from the pressure to meet multiple expectations;'

Depression, often linked to feelings of inadequacy, lack of support, or persistent stress;'
Physical exhaustion, resulting from prolonged working hours and inadequate rest. These findings highlight the interconnected nature of mental and physical health, emphasizing that marital adjustment cannot be understood in isolation from broader well-being. The spillover effect of stress from work to family life not only affects individual health but also disrupts marital harmony and interpersonal relationships.**Coping Mechanisms**Despite the challenges, working women employ various coping strategies to manage role conflict and maintain marital stability. The study identifies several key mechanisms:
Family support: Emotional and practical support from spouses and extended family members plays a crucial role in mitigating stress and enhancing marital adjustment.
Emotional intelligence: The ability to regulate emotions, communicate effectively, and resolve conflicts contributes significantly to maintaining harmonious relationships.
Time management: Strategic planning and prioritization of tasks enable women to balance competing demands more effectively. Among these, spousal support emerges as the most critical factor, reinforcing the importance of shared responsibilities and mutual understanding in promoting marital satisfaction. These coping mechanisms reflect both individual agency and the influence of social support systems in navigating structural constraints .The findings collectively underscore that marital adjustment among working women is shaped by a dynamic interaction of structural, cultural, and individual factors. While employment provides opportunities for empowerment, it also introduces new challenges in the absence of supportive environments and equitable role distribution. The results are consistent with Patriarchy Theory and Feminist perspectives, which emphasize the persistence of gender inequalities despite socio-economic progress.

Conclusion

The present study concludes that employment alone does not guarantee empowerment or improved marital adjustment for women. Although participation in the workforce enhances financial independence and social status, it does not automatically translate into equality within the household. Structural inequalities, deeply entrenched patriarchal norms, and unequal distribution of domestic labor continue to shape women's experiences and limit their autonomy.The findings highlight that marital adjustment is a multifaceted phenomenon influenced by socio-cultural context, family structure, and the availability of support systems. Rural women may experience better adjustment due to collective family support, while urban women benefit from greater autonomy but face higher levels of stress. This paradox underscores the need to move beyond simplistic assumptions about empowerment and to adopt a more nuanced understanding of women's lived realities.Addressing the challenges of marital adjustment among working women requires comprehensive and multi-level interventions, including

Redistribution of domestic labour: Promoting equitable sharing of household responsibilities between spouses is essential for reducing role conflict and enhancing marital satisfaction.

Gender-sensitive policies: Workplace policies such as flexible working hours, maternity and paternity leave, and childcare support can help alleviate work–family conflict.

Institutional support systems: The development of accessible childcare facilities, counseling services, and community support networks can provide critical assistance to working women. In

conclusion, achieving meaningful empowerment and improved marital adjustment necessitates not only individual efforts but also structural and cultural transformations. A shift toward more egalitarian gender relations, both within the household and in the broader society, is imperative for fostering the well-being and dignity of working women.

References

Abhilash, S. (2021). Marital adjustment among working women. *Journal of Social Psychology*, 45(2), 112–128.

Agarwal, B. (1997). "Bargaining" and gender relations: Within and beyond the household. *Feminist Economics, 3*(1), 1–51.

Amato, P. R. (2000). The consequences of divorce for adults and children. *Journal of Marriage and Family, 62*(4), 1269–1287.

Babu, D. (2019). *Women participation in rural development in India*. New Delhi: Academic Press.

Becker, G. S. (1991). *A treatise on the family* (Rev. ed.). Cambridge, MA: Harvard University Press.

Bianchi, S. M., Milkie, M. A., Sayer, L. C., & Robinson, J. P. (2000). Is anyone doing the housework? Trends in gender division of household labor. *Social Forces, 79*(1), 191–228.

Blossfeld, H. P., & Drobniè, S. (Eds.). (2001). *Careers of couples in contemporary society*. Oxford University Press.

Boserup, E. (1970). *Woman's role in economic development*. London: Allen & Unwin.

Chauhan, P., & Mahdi, A. (2023). Factors influencing marital adjustment. *Rivista Italiana*, 14(2), 45–60.

Coltrane, S. (2000). Research on household labor: Modeling and measuring the social embeddedness of routine family work. *Journal of Marriage and Family, 62*(4), 1208–1233.

Davis, S. N., & Greenstein, T. N. (2009). Gender ideology: Components, predictors, and consequences. *Annual Review of Sociology, 35*, 87–105.

Desai, I. P. (1957). *Some aspects of family in Mahuva*. Bombay: Asia Publishing House.

Dhar, R. (2022). Marital adjustment among working women. *Journal of Pharmaceutical Negative Results*, 13, 4032–4033.

Dube, S. C. (1955). *Indian village*. London: Routledge.

Dube, S. C. (1963). Gender roles in India. *Economic Weekly*, 15(12), 45–52.

Engels, F. (1884). *The origin of the family*. London: Penguin.

England, P. (2010). The gender revolution: Uneven and stalled. *Gender & Society, 24*(2), 149–166.

Frone, M. R. (2003). Work-family balance. In J. C. Quick & L. E. Tetrick (Eds.), *Handbook of occupational health psychology* (pp. 143–162). APA.

Gayathri, M., & Reddy, S. (2022). Marital adjustment among women. *Asian Journal of Research*, 5(3), 78–89.

Goode, W. J. (1965). *The family*. Englewood Cliffs: Prentice Hall.

Greenhaus, J. H., & Beutell, N. J. (1985). Sources of conflict between work and family roles. *Academy of Management Review, 10*(1), 76–88.

Hochschild, A. R., & Machung, A. (2012). *The second shift* (Rev. ed.). New York: Penguin Books.

Jain, D. (1980). *Women's quest for power*. New Delhi: Vikas Publishing.

Kabeer, N. (1999). Resources, agency, achievements: Reflections on the measurement of women's empowerment. *Development and Change, 30*(3), 435–464.

Kapoor, P. (1970). *Marriage and working women in India*. New Delhi: Vikas Publishing.

Lotke, N. R. (2012). Marital adjustment and life satisfaction. *Indian Journal of Social Research*, 53(3), 321–335.

Lundberg, S., & Pollak, R. A. (1996). Bargaining and distribution in marriage. *Journal of Economic Perspec-*

tives, 10(4), 139–158.
Mason, K. O., & Smith, H. L. (2000). Husbands' versus wives' fertility goals. *Demography, 37*(3), 315–327.
Mazumdar, I. (2006). Feminisation of work. *Economic and Political Weekly*, 41(52), 5230–5236.
Mincer, J., & Polachek, S. (1974). Family investments in human capital. *Journal of Political Economy, 82*(2), S76–S108.
Nathawat, S. S., & Mathur, A. (1993). Marital adjustment and well-being. *Journal of Psychology*, 127(3), 353–358.
Ramu, G. N. (1989). Women, work and marriage in urban India. *Sociological Bulletin, 38*(1–2), 23–44.
Rathi, D., Singh, V., & Saini, N. (2023). Marital adjustment analysis. *IERJ*, 7(2), 12–18.
Sabre, K. (2016). Marital adjustment in families. *International Journal of Psychology*, 3, 26–32.
Sen, A. (1990). Gender and cooperative conflicts. In I. Tinker (Ed.), *Persistent inequalities* (pp. 123–149). Oxford University Press.
Standing, G. (1999). Global feminization through flexible labor. *World Development, 27*(3), 583–602.
Verma, J. K. (2013). Rural women entrepreneurship. *International Journal of Management*, 5(2), 45–52.
Walby, S. (1989). Theorising patriarchy. *Sociology*, 23(2), 213–234
West, C., & Zimmerman, D. H. (1987). Doing gender. *Gender & Society, 1*(2), 125–151.
World Bank. (2012). *World development report 2012: Gender equality and development*. Washington, DC: World Bank.

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

'मधुशाला' में व्यक्त जीवन दर्शन और प्रतीक विधान

पीयूष पुष्पम
हिंदी विभाग, हंसराज कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

एक कवि जिसने बताया कि 'दुनिया' के अंदर भी एक 'दुनिया' है। हरिवंशराय श्रीवास्तव यानी हरिवंशराय बच्चन, हिंदी काव्य-संसार के लोकप्रिय नामों में से विशेष। हिंदी की सबसे लोकप्रिय रचना 'मधुशाला' के रचयिता। एक अलग पहचान के कवि, ऐसे न जाने कितने 'यानी' हरिवंशराय बच्चन के नाम के साथ लगते जाएंगे, लेकिन उनकी शख्सियत के विशेषण कम नहीं होंगे। अविधा में कहें तो हरिवंशराय बच्चन हिंदी के सबसे सदाबहार कालजयी कविता के कवियों में मेरी नजर में पहली कतार के कवि हैं। यह लोकप्रियता सतही या सस्ती लोकप्रियता नहीं है। यह दार्शनिक गांभीर्य से ओत-प्रोत है। निश्चित वे समकालीन पंत, निराला, महादेवी के साथ युग सापेक्ष काव्य अपेक्षाओं के अपवाद नहीं हैं, परंतु जो हैं वैसा कोई नहीं है।

हिंदी काव्य संसार में खासकर भारतीय कविता में जो निराशा और शिथिलता का उदासी भरा वातावरण निर्मित हो गया था, उसे हरिवंशराय बच्चन की मधुशाला ने तोड़ दिया। मातम को उत्सव में बदल दिया। वैराग्य को अनुराग बना दिया। हर काव्य प्रेमी के दिल में उतर जाए, जवान पर चढ़ जाए, कविता ऐसी होती है। खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद करते-करते बच्चन जी दरबारी काव्य परंपरा से बाहर निकले और दूसरी परंपरा में उतर गए। पाठकों, श्रोताओं की जो नब्ज़ बच्चन ने पकड़ी और जो खाली जगह दर्शन, नयी सोच और नए काव्य चिंतन द्वारा भरी, आधी सदी से अधिक समय तक उसके जगह दर्शन, नयी सोच और नए काव्य चिंतन द्वारा भरी, आदि सदी से अधिक समय तक उसके निरलेपन का डंका बजता रहा। मैं समझता हूँ कि 'मधुशाला' अपने असर का सफर कम से कम सदी भर तो यथावत रखेगी ही।

इधर देश में लोकतांत्रिक वातावरण बनने लगा था। स्वतंत्रता का नया-नया आगमन राजशाही की चाटुकारिता करती कविता स्वयं भी आज़ाद हुई। निमित्त बने हरिवंशराय बच्चन जैसे कवि, जिसने साहित्येत्तर अनुशासनों में भी जगह बनायी। यह अलग बात है कि 'हाला'-'प्याला' और 'मधुशाला' की व्यंजना पर प्रतीकात्मकता द्विअर्थी होने के आरोप इस काव्य कृति पर लगे। पीने वालों ने लक्षणा-व्यंजना को धता बताकर सीधे अविधार्थ लेकर 'शराबी' ब्यसन को प्रोत्साहित करने वाली कविता तक कह दिया। परंतु काव्य रसास्वादन करने वालों ने इसकी भाव-भंगिमा को समझते हुए इसे युग चेतना की कविता भी कहा।

हरिवंशराय बच्चन हिंदी कविता के उत्तर छायावद काल के प्रमुख कवियों में से एक हैं। कविवर बच्चन की कविता का आरंभ तीसरे दशक के मध्य 'मधु' अथवा मदिरा के इर्द-गिर्द हुआ। 'मधुशाला' से आरंभ होकर 'मधुबाला' और 'मधुकलश' एक-एक वर्ष के अंतराल से प्रकाशित हुए। बच्चन का पहला कविता संग्रह 'तेरा हार' 1929 में आया था लेकिन उन्हें व्यापक पहचान लोकप्रिय कविता संग्रह 'मधुशाला' से मिली। जीवन को लय देती, कर्म का पाठ पढ़ाती 'मधुशाला' एक अनुपम कविता संग्रह है, जो 1935 में पहली बार काव्य संसार से रूबरू हुआ था, लेकिन आज इतने सालों बाद भी जब इसे पढ़ा जाता है

तो यह आज भी एक नयी भाव व्यंजना के साथ नयी ताज़गी को लेकर उपस्थित होती है। इस रचना ने अपने जमाने में कविता प्रेमियों को अपना दीवाना बना दिया था। 135 रुबाइयों की इस पुस्तक की ख़ास बात यह भी है कि हर रुबाई का अंत 'मधुशाला' शब्द से होता है और हर टेक पर मधुशाला में एक अलग अर्थ प्रकट होता है। यह एक ऐसी काव्य कृति है जो हर पाठ योजना के समय अद्वितीय साहित्यिक अनुभव प्रदान करती प्रतीत होती है। यदि यह कहा जाय कि यह पुस्तक हिंदी साहित्य के अनमोल रत्नों में से एक है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। मधुशाला बच्चन की रचना-त्रय 'मधुबाला' और 'मधुकलश' का हिस्सा है जो 'उमर खैयाम की रुबाइयों' से प्रेरित है। खैयाम की रुबाइयों का हिंदी में अनुवाद बच्चन जी मधुशाला के प्रकाशन से पूर्व ही कर चुके थे। मधुशाला की रचना के कारण ही बच्चन जी को "हालावाद का पुरोधा"[1] भी कहा गया है।

वह युग जब महात्मा गांधी मद्य निषेध का प्रचार कर रहे थे, बच्चन पर आरोप लगे थे कि वे मद्य प्रचारक हो गए हैं, मधुशाला के माध्यम से कवि ने स्वयं भी अपनी कविता में मदिरा से पुश्तैनी संबंध स्वीकार किया था—

"मैं कायस्थ कुलोद्भव मेरे, पुरखों ने इतना ढाला,
मेरे तन के लोहू में है, पचहत्तर प्रतिशत हाला,
पुश्तैनी अधिकार मुझे है, मदिरालय के आँगन पर;
मेरे दादों-परदादों के, हाथ बिकी थी मधुशाला।"[2]

इस स्वीकारोक्ति का मतलब यह नहीं था कि उन्होंने यह संबंध विच्छेद नहीं किया था, केवल व्यक्तिगत स्तर पर, अपितु, सार्वजनिक जीवन में भी वे दारूबाजी के समर्थक या प्रचारक नहीं थे। जिस नशे की वे बात करते हैं, उसके गहरे दार्शनिक अर्थ हैं। नशा तो व्यक्ति को पढ़ने का, रचने का, ज्ञान का, विज्ञान का, समाज सुधार का हर प्रकार का हो सकता है, होता भी है। रिसर्च करने की धुन भी एक नशा ही होता है। बच्चन जी ने उन किसम-किसम के नशों के कविता में संकेत किए हैं।

कवि हर अमूर्त तत्त्व पर मूर्त का आरोप कर उसमें संवेदनशीलता का पुट देकर उसे नवीन भावभूमि पर स्थापित करता चलता है।

"मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षणभर जीवन- मेरा परिचय!"[3]

बच्चन की ये पंक्तियाँ जीवन की नश्वरता का परिचय बहुत ही सहज रूप में दे देती हैं। इसी प्रकार बच्चन जब मधुशाला के पदों में अपने स्वर माधुर्य को छलकाते हैं तो यह केवल स्वर का ही जादू नहीं, बल्कि उसे भावों के चुम्बकीय गुणों से ओत-प्रोत कर देते हैं, जो पाठक के मन को इतनी गहराई से बांध लेती है कि वह संवेदना के स्तर पर एक जुड़ाव महसूस करने लगता है। यथा—

"मेरे अधरों पर हो अन्तिम, वस्तु न तुलसी दल, प्याला,
मेरी जिह्वा पर हो अन्तिम, वस्तु न गंगाजल, हाला,
मेरे शव के पीछे चलने वालो, याद इसे रखना-
'राम नाम है सत्य' न कहना, कहना 'सच्ची मधुशाला'"[4]

"मेरे शव पर वह रोए, हो, जिसके आँसू में हाला,
आह भरे वह, जो हो सुरभित, मदिरा पीकर मतवाला,
दें मुझको वे कंधा जिनके, पद मद-डगमग होते हों
और जलूँ उस ठौर, जहाँ पर, कभी रही हो मधुशाला।"[5]

बच्चन जी ने जब अपनी 'मधुशाला' से भाव और विचारों की 'हाला' छलकायी तो पीने वाले मदहोश हो गए। ऐसी 'हाला' कि जितना चखो, नशा और... और बढ़े... बढ़ता ही जाए। तब बच्चन जी की जमीन को लेकर तमाम कवियों ने अपनी 'मधुशाला' रच दी। यह अलग बात है कि बच्चन जी की वह जमीन भी उमर खय्याम से 'ईंट-गारा' लिए हुए थे, किंतु 'नक्शा' अपना था, उसकी 'भव्यता' और कथ्यगत ऊंचाइयाँ मौलिक थीं... बिलकुल अनछुई और जिसे पहली बार छुआ तो सिर्फ हरिवंशराय बच्चन जी ने।

"स्वयं नहीं पीता, औरों को, किन्तु पिला देता हाला,
स्वयं नहीं छूता, औरों को, पर पकड़ा देता प्याला,
पर उपदेश कुशल बहुतेरों, से मैंने यह सीखा है,
स्वयं नहीं जाता, औरों को, पहुँचा देता मधुशाला।"[6]

अंततः हरिवंशराय बच्चन अपने काव्य संग्रह 'मधुशाला' के परिशिष्ट में उन लोगों की जिज्ञासा का जवाब देते हैं जो यह मानते हैं कि वो भी मदिरा प्रेमी हैं। यह पंक्तियाँ एक कवि के रूप में उनके तेवर को बखूबी दर्शाती है। बच्चन जी ने जिस दौर में कविता लिखना शुरू किया था, वह छायावादी कविता का युग था। इस दौर की कविताएँ अतिशय सुकुमार्य और माधुर्य से परिपूर्ण थी। इन कविताओं की अतीन्द्रिय और अति वैयक्तिक सूक्ष्मता से और इसकी लक्षणात्मक अभिव्यंजनात्मक शैली से हरिवंशराय बच्चन उकता गए थे।

मधुशाला बीसवीं सदी की शुरुआत के हिंदी साहित्य की अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसमें सूफ़ीवाद का दर्शन होता है। हरिवंशराय बच्चन ने मधु, मदिरा, हाला (शराब), साकी (शराब परोसने वाली), प्याला (कप या ग्लास), मधुशाला और मदिरालय की मदद से जीवन की जटिलताओं के विश्लेषण का प्रयास किया है। बाद के दिनों में मधुशाला इतनी मशहूर हो गई कि जगह-जगह इसे नृत्य-नाटिका के 13 रूप में प्रस्तुत किया गया और मशहूर नृत्यकों ने इसे प्रस्तुत किया। मधुशाला की चुनिंदा रूबाइयों को प्रसिद्ध गायक 'मन्ना डे' ने 1973 में एलबम के रूप में प्रस्तुत किया। मधुशाला जब पहली बार प्रकाशित हुई तो शराब की प्रशंसा के लिए कई लोगों ने उनकी आलोचना की। बच्चन की आत्मकथा के अनुसार, महात्मा गांधी ने मधुशाला का पाठ सुन कर कहा था कि, 'मधुशाला की आलोचना ठीक नहीं है।'[7]

महाकवि सुमित्रानंदन पंत ने कहा था कि, "मधुशाला की मादकता अक्षय है। 'मधुशाला' में हाला, प्याला, मधुबाला और मधुशाला के चार प्रतीकों के माध्यम से कवि ने अनेक क्रांतिकारी, मर्मस्पर्शी, रागात्मक एवं रहस्यपूर्ण भावों को वाणी दी है।"[8] मधुशाला में भाषाई सुंदरता तो है ही, साथ ही जीवन दर्शन भी कूट-कूट कर भरा है - जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है। 'मधुशाला' सिर्फ शराब-सौंदर्य की बातें नहीं करती बल्कि यह जीवन, सौंदर्य, उसकी सार्थकता और उसकी जीवंतता व नश्वरता के बारे में भी बताती है। हरिवंशराय बच्चन ने बड़े धैर्य और सच्चाई के साथ सीधी-सादी भाषा और शैली में सहज कल्पनाशीलता और जीवंत बिंबों से सजाकर सँवारकर हिंदी को अनूठे गीत दिये। इसमें एक-एक शब्द नाप तौलकर प्रयोग किया गया और वो भी इतने इत्मीनान से कि बस, सुनने वाला सुनता ही रह जाता है, चाहे वह पीने वाला हो या न भी हो, हाँ बस कविता की थोड़ी सी समझ होना जरूरी है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने चिंतामणि में प्रतीकों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि, 'किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना मन में आ जाती है। उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएं विशेष मानवाधिकारों या भावनाओं को जागृत कर देती हैं।'[9] सुमित्रानंदन पंत की वाणी में भी कहा गया है कि, 'प्रतीक अभिव्यक्त को व्यक्त करने का माध्यम है।'[10] हरिवंशराय बच्चन के काव्य में मानव जीवन के विभिन्न आयामों का गुलदस्ता है। मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, निशा निमंत्रण, एकांत संगीत, बंगाल का अकाल आदि रचनाओं में वह हालावाद से चलकर सामाजिक समरसता के मार्ग से होते हुए अध्यात्म के उच्च शिखर पर पहुंचे हैं। प्रतीकों के माध्यम से वह भौतिक से अध्यात्म का रास्ता बना पाए हैं और इसी वजह से बच्चन जी की मधुशाला को सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। उन्होंने प्रतीकों का प्रयोग एक ऐसे विषय के लिए किया जिस विषय को लोग लिखते हुए कतराते थे, या उसका जिक्र समाज को कबूल नहीं

था। 'मधुशाला' जिसका अभिधार्थ मदिरा की दुकान है, लेकिन बच्चन ने इसका प्रयोग अनेक प्रतीकों में किया है–

"हंस मत्त होते पी-पीकर,
मानसरोवर मधुशाला।"[11]

यहाँ हंस जीव का प्रतीक है और मधुशाला मानसरोवर का।

"सुधारकों का करती है,
काम अकेली मधुशाला।"[12]

यहाँ मधुशाला सुधारक के प्रतीकात्मक स्वरूप में प्रयोग किया गया है।

"कितने अरमानों की बनकर,
क़ब्र खड़ी है मधुशाला।"[13]

यहाँ अरमानों एवं अनेक प्रबल इच्छाओं को कब्र के प्रतीक के रूप में मधुशाला का प्रयोग हुआ है।

"काल प्रबल है यह पीनेवाला;
संसृति है यह मधुशाला।"[14]
यहाँ मधुशाला संस्कृति का प्रतीक है।

'बच्चन' की मधुशाला जितनी अभिधापरक नजर आती है उतनी ही इसमें व्यंजना भी लक्षित होती है। यदि इसे इसकी भूमिका के बिना पढ़ा जाए तो सामान्य पाठक इसके अभिघात्मक अर्थ में खो जाता है और इसमें मौजूद अन्यार्थ से वंचित रह जाता है। मधुशाला में रूपक, मानवीकरण, अन्योक्ति जैसे अलंकारों कि यथासंगत भरमार है।

बच्चन ने मधुशाला की पहली ही रूबाई में रहस्यवाद की ओर संकेत किया है। मृदु भावों रूपी हाला को सर्वप्रथम ईश्वर रूपी प्रियतम को अर्पित करते हुए नज़र आते हैं और तत्पश्चात् उसके अन्य जन तक पहुंचने की बात करते हैं।

"मृदु भावों के अंगूरों की, आज बना लाया हाला,
प्रियतम, अपने ही हाथों से, आज पिलाऊँगा प्याला,
पहले भोग लगा लूँ तुझको, फिर प्रसाद जग पाएगा,
सबसे पहले तेरा स्वागत, करती मेरी मधुशाला।"[15]

बच्चन 'मधुशाला' को अंतिम मार्ग या इष्ट मानते हुए कहते हैं कि व्यक्ति जब भक्ति मार्ग पर चलना शुरू, करता है तब उसे पथ ज्ञात नहीं होता और विभिन्न पथ देखकर वह उलझ जाता है। सांसारिक लोग उसके असमंजस और उलझन को बढ़ाने का काम करते हैं। ऐसे में अपने मंतव्य तक पहुंचने के लिए उसे बस एक ही राह पकड़ लेने की जरूरत है। एक राह उसे इष्ट तक ले जा सकती है। रूहानियत की शराब का इच्छुक व्यक्ति सोचता है कि मैं कैसे अपने इष्ट को पाऊँ जो मेरी जनम-जनम की प्यास बुझाकर अपने नशे में सराबोर कर दे। दुनिया में अनेकों पंथ हैं किंतु यह शराब एकाग्र अकेलेपन की राह पकड़कर साकी (ईश्वर) का ध्यान करने से ही मिलेगी।

"मदिरालय जाने को घर से, चलता है पीनेवाला,
'किस पथ से जाऊँ?' असमंजस, में है वह भोलाभाला;
अलग-अलग पथ बतलाते सब, पर मैं यह बतलाता हूँ....
'राह पकड़ तू एक चला चल, पा जाएगा मधुशाला।'"[16]

हरिवंशराय बच्चन ईश्वर भक्ति के रास्ते में मौजूद विभिन्न बाह्याडंबरों की निस्सारता को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि ईश्वर सिर्फ उस भक्त को मिल सकता है जो धर्मग्रंथों से ऊपर उठ चुका हो, ईश्वर आराधना के विभिन्न स्थानों के छद्म को जो समझ चुका हो तथा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताने वाले पंडितों, मोमिनों और पादरियों के बनाए जालों से जो मुक्त हो चुका हो क्योंकि ऐसा ही भक्त किसी भी आडंबर के बिना ईश्वर प्राप्ति की सच्ची कोशिश करता है। इस रूहानी मधुशाला में उनका ही स्वागत है जो मंदिर, मस्जिद और धर्म के झगड़ों के फंदों को काट चुके हैं क्योंकि ईश्वर एक है और इन चीजों

से परे है। जो कण-कण में ईश्वर को देखने की इच्छा रखते हैं, इन बाहरी तत्त्वों, धार्मिक स्थानों व लोगों को जो महत्त्व नहीं देते, उनका उस मधुशाला में स्वागत होता है।

"धर्म-ग्रंथ सब जला चुकी है, जिसके अंतर की ज्वाला,
मंदिर, मस्जिद, गिरिजे-सबको, तोड़ चुका जो मतवाला,
पंडित, मोमिन, पादिरयों के, फंदों को जो काट चुका,
कर सकती है आज उसी का, स्वागत मेरी मधुशाला।"[17]

बच्चन के अनुसार हिंदू और मुसलमान दो कौम हैं मगर ईश्वर एक है। जब तक ये दोनों ही कौम अपनी अलग-अलग पूजा-पद्धतियों के अनुसार कार्य करती हैं तब तक ये आपस में लड़ती रहती हैं किंतु जब ये बाहरी आवरणों, आडंबरों से मुक्त होकर ईश्वर प्राप्त करने की कोशिश करती हैं तब इनके बीच के बैर समाप्त होकर इनमें मनुष्य और मनुष्य की समानता नजर आने लगती है।

"मुसलमान औ' हिन्दू हैं दो, एक, मगर, उनका प्याला,
एक, मगर, उनका मदिरालय, एक, मगर, उनकी हाला;
दोनों रहते एक न जब तक, मस्जिद-मन्दिर में जाते,
वैर बढ़ाते मस्जिद-मन्दिर, मेल कराती मधुशाला!"[18]

निष्कर्ष

हरिवंशराय 'बच्चन' की कालजयी काव्य-रचना 'मधुशाला' 1935 से लगातार प्रकाशित होती आ रही है। सूफियाना रंगत की 135 रुबाइयों से गूँथी गई इस कविता की हर रुबाई का अंत 'मधुशाला' शब्द से होता है। पिछले आठ दशकों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी पाठक इसे गाते-गुनगुनाते आ रहे हैं। यह एक ऐसी कविता है, जिसमें हमारे आस-पास का जीवन-संगीत भरपूर आध्यात्मिक ऊँचाइयों से गूँजता प्रतीत होता है। अब तक मधुशाला का लाखों लोग रसपान कर चुके हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे। यह 'कविता का प्याला' कभी खाली होने वाला नहीं है, जैसा बच्चन जी ने स्वयं लिखा है...

"भावुकता अंगूर लता से, खींच कल्पना की हाला,
कवि साक़ी बनकर आया है, भरकर कविता का प्याला;
कभी न कण भर खाली होगा, लाख पिएँ, दो लाख पिएँ!
पाठक गण हैं पीनेवाले, पुस्तक मेरी मधुशाला।"[19]

दरअसल बच्चन जी का काव्य स्वतः स्फूर्त और नितांत वैयक्तिक है। उन्होंने जीवन की सारी नीरसताओं को स्वीकार करते हुए भी उससे मुँह नहीं मोड़ा है, बल्कि अपनी काव्य साधना के माध्यम से प्रयास किया है कि वे इसी नीरसता में सरसता की खोज कर लें। उनका मानना था कि एक मनुष्य के नीरस जीवन में भी कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जो उसे आनंद का अनुभव कराते हैं। अपने काव्य में वे इन्हीं तत्त्वों को खोजते भी हैं और इसी कारण उनकी मधुशाला हिंदी साहित्य की आत्मा का भी अंग बन गई और कालजयी रचनाओं की श्रेणी में सबसे आगे आ खड़ी हुई है।

मधुशाला जीवन के रस की शाला है जो यह पाठ पढ़ाती है कि, 'जीवन का रस मधु ही नहीं कटु भी होता है और इसका अनुभव भावाकुल मन ही कर सकता है।' मधुशाला में यही भावनात्मक मदिरा विद्यमान है। बच्चन की यह हाला सांसारिक हाला से नितांत अलग है। यह जगत की शीतल हाला नहीं, वरन् जीवन के जलते हुए प्याले में ज्वाला की हाला है। बच्चन की मधुशाला प्रेम, मस्ती और आनंद से ओतप्रोत है। हालावाद की इस विलक्षण प्रवृति के अतिरिक्त उनके काव्य में आध्यात्मिकता की झलक भी स्थान-स्थान पर दिखती है। कहीं यह कर्मवाद के समर्थन में उतरती हुई दिखाई जान पड़ती है, तो कहीं नियतिवाद व भाग्यवाद से गहरे तर्क-वितर्क करती हुई दिख पड़ती है। मधुशाला किसी विलासी व्यक्ति का आलाप नहीं, वरन् उसमें युगों से दबी हुई परंतु अपराजित मानवता की ही शाब्दिक अभिव्यक्ति हुई है। मधुशाला वस्तुतः जीवन के

पुनरावलोकन की प्रक्रिया है। मधुमास में जब प्रकृति हँस रही होती है तो उसमें कुछ पत्तों का टूटना छिपा होता है। इसी प्रकार वर्षाकाल मे भी कुछ स्थान ऐसे भी छूट जाते हैं जहाँ मेघ नहीं बरसते ठीक इसी प्रकार हास-परिहास के अवगुण्ठन में भी वेदना छिपी रहती है। जो इस वेदना को भुला, जीवन की हाला को पीकर मदमस्त होता रहता है, वही इस जीवन के जटिल पथ का धीर पथिक कहला पाने का अधिकारी होता है। यह विश्रांत पथिक अध्यात्म की छाँह में ही एक सुरूर एक ठहराव की प्राप्ति करता है। यह हाला चेतना की हाला है, जिसकी आज इस नैराश्य प्रधान जीवन में अत्यंत आवश्यकता है। यह उस संजीवनी बूटी की तरह है जिसका सेवन कर सुषुप्त जीवन माधुर्य जाग उठता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 https://abhivyakti-life/2021/11/23, नई दिल्ली, 6 जून 2024
2 बच्चन, हरिवंशराय, मधुशाला, राजपाल एंड संस प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 72
3 बच्चन, हरिवंशराय, मेरी श्रेष्ठ कविताएँ, राजपाल एंड संस प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 47
4 बच्चन, हरिवंशराय, मधुशाला, राजपाल एंड संस प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 52
5 वही, पृष्ठ सं 52
6 वही, पृष्ठ सं. 71
7 https://hi-wikipedia-org/wiki/»E0»A4»AE»E0»A4»A7»E0»A5»81»E0»A4» B6»E0»A4»BE» E0»A4»B2»E0»A4»BE
8 https://abhivyakti-life/2021/11/23, नई दिल्ली, 6 जून 2024
9 शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, चिंतामणि, भाग 2, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 118
10 बच्चन, हरिवंशराय, संपादक, पंत के सौ पत्र, हिंदी साहित्य संसार, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 41
11 बच्चन, हरिवंशराय, मधुशाला, राजपाल एंड संस प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 39
12 वही, पृष्ठ सं. 44
13 वही, पृष्ठ सं. 54
14 वही, पृष्ठ सं. 49
15 वही, पृष्ठ सं. 25
16 वही, पृष्ठ सं. 27
17 वही, पृष्ठ सं. 30
18 वही, पृष्ठ सं. 41
19 वही, पृष्ठ सं. 26

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

संस्कारः समाजश्च काव्यनाटकेषु

Dr. Jayakrishnan Nampoothiri N.D.
Assistant Professor
Department of Sanskrit Jyothisha
Government Sanskrit College
Thiruvananthapuram, Kerala 695034
Gmail ID – jayangsc@gmail.com
Mobile No - 9048879799

कुञ्चिकापदानि

कालिदासग्रन्थोक्तसामाजिकविभागाः, वर्णाः, कर्म, आश्रमः, विवाहः, विवाहप्रकारेषु प्राजापत्यविवाहः स्वयंवरविवाहः, गान्धर्वविवाहः, आसुरविवाहश्च।

प्रबन्धसंक्षेपः

अनुभूतस्य आविष्कारः भवति काव्यानि। समूहे विद्यमानानां जनानां सांस्कारिक-आर्थिकव्यवहाराणां प्रभावः काव्येषु दृश्यते। अतः एव काव्यैः तत्तत् कालीननां तत्तत् देशीयानां जनानाम् आचारव्यवहाराणां ज्ञानप्राप्तिः भवति। तादृशे काव्यप्रपञ्चे भारतीयानाम् अन्यतमं स्थानं अस्ति। भारतीयकवयः भासादयः अनेके सन्ति चेदपि कालिदासः तेषु प्रमुखः एव। तस्य काव्यनाटकादीनि तस्मिन् काले विद्यमानानां जीवनस्य चित्रणं भवति। कालिदासग्रन्थेषु सामाजिकविभागानां तथा विवाहभेदानां च चित्रणं कथमिति उपस्थापयितुं शोधपत्रेऽस्मिन् प्रयतते।

उपोद्घातः

साहित्यप्रपञ्चे प्रथमगणनीयं सर्वोत्कृष्टं च भवति संस्कृतसाहित्यम्। साहित्येऽस्मिन् विराजितेषु महाकविषु अग्रगण्यः भवति कविकुलगुरुः कालिदासः। तेन लिखितेषु लोकप्रशस्तकृतिषु कुमारसम्भव- रघुवंश-शाकुन्तल-विक्रमोर्वशीय-मेघदूतादयः अतीवप्रधानाः। तेषु कालिदासग्रन्थेषु समाजस्य विस्तृतां काजिद्रूपरेखां दृष्टुं शक्नुमः। भारतीयानां सामाजिकजीवनं कविकुलगुरुकालिदासस्य कृतिषु कथं प्रतिबिम्बते इति अस्मिन् शोधपत्रे प्रस्तूयते।

सामाजिकविभागः -

हिन्दुसमाजस्य विभागरचना पारम्परिकरीत्या चतुर्षु वर्णेषु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्ररूपेण आरब्धा। लुब्धकानां, धीवराणां, चण्डालानां एवमेव अस्यां श्रेण्यां अन्तर्लीनेतरजातिजनानां च पञ्चमवर्णत्वेन उल्लेखोऽपि दृश्यते। अर्थशास्त्रस्य शुक्रनीतेश्च अनुसारं पञ्चमवर्णजनाः नगरस्य बहिः निवासं अकुर्वन्। फाहियान् महोदयः अमुं विषयम् अङ्गीकुर्वन्ति।। राजा वर्णाश्रमाणां रक्षकः आसीत्। धर्मरक्षकः सः एव भवतीति कृत्वा तं नियन्तुः इति कथयति स्म।

वर्णाः -

वर्णव्यवस्थायाः नियमानामुल्लङ्घनं अत्यल्पमेव भवति स्म। नियमानां विरुद्धाचरणानि दमयितुं राजा सर्वदा सिद्धः आसीत्। कालिदासः वर्णाश्रमधर्मस्य महान् पृष्टपोषकः आसीत्। शूद्रः तपस्यां कर्तुं अयोग्यः, यतो हि तस्य कर्म तु उपरि विद्यमानवर्णत्रयाणां सेवा, अथवा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यानां सेवा तस्य तपरू, इति कविः वदति। सात्विकः ब्राह्मणः प्रथमगणनीयः, राजसिकः क्षत्रियः द्वितीयः इति सः गणयति।

वर्णः कर्मश्च -

उच्चवर्णीय-उद्धतजनानां उपहासात्मकसन्दर्भः अभिज्ञानशाकुन्तले उल्लिखितः अस्ति। कश्चन प्रहरी क्षत्रियवर्णीयः, धीवरस्य कर्मणः उपरि आक्षेपं कर्तुमुत्सहते। धीवरस्तु स्वस्य कर्मणः औचित्यं निर्भयेन स्थापयित्वा प्रतिवादं करोति। धीवरः ब्राह्मणानाम् उदाहरणं स्वीकृत्य स्वस्य वादमुपस्थापयति। वेदपारङ्गतो श्रोत्रियः निष्ठरः न भवति, तथापि यज्ञेषु पशूनां वधं कर्तुं क्रूरः भवितव्यः अस्ति। किमर्थमिति चेत् सः तस्य ब्राह्मणस्य सहजकर्म भवति। एवमेव मत्स्यबन्धनहननादिकं धीवराणां सहजकर्म।

यज्ञोपवीतधारणं ब्राह्मणानाम् अधिकारः भवति। ब्राह्मणस्य आजीविकायाः साधनं पौरोहित्येन प्राप्यमाना दक्षिणा एव। क्षत्रियाणां मुख्यकर्मस्तु युद्धमेव। वैश्यजनान् सूचयितुं श्रेष्ठी, वणिजः, सार्थवाहः इत्यादि शब्दाः प्रयुक्ताः।

आश्रम

ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-सन्यासाश्रमाः हिन्दुजनानां जीवनस्य अवस्थाविभागाः भवन्ति। किन्तु कालिदासः अन्तिम-आश्रमस्य कल्पनां कर्तुमशक्तवान्। रघुः पुत्रं स्वस्य स्थाने अवरोधं कृत्वा स्वयं तपश्चर्यार्थं गच्छति। एतादृशत्यागी वल्कलवस्त्रधारणं कृत्वा नगरात् दूरे निवसति स्म। एषः एव कालिदासमतेन अन्तिमः आश्रमः।

ब्रह्मचर्याश्रमे ब्रह्मचारी वेदाध्ययनं करोति। क्षत्रियस्तु धनुर्विद्यया साकं चतुर्णामपि वेदानां पठनं करोति स्म। अध्ययनकालपरिसमाप्त्यनन्तरं गृहस्थाः भविष्यन्ति। समग्रेषु चतुर्षु आश्रमेषु गार्हस्थ्यं सर्वापेक्षया मुख्यत्वेन परिगण्यते स्म। हिन्दुजनः ब्रह्मचारी भूत्वा विविधविद्यानाम् अध्ययनं कृत्वा, गार्हस्थ्याश्रमे सुखपूर्वकजीवनं कृत्वा, वार्द्धक्ये मुनिवत् जीवनं यापयित्वा, अन्ततो गत्वा योगमार्गेण स्वस्य शरीरस्य उत्सर्गं करोति स्म। एवं ऐहिकजीवनस्य पूर्णतां प्राप्नोति।

विवाह

कविः बहूनामपि संस्काराणां सङ्केतः स्वस्य कृतिषु धर्मविषयोल्लेखिताध्यायेषु अकरोत्। विवाहस्य विषये तु अधिकतया वर्णितमस्ति। द्विजस्य अत्यावश्यकसंस्कारः भवति विवाहः। धर्माचरणाय, धार्मिककर्तव्यानां पालनं कर्तुं पुरुषेण सह सहधर्मिण्याः आवश्यकता तु अपेक्षितमेव इति कविः उल्लिखति। अतः आश्रमेषु गृहस्थाश्रमस्य महिमा अधिका एव। विवाहनिश्चयादिविषये माध्यस्थं कुलपुरोहितः नो चेत् ब्राह्मणः एव करोति स्म। कुमारसम्भवे सप्तर्षयः शिवपार्वत्योः वरणार्थं हिमवन्तं याचनां कृतवन्तः।

विवाहप्रकाराः

कालिदासस्य रचनासु चतुष्प्रकारविवाहानां उल्लेखः दृश्यते। ते, स्वयंवरः, प्राजापत्यः , गान्धर्वः , आसुरः च भवन्ति। रघुवंशस्य षष्ठे सर्गे स्वयंवरस्य एकं विशदं वर्णनं कृतमस्ति।

स्वयंवरः -

कन्यायाः अभिभावकः राज्ञः उत तेषां युवराज्ञः स्वयंवरार्थम् आगन्तुम् आमन्त्रणं प्रेषयति। राजानः स्वस्य सेनाभिः सह कन्यायारू राज्ये प्रविशति। नगरस्य सिंहद्वारे आतिथेयः तेषां स्वागतं विधाय, पूर्णकुम्भादि-मङ्गलवस्तुभिः अलङ्कृत्य राजप्रासादं नयति। महान्तः राजानः बहवः स्वयंवरार्थं उपस्थिताः भवन्ति। आतिथेयः प्रातः काले अतिथीनां कृते प्रभातसूचनां प्रभातीपाठेन करोति। अनन्तरं राजानः सुन्दरवेषभूषादिकं धृत्वा बहुमूल्यसिंहासनेषूपविष्टाः भवन्ति। एकः महान् जनसमुदायः स्वयंवरं दृष्टुम् आगताः भवन्ति। स्वयंवरस्य अधिष्ठात्री शची इति परिगण्यते। सा आगतसूर्यचन्द्रादिवंशीयराज्ञां प्रशंसां कुर्वन्ति। उत्कृष्टचन्दनकाष्ठज्वालनेन प्रसारितसुगन्धवायुना, ध्वजैः, मङ्गलतूर्यध्वनेः उच्चतमस्वरप्रवाहेन, शङ्खनिनादेन च मुखरितस्वयंवरवेदिकां वैवाहिकवस्त्राभरणैः सज्जिता पतिंवरा अलङ्कृतशिविकायाम् आरुह्य प्रविशति। शिविकावाहकाः सभायां निर्मितराजपथे गच्छन्ति। राजकुमारी तस्याः परिचारिकानां मध्ये अतीवसुन्दरीव दृश्यते। सर्वेषां राज्ञां दृष्टिः तस्याः उपरि एव भवति। सर्वेऽपि स्वस्य कामनां

प्रकटयितुं, स्वस्योपरि तस्याः आकर्षणं भवेदिति विविधसङ्केतान् तथा अर्थपूर्ण-अभिव्यञ्जकान् प्रदर्शयन्ति। उदाहरणार्थं कश्चन राजा क्रीडाकमलं निर्जिघ्राति, अन्यः केतकपुष्पं विदलितं करोति, अपरस्तु समीपस्थेन सह वार्तालापं करोति, अपरः स्वस्य मकुटं सुष्टु स्थापयितुं प्रयतते इत्यादि। अनन्तरं राजकुमार्याः मुख्यसखी तथा पुरुषवत्- अन्तःपुरद्वाररक्षणा उपस्थितराज्ञां शक्तिसामर्थ्यादिगुणज्ञा प्रधानपरिचारिका कुमारी एकैकस्य राज्ञः सविधे नयतः। इष्टपुरुषस्य गले उचितनम्रतया धात्रीकराभ्यां दीर्घं वरणमालां धारयति। नागरिकाणां जयघोषमध्ये स्वयंवरः समाप्तिं याति। अनन्तरं वधूवरौ राजप्रासादं यातः। सर्वेऽपि नागरिकाः तौ द्रष्टुं स्वस्य गृहस्य वातायनानि उद्घाट्य उपविशन्ति। वरः मङ्गलसूचकद्रव्यैः चित्रैश्च अलङ्कृतराजप्रासादं प्रविशति। तदानीं विविध-आचारैः प्राजापत्यपद्धत्या विवाहः समारभते। प्राचीनकाले क्षत्रियेषु स्वयंवरस्य महती प्रसिद्धिरासीत् इति स्पष्टम्।

प्राजापत्यम्

कालिदासेन प्राजापत्यविवाहः सर्वोत्तमः इति परिगण्यते। कुमारसम्भवस्य सप्तमसर्गे पार्वत्या सह महादेवस्य विवाहः अस्यां पद्धत्याम् एव अभवत् इति कवेः अभिप्रायः। अस्मिन् विवाहप्रकारे कन्यायाः पिता मनुस्मृतौ उक्तरीत्या आचारादीन् विधाय वस्त्रभूषणालङ्कृतां कन्यां वराय ददाति। कदाचित् कन्यार्थी घटकानां साहाय्येनापि कन्याः पितुः सविधे स्वस्य निवेदनं ज्ञापयति। कुत्रचित् कन्यायाः उपस्थितौ अपि तत्सम्भवति। पार्वत्याः उपस्थितौ एव महादेवः स्वस्य निवेदनं प्रकटिते सति तस्याः मुखं रक्ताभं सञ्जातम्। स्वाभाविकतया जायमानलज्जया सा तु हस्ते विद्यमानकमलदलानां गणनावृत्तौ संलग्ना बभूव। कुमारसम्भवस्य सप्तमसर्गे विद्यमानं प्राजापत्यविवाहवर्णनं, तस्य विवाहप्रकारस्य सम्पूर्णपरिचयं ददाति। साधारणतया शुक्लपक्षे शुभतिथौ विवाहस्य सिद्धतां करोति पिता। कन्यायै सर्वे मङ्गलाशंसां ददाति। चन्दनादिगन्धयुक्त-अभ्यङ्गस्नानात्परं कन्यायाः अलङ्कारः क्रियते। मुखे तु गोरोचनमिश्रितं पत्राणां साहाय्येन चित्रणं कुर्वन्ति। अधरे युक्तवर्णलेपनं कुर्वन्ति। अक्षिणोः अञ्जनं स्थापयति। एवं सर्ववस्त्राभरणालङ्कारभूषितां तां अग्रजाः स्त्रियः आशीर्वदन्ति। वरस्याप्यलङ्कारादिकं तस्य गृहे स्त्रियः कुर्वन्ति। मङ्गलवाद्यवादनेन साकं कन्यागृहं प्रस्थौति वरः। तस्मै वराय राजसदृशप्रतिष्ठां कल्पयति। छत्रचामरधारी कश्चन परिचारकः अपि तमनुसरति।

सर्वाण्यपि गृहाणि मङ्गलसंविधाभिः समलङ्कुर्वन्ति। पूर्णकुम्भेन गृहद्वाराणि सुशोभितं कुर्वन्ति। आगताय वराय विध्यनुसारं स्वागतं विधाय तमुपावेशयति। पुरोहिताः स्तोत्रपाठान् कुर्वन्ति। शिष्टाचारप्रवीणाः परिचारिकाः वरं वधूसमीपं नयन्ति। वधू स्वौम्यभावेन अग्निदेवस्य परिक्रमणं कृत्वा पुरोहितादेशानुसारं यथाविधि अग्नौ हव्यमर्पयति। विवाहं कारयन् पुरोहितः एवमाशीर्वादं ददाति, अग्निदेवरू विवाहस्य साक्षी भवति, उत्तमदम्पती भवतम्।

गान्धर्वः

प्रणयिनः विवाहेन विनैव दाम्पत्यजीवनं कुर्वन्ति गान्धर्वे। युवायुवत्योः पारस्परिकरागेन आरम्भ्य बान्धवानां अज्ञानेनैव विवाहं सम्पद्यते। अनन्तरं धर्मशास्त्रानुसारं दम्पत्योः स्वीकृतिः क्रियते पितृभ्याम्। गान्धर्वविवाहः चेदपि सम्यग् परीक्ष्य एव करणीयः, यतोऽहि जीवने विवाहस्य किञ्चित् वैशिष्ट्यमस्ति। शाकुन्तले पूर्वकालेऽपि विवाहे गान्धर्वरीतिः प्रचलिता इति कालिदासः समर्थयति।

आसुरविवाहः

दुहितृशालसंस्थया... इति वाक्यांशेन आसुरविवाहस्य अप्रत्यक्षोल्लेखं कालिदासः करोति। आसुरविवाहार्थं शुल्कदानं अपेक्षितमेव। आसुरब्राह्मविवाहयोः भेदः अयमेव हि आसुरे शुल्कः आवश्यकः, ब्राह्मे तु अनावश्यकः। सामाजिकमूल्यरहितानां धनवतां जनानां मध्ये अयं सम्प्रदायः प्रचलति स्म। कालिदासस्य कृतिषु बहुत्र आसुरविवाहस्य उल्लेखः समुपलभ्यन्ते। वधूप्रस्थानं, वरवध्वोः अवस्था, बहुविवाहः, सवर्णविवाहः, पुत्रविचारः, प्रथमरात्रिः इत्यादिविषयाः अपि स्वस्य कृतिषु कालिदासः सुष्टु आविष्करोति।

कालिदासस्य काले सामाजिकविभागाः कथम् आसीत्, तथैव सामाजिकजीवने कथं तेषां प्रभावः, इत्यादिविषयेषु महाकविः कालिदासः स्वीयग्रन्थेषु बहुविस्तृतरूपेण दर्शयति। तथैव तदानीन्तने समूहे विवाहः कथं प्रचलति स्म, विवाहे के के भेदाः आसीन्, इत्यादि विषयाः अपि स्पष्टीकुर्वन्ति। एते सामाजिकविभागाः विवाहभेदाश्च सम्प्रति प्रत्यक्षेण वा परोक्षेण समाजे दृष्टिपथमायाति। एतेषां विषयाणां अध्ययनेन प्रायोगिकपथानयनेन च सामाजिकसन्तुलनं परिरक्षितुं शक्यते।

कालिदासकृतीनां प्रभावः न केवलम् अस्माकं राष्ट्रे, अपि च वैदेशिकानां - विशिष्य- पाश्चात्यक्षेत्रेऽपि सुव्यक्तरूपेण दृष्टुं शक्यते। केचन विमर्शकाः एवं वदन्ति यत् कालिदासस्य कृतयः केवलं भारतीयसामाजिकमूल्यानां उद्बोधकाः एव न, तत् सर्वस्यापि लोकस्य उपकारभूतं तत्वं दीपवत्प्रकाशयतीति शम्।

सूचिका

1 सहायकाध्यापकः,संस्कृत-ज्योतिषविभागः, सर्वकारीयसंस्कृतमहाविद्यालयः, तिरुवनन्तपुरम्
2 (वर्णचतुष्टय -रघुवंशः- १८-१२)(वर्णाश्रमाणां - शाकुन्तले)
3 (लुब्धकैः-शाकुन्तलम्)।
4 (फाहियान्स् रिक्काड् आफ् बुद्धिस्टिक् किङ्डम्स् पृष्ट सं -४३)
5 (रधुवंशम् ११-९०)
6 (अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६-१)
7 (पि॑यवंशमुपवीतलक्षणं..।। रधुवंशम् ११-६४)
8 (गृहितदक्षिणोऽस्मि.. मालविकाग्निमित्रम्)
9 (समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः- शाकुन्तलम्)
10 (शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्, वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् - रघुवंशम्- १-१८)
11 (तरुवल्कलवाससां - रघुवंशम् - ८.११)
12 (निवसन्नावसथेपुरादबहिः - रघुवंशम् ८-१४)
13 (आश्रममन्त्यमाश्रितो - रघुवंशम् ८-१४)
14 (उपात्तविद्यो- रघुवंशम्-५-१) (समाप्तविद्येन रघुवंशम् ५-२०) (चतस्रः दश.. .रघुवंशम् ५-२१)
15 (गृहीतविद्यो धनुर्वेद- विक्रमोर्वशीयम्) (क्रमश्चतस्राः ततार विद्याः- रघुवंशम्-३-३०)
16 (सर्वोपकारक्षममाश्रमं रघुवंशम् ५-१०)
17 (सहधर्मचारिणी - कुमारसम्भवम् ८-२९, शाकुन्तलम्) (क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् कुमारसम्भवम् ५-१०)
18 (कुमारसम्भवम् ६-३१, ६५, ७८, ७९)
19 (रघुवंशम् ५-३९, ६४, ७६, ७-१५)
20 (रधुवंशम् ७-१३, १५, २८, कुमारसम्भवम् ७-७३, ८९)
21 (शाकुन्तलम् ३-२०)
22 (दुहितृशुल्बसंस्थया.. रघुवंशम् ११-४०)
23 (प्रस्थापयामास ससैन्यं... रघुवंशम् ५-४०)
24 (नगरोपकण्ठे.. रघुवंशम् ५-६१)(द्वारविनिवेशितपूर्णकुम्भाम्.... रघुवंशम् ५-६३)
25 (रघुवंशम् ६-१)
26 (रघुवंशम् ६-७)
27 (रघुवंशम् ७-३)
28 (रघुवंशम् ६-१०)
29 (रघुवंशम् ६-१२)
30 (रघुवंशम् ६-१३, १५, १६, १९)
31 (प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव....रघुवंशम् ६-८०)

32 (कुमारसम्भवम् ६-८४)
33 (ऋद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायां कुमारसम्भवम् ७-१)
34 (किञ्चिन्मधूच्छिष्ट विमृष्टरागा... कुमारसम्भवम् ७-१८)
35 (अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः कुमारसम्भवम् ७-२८)
36 (कुमारसम्भवम् ७-४०)
37 (कुमारसम्भवम् ७-४१, ४२)
38 (रघुवंशम् ७-१६)
39 (कुमारसम्भवम् ७-५२)
40 (कुमारसम्भवम् ७-८३)।
41 (शाकुन्तलं ५-१६)
42 (शाकुन्तलम् ५-२४)
43 (शाकुन्तलम् ३-२७)
44 (रघुवंशम् ९-३८)

सहायकग्रन्थसूची

- रघुवंशः— कालिदासः, डा.श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन् वाराणसी 221001, 2015
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्— कालिदासः, डा.राकेशशास्त्री, संस्कृतग्रन्थाकार संस्कृतनगर दिल्ली 110085, 2017
- फाहियान् रिकार्ट्ओफ् बुद्धिस्ट् किङ्डम्— फाहियान्, जयिंस् लेगे, 1877
- मालविकाग्निमित्रम्— कालिदासः, सि.आ.र्देवधर, मोत्तिलाल बनारसीदास दिल्ली, 2018
- विक्रमोर्वशीयम्— कालिदासः, डा. गङ्गासार्ग राय, चौखम्बा संस्कृतसंस्थान् वाराणसी 221001, 2014
- कुमारसम्भवम्— कालिदासः, श्री पं.शेषराजशर्मा रेग्मी, चौखम्बा संस्कृतसंस्थान् वाराणसी 221001, 2021
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्— कालिदासः, श्री नवकिशोरकर शास्त्री, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन् वाराणसी 221001, 1981
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्— कालिदासः, डा.यदुनन्दन् मिश्र, चौखम्बा ओरियन्टलिय वाराणसी 221001, 1987

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

సామాజిక మార్పుకు దోహదపడిన క్రైస్తవ జానపద సాహిత్యం

డా॥ అనిత మార్గరెట్ నేలటూరి
M.A., M.Phil., Ph.D
తెలుగుశాఖ అధ్యక్షులు
ఎస్.ఆర్.ఆర్ & సి.వి.ఆర్ ప్రభుత్వ డిగ్రీ కళాశాల (స్వ)
విజయవాడ
సెల్: 86397 28322

భారతదేశంలో భిన్నమైన జీవన సంస్కృతులలో తెలుగు వారి జీవన విధానం చాలా గొప్పది. తెలుగు ప్రజల ఆచార వ్యవహారాలు, సాంప్రదాయాలు ఎంతో ఘనకీర్తి గలవి. దీనికి కారణం పల్లెలు అందులో నివశించే గ్రామీణులు. సంస్కృతికి పునాది వేసేది పల్లెలే, అరమరికలు లేని గ్రామీణులైన జానపదుల జీవన విధానం ప్రఖ్యాతి గలది. జానపదం అంటే పల్లెటూరు. అక్కడ నివశించే ప్రజలే జానపదులు. వీరు అలనాటి నుండి వారసత్వంగా వస్తున్న ఆచారాలను, వ్యవహార శైలి, కట్టుబాట్లు నిరంతరం కొనసాగిస్తూ భవిష్యత్ తరాలకు వారసత్వాన్ని అందిస్తారు. జానపదుల ద్వారా సృష్టించబడిన సాహిత్యమే జానపద సాహిత్యము. ఇది జానపదుల పనులు, పండుగలు వారి సంతోషాలు, బాధలలో నుండి పుట్టిన వ్యక్తీకరణలుగా వారి మధ్య సంబంధ బాంధవ్యాలు, ఆత్మీయబంధాలు దృఢమవ్వడానికి దోహదపడింది. ఇలా ఏర్పడిన జానపదుల జీవనంలో సాహిత్యం పలురకాలుగా కనబడుతుంది. అవి గేయ వాఙ్మయం, వీరగాథ వాఙ్మయం, స్త్రీల పాటలు, బాలబాలికల పాటలు, గద్య రూపాత్మకాలు, సామెతలు, పొడుపు కథలు, ఇతిహాసాలు, వ్రతాలు, జానపదకథలు, పురాణాలు వంటి సాహిత్యరీతులలో విస్తృతమయ్యాయి. ప్రజాబాహుళ్యంలోనికి చొచ్చుకుని పోయి వారి జీవితంలో భాగమయ్యాయి.

సామాజిక వ్యవస్థలో మతం నిర్వహించే పాత్ర కీలకమైనది. మన దేశం అనేక మతాలకు పుట్టినిల్లుగా వుంది. ఇతర దేశల నుండి వచ్చిన ఇస్లాం, క్రైస్తవం వంటి మతాలను కూడా తనలో ఇముడ్చుకొని భిన్నత్వంలో ఏకత్వాన్ని చాటి చెప్పిన సమైఖ్యదేశం మనది. మతం మనిషిని సన్మార్గంలో నడిపించి క్రమశిక్షణతో జీవించడానికి దోహదం చేస్తుంది. మత ఆచారాలు, సిద్ధాంతాలు, నీతి సూత్రాలు, అనుభవాలు మనిషి మనుగోడకు సోపానాలుగా నిలుస్తాయి.

క్రైస్తవ మతం భారతదేశానికి క్రీ.శ. 52వ సంవత్సరం, క్రీస్తు శిష్యుడైన సెయింట్ థామస్ ద్వారా పరిచయం అయినప్పటికి ఆంధ్రదేశానికి 1536వ సంవత్సరంలో బీజాపూర్ సుల్తానుల పరిపాలన కాలంలో ప్రవేశించింది. క్రైస్తవ మిషనరీల సేవాభావం కారణంగా సమాజంలో అన్ని వర్గాలకు విద్య, వైద్యం చేరువయ్యాయి. హిందూమతం కారణంగా నిరాదరణకు గురి అయిన దళిత వర్గాలు మిషనరీల కృషి ద్వారా విద్యావంతులయ్యారు. వారిలోని ప్రతిభ పాటవాలను మెరుగుపరచుకొని అప్పటికి విస్తృతంగా వాడుకలో వున్న అన్ని జానపద సాహిత్య రీతులలో విశేష కృషి చేశారు. బైబిల్ గ్రంథాన్ని ఆకళింపు చేసుకొని క్రైస్తవ మత సత్యాలను, అందులోని నీతిని, సాంఘిక విషయాలను తమ రచనలలో చొప్పించి జానపదుల హృదయాలను ఆకట్టుకొనేలా రచనలు చేశారు.

తెలుగు భాషలోని అన్ని సాహిత్య ప్రక్రియలలో క్రైస్తవ సాహిత్యం ప్రవేశించి సాహిత్యాభివృద్ధికి కారణమయింది. ముఖ్యంగా జానపద కళారూపాలను విస్తృతంగా ఉపయోగించి క్రైస్తవ సాహిత్య అభివృద్ధికి కారణమయ్యారు. జానపద కళల్లో ముఖ్యమైనవి హరికథ, బుర్రకథ, కోలాటం, గేయాలు.

హరికథ :-

సకళ కళా సమాహార కళావిశేషం అయిన హరికథ ఉత్తమ ప్రచార సాధనంగా గుర్తించబడినది. క్రైస్తవ మతానికి చెందిన కథా రచయితలు, కథాగాయకులు దీనిని కథాకాలక్షేపం అని, సత్కథాగానం అని పిలిచేవారు. క్రైస్తవ కథాగానాలను

రచించిన మొదటి కవి పిడతల జానకవి (1876 – 1971). ఈయన బైబిల్‌లోని ఘట్టాలను హరికథ రూపంలో మలిచాడు. "ఆదాంహవ్వలు", 'క్రీస్తు జననం' వంటి కథాకాలక్షేపాలు ఆయన రాసిన వాటిలో ముఖ్యమైనవి. 1959లో మనోహరకవి "అవతార విలాసం" అనే హరికథను రచించాడు. మందపాటి అబ్రహాం భాగవతార్ "యేసుని చరితము" అనే హరికథను, అత్తోట రత్నకవి "సంసోను దెలీలా"ను, హనుమగుత్తి దేవదానం "కరుణా సాగర చరిత్ర" వంటి సత్కథా కాలక్షేపాలు రచించి విరివిగా ప్రాచుర్యంలోనికి తెచ్చారు.

హరికథ లేక కథాకాలక్షేపం ప్రదర్శన సమయంలో కథకుడు చేతిలో చిరుతలు పట్టుకొని, కాలికి మువ్వలు కట్టుకుంటాడు. పట్టు ధోవతిని పంచెకట్టు కట్టి, ఒక పట్టు కండువాను నడుముకు కట్టుకొని, మెడలో పూలమాల వేసుకొని చక్కని విగ్రహ పుష్టితో ఆడుతూ, పాడుతూ కథను చెప్పి సభను రంజింపజేస్తాడు. ఇతని పాటకు తోడుగా వయోలిన్, వీణ, హార్మోనియం, మృదంగం సహకార వాయిద్యాలుగా ఉంటాయి. ముఖంలో సాత్వికం, కాలితో నృత్యం, చేతులతో చిరుతలు మోగిస్తూ ఆంగికాభినయాల్ని గుప్పిస్తాడు. మధ్యమధ్యలో హాస్యాన్ని జోడించి పిట్టకథలతో వేదాంత బోధన చేస్తూ జనరంజకంగా హరికథాగానం చేస్తాడు.

ఈ సత్కథాగానంలో మొదట దైవ ప్రార్థన ఉంటుంది.

ఉదాహరణకు **"పరమ పావన దేవా, దురితభంజనా**
ధరనుత గుణ గణా యతి దీవనా
వరదా విను భజియించెద కరుణ బ్రోవుము దేవా"

ఇలా సభాస్తుతి చేసిన తరువాత కథాగానాన్ని ప్రారంభిస్తాడు. కథాంతంలో ఫలశ్రుతి, ఆ తరువాత మంగళం పాడడం ఆనవాయితీగా ఉంటుంది.

బుర్రకథ :-

బుర్రకథ అన్ని జానపద కళారూపాల కంటే శక్తివంతంగా జానపదుల హృదయాంతరాళాల్లోకి దూసుకొని పోగ జానపద కళ. బుర్రకథ జానపదుల మనస్సును స్పందింపజేసే, ఒక దృశ్యాత్మక కళారూపం. ఈ కళారూపాన్ని క్రైస్తవ రచయితలు విరివిగా వాడుకున్నారు. క్రైస్తవ బుర్రకథా రచయితలలో గేరా ప్రేమయ్య ప్రధానుడు. ఈయన దాదాపు నలభై బుర్ర కథల్ని రచించాడు తన "పండిత రామాబాయి బుర్రకథ"లో ఇలా చెప్పాడు గేరా ప్రేమయ్య

"ఘన కవి పండిత సుజనుల్లారా తందాన తాన
తోడు వంతల జోరుగ పాడు తందాన తాన" అని ప్రారంభిస్తాడు.

తంబుర కథను వివరిస్తూ బుర్రలను గుమ్మెట్లంటారు. గుమ్మెట్లనే బుర్రలంటారు. తంబురను మీటుతూ శ్రుతి వేసుకుంటారు కాబట్టి తంబుర కథ అయింది అని వివరిస్తాడు.

క్రైస్తవ బుర్ర కథల్ని ప్రధానంగా మూడు రకాలుగా విడదీయవచ్చు.

1. పాత నిబంధనకు చెందిన బుర్ర కథలు
2. క్రొత్త నిబంధనకు చెందిన బుర్ర కథలు
3. క్రైస్తవ భక్తుల చరిత్రకు చెందిన బుర్ర కథలు

బుర్ర కథ ప్రదర్శించడానికి మొత్తం ముగ్గురు వ్యక్తులుంటారు. మధ్యలో ఉన్న వ్యక్తి ప్రధాన కథకుడు, ఇరు వైపులా ఇద్దరు పంతగాళ్ళు ఉంటారు. మధ్యలోని వ్యక్తి కుడి చేతితో తంబుర మీటుతూ, ఎడమ చేతితో అందెలు వాయిస్తూ కథలోని రసావేశాన్ని అనుసరించి చిందులు తొక్కుతూ గంతులు వేస్తూ వుంటాడు. తల పై ఈకలు పొదిగిన పెద్ద తలపాగా ధరిస్తాడు. చెవులకు పొడవుగా వేలాడే కుండలాలు పెట్టుకుంటాడు. మణికట్టు వరకు చేతులతో పొడుగాటి అంగీ ధరిస్తాడు. మెడలో పొడవాటి జరి కండువాను వక్షం మీద వేలాడేలా వేసుకుంటాడు. నడుముకు గట్టిగా దట్టి కట్టి కండువా కొనల్ని అందులో

దోపుకుంటాడు. గిలకల వరకు పంచెకట్టు కట్టి కాళ్ళకు గజ్జెలు ధరించి జానపద కథకుని రీవిలో కనిపిస్తాడు. ఇద్దరు వంతగాళ్ళలో ఒకడు కథకుడు పాడిన పాటల్లోని విషయాల్ని వివరిస్తాడు. మధ్య మధ్యలో కథతో సంబంధం లేని వర్తమాన సమాజంలో జరిగే విషయాలన్ని హాస్య ధోరణితో మరో వంత వివరిస్తూ ఉంటాడు. ఈ విధంగా ప్రధాన కథకుడు, ఇద్దరు వంతలు పూర్తి సమన్వయంతో కథను వివరిస్తూ మధ్యలో హాస్యాన్ని జోడిస్తూ కథ సజావుగా సాగేలా నడిపిస్తూ ఉంటారు.

ప్రతి బుర్రకథ ప్రారంభంలో దైవసంకీర్తనం విధిగా ఉంటుంది. కథను గూర్చి, రచయితను గూర్చి, ప్రేక్షకుల గురించి, కథను చెప్పించే దాతలను గురించి వంతల చేత చెప్పించడం సర్వసాధారణం. గేరా ప్రేమయ్య రచించిన నెహెమ్యా చరిత్ర, దావీదు విజయం, యోసేపు చరిత్ర, మీనా కడుపులో యోనా చరిత్ర, పలుకూరి సత్యానందం రచించిన ఎలీషా, చిన్నాబత్తిని మైఖేల్ కవి రచించిన వీర సంసోను వంటి బుర్రకథలు ప్రసిద్ధి చెందాయి.

కోలాటం :-

గ్రామీణ ప్రాంతాలలో కోత పండుగల సమయంలో డిసెంబర్ నెలలో క్రిస్మస్ పండుగ వేళల్లో ఈ కోలాటాలు, భజనలు చేయడం పరిపాటి. కోలాటం చేసే వారందరూ ఒకే రకమైన వేషం, వస్త్రధారణతో వుంటారు. కాళ్ళకు గజ్జెలు కట్టుకుంటారు. చేతిలో కోలలు ధరించి ఇద్దరిద్దరు సరిహద్దులుగా రెండు కక్ష్యలలో నిలబడతారు. ఇలా నిలబడిన వాళ్ళు కోపు ప్రారంభం కాగానే వెలుపలి కక్ష్యలోపలికి లోపలి కక్ష్య వెలుపలికి వచ్చేలా ఆడుతూ అటూ, ఇటూ ఉన్న హద్దులకు కట్టెలు అందిస్తారు. ఇలా సాగే ఈ కోలాట నృత్యాన్ని అనుకరిస్తూ కొందరు క్రైస్తవులు గేయాలు రచించారు. యేసుక్రీస్తు మహిమల్ని చాటుతూ సరెళ్ళ శామ్యూల్ సుబ్బయ్య రాసిన కోలాటం పాట ప్రసిద్ధి చెందింది.

"కోలలు వేయండి - యేసుని కొనియాడను రండి
మేలులన్నిటికి మూలంబితడని - చాలనుతించుచు
జాలము చేయక"

అంటూ నాలుగు పాదాలలో కోలాటానికి అనువుగా చరణాలను రచించి, కోలలు వేస్తూ తాము వ్యక్తం చేయాల్సిన భావాలను పాట ద్వారా చెప్పడం కనిపిస్తుంది. కోలాటంలో నృత్యం, గంతులు వేయడం వంటి అభినయాలు ఉంటాయి. ఈ అభినయంతో పాటు క్రీస్తు స్తుతి ఉపదేశం ఈ పాటలో ఉండడం గమనార్హం.

గేయాలు :-

జానపదులలో గేయాలు వారి వ్యవసాయక పనులలో, శ్రమను మరచిపోవడానికి ఉత్సాహంగా అందరూ పని చెయ్యడానికి సృష్టించబడ్డాయి. క్రమంగా వారి సంతోష సమయాలు, బాధలు, ఉత్సవ సమయాలు, పండుగలలో పాడుకొని ఆనందించడానికి రాయబడి వారి అనుదిన జీవితంలో భాగమయ్యాయి. క్రైస్తవ జానపద కళాకారులు, రచయితలు ముఖ్యంగా దురాచారాల నిర్మూలనకు గేయాలు రచించారు. సాంఘిక దురాచారాలను దుయ్యబడుతూ గేయ రచన చేశారు. కుల వ్యవస్థ, మద్యపాన నిర్మూలనం, స్త్రీ బానిసత్వం వంటి సామాజిక అసమానతలను విమర్శిస్తూ రచనలు చేశారు. మద్యపానం వలన కలిగే చెడును ప్రత్యక్షంగా చూసిన ఎందరో కవులు ప్రబోధ గేయాలు రచించారు. నేలటూరి లూధర్ రాసిన గేయంలో

"మద్యపాన ప్రియులు గాకండి ప్రియులారా
మీరా మత్తులోనే మునిగి పోకండి
మద్యపానము చేయు వారికి తద్యముగ...."

అని మద్యపానం వలన కలిగే అనర్థాల్ని వివరించాడు. మద్యపానం వల్ల రక్తం చెడుతుంది. అకారణంగా శక్తి హీనులు అవుతారు, భక్తి తొలగిపోతుంది. ఈ కారణంగా ముక్తి మార్గాన్ని తెలుసుకోలేక ముందుగతి తెలియక హీనులవుతారు అని చక్కగా వివరించారు.

పూర్వపు సమాజంలో స్త్రీల పై ఆంక్షలు, బాల్య వివాహాలు, సతీసహగమనం వంటి దురాచారాలను ఖండిస్తూ, స్త్రీ అభ్యుదయానికి క్రైస్తవ జానపద గేయాలు తమ వంతు కృషి చేశాయి. స్త్రీకి విద్య అవసరమని చాటి చెప్పాయి. వితంతు వివాహాలను ప్రోత్సహించాయి. స్త్రీలకు విద్య లేనందు వలన కలిగే అనర్థాలను గుర్తించి పండిత రామాబాయి స్త్రీ జనోద్ధరణకు చేసిన కృషిని ప్రశంశిస్తూ గేరా ప్రేమయ్య తన గేయంలో ఇలా పేర్కొన్నారు.

"భళానోయి భళా రామాబాయి సై
బహుగానాలోచిందోయ్
స్త్రీకి విద్యలేనందున సై
హీనమాయె బ్రతుకునందున సై
నాగరికత లేనందున సై....."

అంటూ విద్యాహీనులుగా ఉన్న స్త్రీలు మేల్కొనాలని, బాల్య వివాహాలు చేయకూడదని, బానిసత్వం పనికి రాదని, కులమత, జాతి వ్యత్యాసాలు పోవాలని ఈ గేయంలో కవి వివరించాడు.

క్రైస్తప జానపద సాహిత్యం సమకాలీన సంఘ సంస్కరణకు ప్రతీకగా నిలిచింది. సాధారణ జానపద సాహిత్యానికి, క్రైస్తవ జానపద సాహిత్యానికి ఉన్న బేధాన్ని గమనిస్తే, క్రైస్తవ జానపద సాహిత్యంలో కొంత భాషాపరమైన మార్పు కనిపిస్తుంది. క్రైస్తవ కవులు విద్యావంతులు కావడం కారణంగా ఈ మార్పు కనిపిస్తుంది. మతం ఏదైనా వారి హృదయాంతరాళాలలోని భావాన్ని వ్యక్తీకరించడం ప్రధానంగా గమనించవచ్చు. క్రైస్తవ మతం మారుమూల గ్రామాలకు కూడా సునాయసంగా చొచ్చుకొని వెళ్ళడం గమనిస్తే జానపద సాహిత్యం తన పాత్రను ఎంత సమర్థవంతంగా నిర్వర్తించిందో దోహదమవుతుంది. జానపద కళలు హిందూ క్రైస్తవుల సంస్కృతికి దర్పణాలై క్రైస్తవ సాహిత్యాన్ని సుసంపన్నం చేస్తున్నాయి. సామాజిక రుగ్మతలను రూపుమాపిన శక్తి జానపద సాహిత్యానిదే అని నిస్సందేహంగా చెప్పుకోవచ్చు. సమాజంలో విప్లవాత్మక మార్పులను క్రైస్తవ జానపద సాహిత్యం ప్రేరేపించింది. తద్వారా స్త్రీ విద్య, సమానత్వం, సోదరభావం ఏర్పడి కులమత తారతమ్యాలు తగ్గడానికి కృషి జరిగింది. భారతీయ జ్ఞాన సుసంపన్నత ఏ కొద్ది వర్గాలకో, వర్ణాలకో సొంతం కాదు, ఇది సమాజంలోని అన్ని వర్గాలది, అన్ని వర్ణాలది, భారతీయులందరిది అని ఏకతాటి పైకి తీసుకువచ్చిన క్రైస్తవ జానపద సాహిత్యం తెలుగు సాహిత్యాభివృద్ధికి తన వంతు కృషి చేయడం ముదావహం, హర్షణీయం.

ఆధార గ్రంధాలు :-

1. జానపద కళారూపాలు - సాహిత్యం	-	డా॥ కొళ్ళాగుంట ఆనందన్
2. తెలుగులో క్రైస్తవ సాహిత్యం	-	డా॥ ఆర్. ఆర్. సుందరరావు
3. తెలుగు క్రైస్తవ సంఘాల కీర్తనలు - పరిశీలన	-	డా॥ విజయసలోమి
4. తెలుగు సాహిత్యానికి క్రైస్తవుల సేవ	-	డా॥ గుజ్జర్లమూడి కృపాచారి
5. తెలుగులో క్రైస్తవ సాహిత్యం	-	డా॥ గుజ్జర్లమూడి కృపాచారి
6. తెలుగు సాహిత్య చరిత్ర	-	డా॥ ద్వా.నా. శాస్త్రి
7. తెలుగు సాహిత్య సమీక్ష	-	డా॥ జి. నాగయ్య

డా॥ అనిత మార్గరెట్ నేలటూరి
M.A., M.Phil., Ph.D
తెలుగుశాఖ అధ్యక్షులు
ఎస్.ఆర్.ఆర్ & సి.వి.ఆర్ ప్రభుత్వ డిగ్రీ కళాశాల (స్వ)
విజయవాడ
సెల్: 86397 28322

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

जहीर कुरेशी की ग़ज़लों में अभिव्यक्त आर्थिक चिंतन

प्रो. डॉ. केशव क्षीरसागर
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग,
रामकृष्ण परमहंस महाविद्यालय, धाराशिव 413501 महाराष्ट्र
मो. 9960895796
ई मेल - drkeshavkshirsagar@gmail.com

सारांश : हमारे देश में पर्याप्त जमीन है, नदियाँ हैं, परंतु हम निष्क्रिय हैं। लाखों एकड़ जमीन बंजर पड़ी है। यदि उसकी ओर ध्यान दिया जाये और जल-व्यवस्थापन सुचारु रुप से योजनाबद्ध हो, भाषणबाजी के बजाय प्रत्यक्ष कृति की जाये तो भूख की समस्या सुलझ सकती है। बेरोजगारों, श्रमजीवियों के श्रम का सही उपयोग किया जाना चाहिए। कृषिप्रधान देश में कृषि के संबंध में योजनाबद्ध कार्यान्वयन होना आवश्यक है। हमारा संकल्प यही हो कि भूख गरीबी हल करने के भाषण दिए बिना, हम बंजर खेतों में भी 'हल' लेकर आए हैं! जहीर ने प्रमुख रुप से गरीबों की स्थिति का यथार्थ चित्रण किया है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, लेखन में भी प्रतिबद्धता मुझे उन लोगों की तरफदारी करने की प्रेरणा देती है जो हाशिए पर है। जो गरीबी रेखा से नीचे हैं, लेकिन जिनकी भूख हमेशा गरीबी रेखा से ऊपर होती है आज भी गरीबी की बदहाली से निकलने का एकमात्र विकल्प मुझे वामपंथ ही नजर आता हैश। समग्रतः जहीर कुरेशी ने आर्थिक बोध के अंतर्गत भारत की प्रमुख समस्या भूख और रोटी पर अधिक लेखनी चलायी है। इसी के साथ जहीर ने आर्थिक विषमता पर चिंता व्यक्त की है। पूँजीवादी व्यवस्था में शोषण पर वे दुःखी होते हैं। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जहीर के आर्थिक चिंतन के अंतर्गत आम आदघ्मी की आवश्यकताओं के अभाव, उसका आर्थिक शोषण, राजनेताओं और शासकों का भ्रष्टाचार आदि स्थितियों का सटीक निरुपण किया गया है।

प्रस्तावना : विश्व के किसी भी व्यक्ति एवं समाज के जीवन में आर्थिक स्थिति या व्यवस्था की अहम् भूमिका होती है, क्योंकि अर्थ पर ही अधिकांश जीवन निर्भर है। इसका परिणाम यह हुआ कि अर्थप्राप्ति को जीवन का श्रेय और प्रेय मान लिया गया। फलस्वरूप आर्थिक शोषण एवं आर्थिक संघर्ष में वृद्धि हुई। आज के भौतिकवादी परिवेश में अर्थ की अर्थवत्ता को महत्त्व प्राप्त हो गया है। आर्थिक दृष्टि से समाज तीन वर्गों में विभाजित है—उच्च वर्ग - यह वह वर्ग है जो आर्थिक दृष्टि से संपन्न है। यह ऐश्वर्य-विलासिता पूर्ण जीवन व्यतीत करता है। जमींदार, पूँजीपति इस वर्ग में आते हैं। इनकी संपन्नता का मुख्य कारण गरीबों एवं सर्वहारा वर्ग का आर्थिक शोषण है। मध्य वर्ग यह सामान्यतः नौकरीपेक्षा वर्ग है। जिसे आर्थिक संघर्ष करना पडता है। यही वर्ग अपने परिवार की दैनिक आवश्यकताओं को किसी भी तरह पूरा कर लेता है, परंतु सुविधाओं के लिए इसे कष्ट करना पडता है। निम्न वर्ग इस वर्ग की व्यथा यह है कि यह जीवन की अत्यावश्यक वस्तुओं से भी वंचित है। आर्थिक समस्या से घिरा हुआ यह वर्ग रोटी, कपड़ा और मकान के अभाव में भूखा, वस्त्रहीन एवं बेघर है। एक युग ऐसा था जब भारत को शस्य श्यामल कहा जाता। इसे सोने की चिडिया का देश माना जाता था। किंतु मुगल एवं अंग्रेजी शासन

में इस देश का आर्थिक शोषण हुआ।

बीज शब्द : ऐश्वर्य, दैन्यं, अमीरी-गरीबी, रोटी, कपडा, मकान, राजनीति, संवेदनशीलता, बेरोजगारी।

विषय प्रवेश : हिंदी गज़लकारों ने अपनी चिंता व्यक्त करते हुए अपनी गज़लों में समाज में व्याप्त 76 गरीबी, बेकारी, भूख, अभाव, श्रम का शोषण, आर्थिक विषमता आदि का चित्रण मार्मिक एवं यथार्थ रूप में किया है। जहीर कुरेशी का संवेदनशील मन और चिंतित मस्तिष्क द्रवित होता है, जिसका प्रमाण उनकी गज़ले हैं। भारत में लाखों लोग भीख मांगकर अपनी भूख मिटाने का प्रयास करते हैं। महानगरों में तो सडकों पर भीख मांगनेवाले बच्चों की भीड दिखाई देती है। वहाँ गुंडे, बदमाश, दलाल, अनाथ बच्चों से भीख मंगवाते है। समाज की मानसिकता यह होती है कि लोग अंधों, अपंगों को अधिक देते हैं। अतः ये दलाल बच्चों को अंधा तक बनाने में हिचकिचाते नहीं हैं। इस संदर्भ में जहीर लिखते है– "वो भीख माँगता नहीं था इसीलिए, उस फूल जैसे बच्चो को अंधा किया गया।"[1]

भारत की यह विसंगत एवं विडंबना पूर्ण स्थिति है की जो बच्चे कल के नागरिक हैं देश के भविष्य हैं वे सबसे उपेक्षित हैं उन पर जुल्म ढाए जाते हैं, देश में बाल मजदूरों को काम पर रखना गैरकानूनी माना गया है। इसके लिए मालिक के लिए सजा का प्रावधान भी है। परंतु कानून बनाना आसान है, किंतु उसे व्यवहार में लाना कठिन है क्योंकि हमारा शासक बेईमान, भ्रष्ट हैं। यह दृश्य सरे आम दिखाई दे रहा है कि लाखों बच्चे होटलों, कारखानों में, विशेष रूप से जोखिम भरे कारखानों में काम कर रहे हैं और शासन एवं समाज भी उनके प्रति संवेदनहीन होकर तटस्थ भाव से देख रहा है। इस वास्तविक स्थिति पर जहीर ने पेड तन कर भी नहीं टूटा में लिखा है– होटल में काम करते हुए बन गए बुजुर्ग, ऐसे करोडों बच्चों में बचपन खुला नहीं। दिन-प्रतिदिन महँगाई बढती जा रही है। कभी रोजमर्रा की वस्तुओं के भाव अचानक बढ जाते हैं तो कभी इतने गिर जाते हैं कि किसानों को अपनी फसल की लागत तक प्राप्त नहीं होती। विशेष रूप से यह भाव बढना या घटना व्यापारियों-दलालों का षडयंत्र होता है– "वस्तुओं के भाव उछले या गिरे, बस, यही होता रहा बाजार में।"[2]

सीमित आय और बढती महँगाई के कारण वेतनभोगी मध्यवर्ग को अपने घर का 'बजट' बनाना कठिन हो गया है। वैसे उसे सीख यह दी जाती है कि चादर देखकर पाँव पसारना चाहिए, परंतु यदि चादर छोटी हो और शरीर लम्बा हो तो क्या किया जा सकता है? आज मध्यवर्ग की स्थिति यह है कि उसका वेतन सीमित है और महँगाई के कारण आवश्यक वस्तुएँ भी खरीदी जायें तो खर्च बढ जाते हैं– "हमारी चादरें छोटी, शरीर लंबे है, हमारे खर्च की सीमा पगार से निकली।"[3] मध्य एवं निम्न वर्ग की विवशता यह है कि परिवार के बच्चों की खुशी के लिए, तीज-त्यौहार मनाना ही पड़ते हैं। इसके लिए आर्थिक व्यवस्था करनी पड़ती है। जिन लोगों के भाग्य में 'रोटी' नहीं है वे लोग बडी महत्त्वाकांक्षाएँ कैसे पाल सकते हैं। इनके लिए छोटी-सी आशा रोटी है उसकी प्राप्ति जीवनानन्द है रोटी ही उनकी सम्पत्ति है। जब हालातों में बदलाव नहीं आ रहा हो, स्थिति जैसी थी वैसी ही हो और वैसी ही रहनेवाली हो तब हालचाल पूछना बेमानी है। जिन प्रश्नों के उत्तर नकारात्मक हो, उन्हें पूछना व्यर्थ है।

गरीब के लिए बासी रोटियाँ मिल जाना भी पेट की भूख को शमन करने के लिए काफी है। राजनेताओं द्वारा गरीबों को श्गरीबी हटाओश जैसे नारे परोसे जाते हैं। समाचार-पत्रों में गरीबों के कल्याण पर नेताओं के भाषण छपते हैं। जिनमें देश की खुशहाली के झूठे समाचार एवं बड़े-बड़े शासकीय विज्ञापन प्रकाशित होते हैं। लोग खाली पेट अखबार ओढकर लेटे रहते हैं। इसी समस्या पर जहीर भी चिंता व्यक्त करते हैं कि कभी संसद में, कभी विधान सभा, कभी विभिन्न दलों की बैठकों में, कभी शैक्षिक संस्थाओं में इस विषय पर बैठकें होती हैं। जिनमें मात्र वाद-विवाद ही होता है। परंतु यह संवाद नहीं हो पाता है कि, इस समस्या का असली समाधान क्या है– "गाँव में उस 'भूख' का परिवार बसता है, जिस पे बहसें हो रही थी 'राजधानी' में।"[4] हमारे शासक जो रेशमी नगर दिल्ली के संसद भवन में बैठे हैं। वे अपने स्वयं की स्वार्थ पूर्ति में इतने व्यस्त है कि उन्हें आम जनता कि सबसे मौलिक समस्या को देखने-समझने का वक्त नहीं है। अधिकांश नेतागण ऐश्वर्य-विलासपूर्ण जीवन का आनंद ले रहे हैं। राजशाही-व्यवस्था आज भी बनी हुई है। राज दरबार में आम जनता की उपेक्षा होती थी, आज भी स्थिति वहीं है। अतः यह सब देखकर जहीर को लिखना पडा कि सचमूच भूख गरीबी क्या है, ये दिल्ली-दरबार न जाना। इसका

परिणाम यही हुआ है कि गरीबों ने स्थितियों से समझौता कर लेना सीख लिया है। भूख उनकी संगिनी बन चुकी है– हम गरीबों के संग भूख के, रोज ही, सात फेरे हुए।

पूँजीपति वर्ग शोषक है, परंतु पेट की भूख को सुलझाने के लिए उसी की नौकरी करनी पडती है। यह जितना भी काम ले, जितना भी परिश्रमिक दे, स्वीकर करना पडता है पूँजीपति वर्ग आर्थिक दृष्टि से पूर्णरूपेण सम्पन्न होने के कारण अपने शरीर को कष्ट देना नहीं चाहता। पाँव होते हुए भी पैदल चलने का वह कष्ट उठाता नहीं है, हवा में उडता है। ग़ज़लकार अपने युग की आर्थिक स्थिति को देखता है और उसी के अनुरूप अपने भावों एवं विचारों को व्यक्त करता है। देश में शेअर खरीदने और बेचने का आम चलन था परंतु शेअर मार्केट अनिश्चित एवं जोखिम भरा होता है। शेअर मार्केट की अर्थव्यवस्था के उतार-चढाव के परिणामों पर जहीर ने लिखा है– "यूँ लगातार शेअर गिरे वो जो पर्वत थे, कंकर हुए।"[5]

आज के वैश्वीकरण के दौर में मुक्त व्यापार की धूम मची हुई है। बाजारवाद के कारण वस्तुओं का पारस्परिक देशों में व्यापार बढ रहा है। जितना मुक्त व्यापार होता है उतना काला धन भी बढता जाता है। इस अर्थ व्यवस्था पर गज़लकार ने लिखा है–"बाजारवाद आया तो बिकने की होड में, अनमोल वस्तुओं के भी तेवर बदल गए।" [6] आजकल समाचार-माध्यमों से यह ज्ञात हो रहा है कि अनाज उत्पादन बड़े पैमाने पर हुआ है। परंतु, शासकीय गोदामों में उन्हें व्यवस्थित रूप से रखे जाने की व्यवस्था नहीं है। अतः बहुत-सा अनाज वर्षा में सड़ रहा है। इसी के साथ व्यापारी वर्ग भी अनाज एवं आवश्यक वस्तुओं का संग्रह कर लेते हैं, जिससे महँगाई बढती है। जिसपर जहीर पेड़ तन कर भी नहीं टुटा में लिखते हैं– "पड़ा रहता है गोदामों के दम-घोंटू अंधेरे में, बहुत-सा माल खुद उठ कर ना आ पाया दुकानों तक।" [7] समकालीन परिवेश में संपूर्ण विश्व पूँजीवादी व्यवस्था को अपना रहा है। अमेरिका के समान संपन्न राष्ट्र में भी धन कमाने की होड़ लगी हुई है। भारत में भी यही प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। अर्थ-प्राप्ति के लिए भाग-दौड, होड़ होने के कारण नैतिक एवं अनैतिक मार्ग से धन प्राप्त किया जा रहा है। जहीर इसे भी एक रोग मानते हैं, जिसके कारण लोग शारीरिक एवं मानसिक रूप से रुग्ण होते जा रहे हैं। धन प्राप्ति के लिए जितने कारखाने, संस्थाएँ, मॉल बड़े पैमाने पर खड़े हो रहे हैं, उतने ही ऊँचे और विशाल अस्पताल भी बन रहे हैं इस संदर्भ में वे पेड़ तन कर भी नहीं टूटा में एक जहग लिखते है–"आप मानें या न मानें युग में पूँजीवाद के, रात-दिन पैसा कमाना भी तो बीमारी बनी।"[8]

आज आर्थिक अभाव का कारण बेरोजगारी है। शिक्षा पद्धति दोषपूर्ण होने के कारण इसमें रोजगार के लिए शिक्षा की व्यवस्था नहीं है। केवल डिग्रियाँ देना एकमात्र उद्देश्य है जिसके फलस्वरूप युवकों के लिए नौकरी के लिए भटकाव ही उनकी नियति है। बेरोजगारों की संख्या के अनुपात में नौकरियाँ नहीं है। किशोर विद्यार्थी विद्या प्राप्त करते हुए उज्ज्वल भविष्य की आकांक्षा रखते थे। परंतु, डिग्री प्राप्त करने के पश्चात बेरोजगारी का कलंक परिवार, समाज द्वारा उन्हें अपमान, ताने सुनने को बाध्य होना पड़ता है। बेरोजगार रहते हुए उनकी स्वयं की एवं देश की श्रमशक्ति की भी हानि होती है। इस संदर्भ में जहीर लिखते हैं– "पूरी बेरोजगारी पीढी की, दौड़-प्रतियोगिता है लड़को पर। इन्द्रधनुषी किशोर सपनों का, आईना टूटता हैं सड़कों पर।"[9] ग़ज़लकार की व्यथा यह है कि आज अर्थ की अर्थवत्ता इतनी प्रबल हो गयी है कि धनबल से कुछ भी खरीदा जा सकता है। एक युग था जब मन को सर्वोपरि माना जाता था। किसी का तन खरीदना आसान था परंतु हमारा मन, हमारा अध्यात्म इतना अमूल्य था कि उसे खरीदना संभव नहीं था। वे लिखते है परंतु आज के भौतिकवादी युग में हमारा मन, हमारी आत्मा, हमारे आध्यात्मिक मूल्य सब कुछ बिकाऊ हो गये है– "तन खरीद लेते थे, लेकिन, मन खरीदना मुश्किल था। अब तो आत्मा की खरीद भी कुछ नोटों तक आ पहुंची है।"[10] भारत कृषि प्रधान देश माना जाता है इसलिए यहाँ की अधिकांश जनता गाँव में रहती है। भारतमाता भी ग्रामवासिनी है। जो गाँव कभी शस्यश्यामल थे, धन-धान्य के भंडार थे, जहाँ प्रकृति की उन्मुक्तता थी, जहाँ प्राकृतिक सम्पदा थी, उन्ही गाँवों की आज यथार्थ स्थिति के बारे में जहीर लिखते है– "धूल-धूसरित, दुर्गम, सुविधाहीन गाँव की आँखों में, मुझको एक समूचा हिन्दुस्तान दिखाई देता है।"[11] कृषि प्रधान अर्थ व्यवस्था में गाँवों का महत्त्व था क्योंकि खेतों में काम था परंतु, अब गाँवों की आर्थिक स्थिति दयनीय होती जा रही है। इसलिए गाँव उजड़ रहे हैं यहाँ का युवा वर्ग नौकरी-व्यवसाय की तलाश में शहरों में स्थानांतरित हो रहा है। इसके बारे में वे लिखते है–"लौटता है कौन फिर शहरों से

गाँवों की तरफ,आजकल तो सिर्फ गाँवों से शहर जाते हैं लोग।"[12]

हमारे देश में ऐसी जनजातियाँ भी है जो रोजीरोटी के लिए निरंतर भटकती रहती है। एक स्थान पर रहना उसकी नियति में नहीं है। ये लोग बेघर है, इनका कोई स्थायी गाँव नहीं है, स्थायी पता नहीं है। बैलगाड़ियाँ ही इनका आवास है। इन्हीं विवश लोगों की व्यथा ग़ज़लकार व्यक्त करते हुए कहते हैं—"अपना तो बंजारों सा जीवन है, संग-संग आवास लिये फिरते हैं।"[13]

समाज में कुछ संपन्न वर्ग भी है जिसके पास अपार काला पैसा है। जिसे विदेशी बैंकों में रखा जाता है या यह काला धन मंदिरों में दान कर दिया जाता है। यही कारण है कि भारत जैसे गरीब देश में भगवान अत्यंत धनवान है। इस दान से लाभ तो यह है कि स्वार्थ के साथ परमार्थ भी साध्य हो जाता है, श्दानवीरश की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है—"काले पैसे को दिल खोलकर, देने वाला ही 'दानी' लगे!"[14]

भारत में एक ओर अतिसंपन्न वर्ग है जिसका रहन-सहन ऐश्वर्य एवं विलासपूर्ण है। तो दूसरी ओर अत्यंत गरीब है। इस आर्थिक विषमता को अन्योक्तिपूर्ण भाषा में दुष्यंत एवं जहीर ने व्यक्त किया है। जहीर भी इसी बात को यूँ व्यक्त करते हैं— "घर के अन्दर आपके, वैभव की जगमग देखकर, कीमती कालीन पर हम पाँव धरने से डरे।"[15] हमारे सारे नाते-रिश्ते आत्मीयता पर नहीं आर्थिक निकष पर आधारित हो गये हैं। जो पिता घर में प्रतिमाह वेतन लाता था, उसको सम्मान प्राप्त था। लेकिन, वह कमाने योग्य नहीं रहा तो परिवार में उसका मूल्य शून्य-सा हो गया है। इस परिवर्तित मानसिकता की वास्तविकता द्रष्टव्य है वो वक्त भी था, पिता छः हजार मासिक था, जो आज बच्चों को धेला दिखाई देता है।

आज भी भारत में किसानों को कृषि हेतु बीज-खाद या खेती के औजारों को खरीदने के लिए ऋण लेना पड़ता है। भारत का किसान तो कर्ज का बोझा लेकर जन्म लेता है। जीवन में कर्ज चुकाते-चुकाते कर्ज छोड़कर ही मृत्यु को प्राप्त करता है। आज तो किसानों की स्थिति सर्वविदित है कि वे बड़ी संख्या में आत्महत्या कर रहे हैं। यही स्थिति मध्यवर्ग की है, जिसे संतानों को शिक्षा के लिए, पुत्री के विवाह के लिए, गंभीर बीमारियों के लिए कर्ज लेना पड़ता है और तब ब्याज चुकाना उनका एक मात्र लक्ष्य हो जाता है, मूल वहीं का वही खड़ा है, पिछले ग्यारह सालों से, वे मासिक किस्तों में केवल ब्याज चुकाने आते हैं।

आज के भौतिकवादी युग में स्वार्थी प्रवृत्ति बढ जाने के कारण अर्थ का अत्यधिक महत्त्व है। भारत में जायदाद को लेकर पारिवारिक संघर्षो की संख्या अधिक है। कोर्ट-कचहरी में एक ही परिवार में संपत्ति के लिए लड़ाई-झगड़े चल रहे हैं। घरों में भी बँटवारे होकर दीवारे खड़ी की जा रही है। सुखी केवल वही लोग है जो अर्थ को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देते हैं। जिनका दृष्टिकोण है कि ये लोग संतोषी है, वे जितना भी प्राप्य है उसी में अपना खर्च चलाने की दृष्टि रखते हैं। वे धन के पीछे अपना सुख-चौन नहीं खोते हैं।

निष्कर्ष : अकथ को व्यक्त करती जहीर कुरेशी की प्रतीकात्मक हिंदी गज़लें भीड़ में सबसे अलग हैं, नितांत मौलिक एवं अछूती भी। वे गज़लों को लोकप्रियतावाद के लांछन से निकालकर समकालीन कविता जैसा विचार सम्पन्न बनाना चाहते हैं, वे समाज की विसंगति को उजागर कर उसे एक नया मोड़ देने की कोशिश करते दिखाई देते है मनुष्यता के चेहरे को पढ़ना चाहते हैं और नहीं तो रोशनी के पिछवाड़े के अंधेरों की आंखों में झांकना चाहते हैं। पेड़ तन कर भी नहीं टुटा की गझलें इस बात की साक्षी है कि जो उन्होंने देखा- समझा है वह बैमानी नहीं है। उसमें अभी भी सद्भाव के संचार-प्रसार की काफी गुंजाइश बाकी है। यही उनके गझालों की सबसे बड़ी विशेषताएँ है। जहीर कुरेशी की गजलों में आर्थिक चिंतन आम आदमी के जीवन-संघर्ष, गरीबी, महँगाई, बेरोजगारी, सामाजिक आर्थिक असमानता और शोषण के यथार्थ से निर्मित हुआ है। उनका काव्य आर्थिक विषमता के विरुद्ध संवेदनशील आवाज उठाते हुए मानवीय गरिमा, सामाजिक न्याय और समानता की आकांक्षा को अभिव्यक्त करता है। जहीर कुरेशी की गजलें केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति ही नहीं बल्कि अपने समय की आर्थिक-सामाजिक वास्तविकताओं का सार्थक दस्तावेज और जनपक्षधर चेतना की प्रभावी अभिव्यक्ति है।

संदर्भ ग्रन्थ सूचि :

1. जहीर कुरैशी - चांदनी का दुःख, पराग प्रकाशन दिल्ली, प्रकाशन 1986 पृ. 25
2. वही 32
3. जहीर कुरैशी - भीड में सबसे अलग, मेधा बुक्स दिल्ली, प्रकाशन 2003 पृ. 43
4. जहीर कुरैशी - चांदनी का दुःख, पराग प्रकाशन दिल्ली, प्रकाशन 1986 पृ. 50
5. जहीर कुरैशी - पेड़ तन कर भी नहीं टूटा, अयन प्रकाशन नई दिल्ली प्रकाशन 2010 पृ. 55
6. वही पृ. 111
7. वही पृ. 19
8. वही, पृ. 104
9. जहीर कुरैशी - चांदनी का दुःख, पराग प्रकाशन दिल्ली, प्रकाशन 1986, पृ. 49
10. जहीर कुरैशी - समंदर ब्याहने आया नहीं है, अयन प्रकाशन नई दिल्ली प्रकाशन1992 पृ. 84
11. जहीर कुरैशी - भीड में सबसे अलग, मेधा बुक्स दिल्ली, प्रकाशन 2003 पृ.102
12. जहीर कुरैशी - समंदर ब्याहने आया नहीं है, अयन प्रकाशन नई दिल्ली प्रकाशन1992, पृ. 40
13. जहीर कुरैशी - एक टुकडा धूप, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली प्रकाशन 1979 पृ. 29
14. जहीर कुरैशी - भीड में सबसे अलग, मेधा बुक्स दिल्ली, प्रकाशन 2003 पृ. 17
15. वही पृ. 85

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

HANUMAN – AN INSPIRATION FOR PERSONALITY DEVELOPMENT AND SPIRITUAL INFLUENCE

ASWATHI. M
Research Scholar
Government Sanskrit College,
Thiruvananthapuram
aswathi2639@ gmail.com

Abstract

Hanuman holds a unique and sacred place in the Indian spiritual and cultural tradition. A symbol of immense strength, wisdom, and unwavering devotion, Hanuman is not confined to being just a heroic figure in the Ramayana. His life and character reflect eternal values that guide an individual toward inner growth and spiritual elevation.

Despite possessing great power, he remained humble; despite his knowledge, he never indulged in self-praise. These qualities elevate Hanuman's greatness. Through self-discipline, strong faith, and a spirit of service, Hanuman exemplifies how a person can uplift their life. His life is a source of inspiration for both personal development and a righteous way of living. Strength, intelligence, humility, devotion, courage, and self-control are harmoniously integrated in him.

Thus, Hanuman remains a timeless source of inspiration for holistic personality development and spiritual progress, making him highly relevant even in modern times.

Introduction

Hanuman was born to Anjana Devi, with Vayu (the Wind God) as his father, and is believed to embody the divine energy of Lord Shiva. Surya (the Sun God) was his **Guru** (teacher). Following his guru's command, Hanuman served Sugriva, the son of his guru, as a minister.

A supreme devotee of Lord Rama, Hanuman was also a great scholar proficient in music, grammar, and scriptures. Above all, he stands as an ideal personality for all times. Hanuman as a Model for Personality Development and Spiritual Growth.

1. Devotion and Spiritual Surrender

Hanuman was the greatest devotee of Lord Rama. All his actions were dedicated to the divine. His devotion was pure and selfless. Devotion purifies the mind and surrender brings mental peace. Through devotion, one attains spiritual growth.

Hanuman's devotion was not limited to worship—it was active and expressed through action, sacrifice, and service. He teaches us that when duties are performed sincerely and selflessly, even daily work becomes a spiritual practice.



2. Self-Confidence and Self-Realization

A major lesson from Hanuman's life is self-confidence. Though he possessed immense strength from childhood, he was unaware of it. When Jambavan reminded him of his abilities, Hanuman leaped across the ocean to Lanka.

Often, people fail to recognize their own potential. With self-confidence, even the impossible becomes possible. Self-awareness is the first step toward personality development.

Hanuman symbolizes immense capability and confidence. His story shows that limitations often exist only in the mind. Overcoming self-doubt and recognizing hidden potential enables one to face challenges with courage.



3. Courage and Ability to Face Challenges

Hanuman was extraordinarily courageous. Crossing the ocean, entering Lanka, and confronting Ravana's army are examples of his bravery.

Obstacles are inevitable in life. Facing them with courage leads to success. Fear hinders growth, while courage transforms challenges into opportunities. His courage was rooted in faith and righteousness.



4. Service Mindset and Selflessness

Hanuman's life was dedicated to service. He used all his abilities for the service of Lord Rama. Selfless service elevates a person and earns respect in society. It also aids spiritual growth.

His great deeds were always for the welfare of others, never for personal gain. He reminds us of the importance of compassion and social responsibility. In a world driven by competition and self-interest, his service-oriented mindset shows a higher moral path.

Despite possessing extraordinary powers, Hanuman remained humble. He never claimed credit for his achievements, attributing everything to divine grace. This balance between strength and humility teaches that true greatness lies not in pride, but in gratitude and simplicity.



5. Self-Discipline and Control

Hanuman was a master of controlling his mind and senses. His life was marked by discipline and restraint.

Self-control is essential for success. A disciplined life enhances confidence, and discipline forms the foundation of personality. Without self-control, personality development is impossible.

His character reflects concentration, purity, and mental control. In today's world filled with distractions and stress, his life reminds us of the importance of clarity and self-discipline.



Conclusion

Hanuman is not merely a mythological figure, but an eternal guide for inner transformation. Devotion, courage, humility, discipline, and selfless service form the foundation of his life.

Qualities such as self-confidence, humility, devotion, courage, intelligence, service-mindedness, self-control, and respect for the **Guru** are essential for holistic personality development. When these values are practiced in daily life, individuals can achieve meaningful personal growth and progress steadily on the path of spiritual evolution.

Hanuman's life teaches us that true greatness lies not in physical strength, but in righteousness, devotion, humility, and self-discipline. By incorporating these values into our lives, we can attain both personal excellence and spiritual growth.

References

Kuttikrishna Marar, Hanuman Kathakal. D.C. Books, Kottayam, 2008.

Tarakan, K.M., Ramayana Padanam. National Book Stall, Kottayam, 1999.

Leelavathi, M., Bhakti Movement and Indian Spirituality. Kerala Sahitya Akademi, Thrissur, 2004.

Radhakrishnan, S., Indian Philosophy: An Introduction (Malayalam translation). D.C. Books, Kottayam, 2006.

Shashibhushan, M.G., Epics: Culture and Values. Kerala Bhasha Institute, Thiruvananthapuram, 2002

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

Vocational Education and Skill Development in Medieval India: A Historical Perspective

Ashok Kumar Yadav
Research Scholar, Department of Lifelong Learning & Extension
Chhatrapati Shahu Ji Maharaj University, Kanpur
Email: ashokyadav1308.official@gmail.com

Anjali Sachan
Research Scholar, History
Chhatrapati Shahu Ji Maharaj University, Kanpur

Abstract

In medieval India, vocational education did not exist as a distinct entity but was an integral part of society. The transfer of skills took place in family lineages, occupational castes, guilds, and religious schools. This essay studies the structure, pedagogical approaches, and social organization behind the system of vocational training in India in about eight to eighteenth centuries Anno Domini(AD). For that purpose, two systems existing in parallel at that time have been studied, namely, the indigenous Hindu system based on the gurukul and guild and the Perso-Islamic system based on the maktab and madrasa. In addition, medieval practices of vocational training in India have been traced back to the preceding Vedic and Buddhist tradition of crafts. It is found that medieval India had a functioning but informal ecosystem of skills whereby artisans, merchants, physicians and administrators were trained by apprenticeship and not classroom teaching. The paper concludes that many aspects of this ancient system are very much relevant for modern Indian skill development policy.

Keywords: Medieval India, Vocational Education, Skill Development, Guilds, Gurukul, Madrasa, Apprenticeship

1. Introduction

Educational system in India was never uniform. Education has always meant not only the acquisition of knowledge but also the development of vocational skills. In the medieval period spanning between the eighth century and the advent of colonial rule, this dual nature became more pronounced due to changes in politics, an increase in urbanization, and expansion of business which made it necessary to have artisans, warriors, clerical workers, and businessmen who were well trained (Kapur, 2018). The medieval era is considered an era of continuity in Indian history. The institutions that existed during the previous ancient era, like the gurukul and guild, continued to operate, and

some new institutions brought in by the Turks, Afghans, and Mughals, like the maktab and madrasa, also came into existence (Bhat, 2020; Ghonge et al., 2020).

Vocational education in this case would be seen in a broad sense. It entailed the training of craftsmen in various skills such as metalwork, textile manufacturing, construction, and ornament-making; the training of doctors, astrologers, and accountants; and the training of soldiers and administrators. Most of this training was carried out in a non-formal way through institutions such as the household, the workshops and the guild halls (Natarajan & Chunawala, 2009). The main focus of this paper is the organisation of this training, who conducted it, the methods employed, and the relationship of the same to the literary and religious form of education studied by historians.

This paper has three aims. First, it seeks to establish the institutional arrangements of vocational education in medieval India based on secondary historical sources. Secondly, it seeks to compare the two streams of education in India – indigenous and Perso-Islamic. Thirdly, it establishes a connection between this historical arrangement and the current discourse on skill development in India, where several scholars suggest that there has been a neglect of skill development through formal schooling in India (Akram, 2012; Mehrotra, 2017).

2. Historical Background

The period referred to as the medieval period of India is said to have begun from the fall of the Gupta dynasty's administrative system and the emergence of regional kingdoms until the end of the eighteenth century. Throughout this long period, the subcontinent has witnessed several instances of immigration, invasion, and interactions with Central Asia, Persia, and Arabia (Bella, 2024). Each such interaction has led to the introduction of crafts, administration, and centers of learning.

Two broad systems of education existed side by side. The older Hindu system rested on the idea that knowledge, including craft knowledge, was a family or lineage possession, passed from a teacher to a small number of students who lived with the teacher for a fixed period (Scharfe, 2018). The newer Perso-Islamic system rested on the mosque, the maktab for elementary learning, and the madrasa for advanced study of religious law, language, and, in many cases, mathematics and medicine (Bhat, 2020). Both systems coexisted with a third, less documented layer, namely the occupational guild, which trained members in a specific trade and regulated the quality and price of goods produced (Fuller & Narasimhan, 2010).

Scholars agree that these three layers did not operate in isolation. A student could receive elementary literacy at a maktab or a village school and still learn his family trade at home. A guild member could send his son to a madrasa for religious instruction while training him as an apprentice in the workshop during the same years (Sindhuja & Ashok, 2021). This overlapping structure is central to understanding vocational education in the period, because it shows that skill training was rarely separated from general education; the two proceeded together.

3. The Indigenous Hindu System of Skill Transfer

3.1 The Gurukul and Guru–Shishya Method

The gurukul, a system that had been passed on from the ancient era, continued into the medieval era for religion, literature, and sciences among the higher castes (Scharfe, 2018). Even though the

gurukul was largely thought to be a place where scriptures were learned, there have been many ancient and medieval texts found which point out that the education related to ayurveda, astronomy, logic, grammar, and arithmetic had also taken place using this type of residential system wherein the student resided at the house of the teacher and paid for his education through service and not through fees (Mishra & Aithal, 2023).

3.2 Caste-Based Occupational Training

In most cases, vocational education was based on caste (jati) as opposed to schooling. For instance, sons of carpenters, blacksmiths, weavers, potters, and goldsmiths were brought up within the family learning their father's profession from a very tender age (Collins, 2000). There were numerous benefits of such an approach, and among them, there was the surety of passing on specialised knowledge to succeeding generations as well as the lower cost of training, as it took place at home. However, it had certain disadvantages; for example, there was no possibility of occupational mobility, as well as for outsiders to learn any trade (Fuller & Narasimhan, 2010).

3.3 The Guild System

The trade and craft guilds, which were referred to as shreni in the ancient Sanskrit texts, continued to be an integral part of the system until the medieval times, especially within the urban and commercial centers (Deb & Maitra, 2023). The guild controlled entry into the profession, determined the quality of goods produced, established price controls, and most importantly in this context, ensured that the apprentices underwent appropriate training in order to be admitted into the profession. Thus, a young person would serve as an apprentice to a master craftsman for a specified number of years, provided room and board in return for labor, after which he became a member of the guild (Abbott, 1939).

4. The Perso-Islamic System and Vocational Elements

4.1 Maktab and Madrasa

The rise of Turkish and later Mughal dominance brought into existence a parallel system of Islamic schools or madrasas, which were prevalent all throughout northern and central India. The maktab school imparted basic education in reading, writing, and religious texts, while the madrasa taught advanced subjects like religion, law, philosophy, as well as mathematics and medicine in some well-known madrasas (Bhat, 2020). According to Kapur (n.d.), the royal patronage of these schools was an essential aspect because many of these madrasas were sponsored by kings and noblemen.

4.2 Court Workshops (Karkhanas)

One of the characteristic institutions of the Mughal era was the karkhana, which refers to the workshop maintained by either the state or nobles, employing and training skilled artisans to manufacture textile products, weaponry, jewelry, and even manuscripts for the court (Bella, 2024). In contrast to the caste system in the households, in the karkhanas artisans from diverse geographical and religious origins worked under one roof, facilitating skill exchange among the Persian, Central Asian, and Indian craftsmen. This institution proves that the state, in addition to the family or guild, could serve as the patron of vocational training in case of excessive demand.

4.3 Administrative and Clerical Training

The growth of the Sultanate and Mughal administrative system necessitated the emergence of an

educated cadre of people who could keep the records of the land, revenue and communications in Persian language. This need led to the emergence of a particular vocational pathway, which was imparted not formally through madrasas, but through informal training through apprenticeship to a clerk (munshi) (Kapur, 2018). It is a crucial point to remember that vocation training in the medieval period included not just manual vocations.

5. Comparison with the Ancient Period

Some of the practices mentioned above have their origins traced back to previous centuries. There was already an overlap between literary education and skill acquisition in guild-like institutions and schools among the ancient Indians, as depicted in Vedic and Buddhist texts (Scharfe, 2018). These practices were neither invented nor discovered by the medieval society but rather borrowed and enhanced due to new developments within politics and religion. The continuities include: first, the practice of guru-shishya education in the residential institution, second, apprenticeship practice within the occupation in the family, and third, the guild as the regulation body for trade skills (Ghonge et al., 2020). The major change within the medieval period includes the introduction of the second institutional stream called maktab-madrasa and the state workshop (Bella, 2024).

6. Methods of Instruction and Assessment

In both streams, teaching took place through oral instruction, memorization, and practice, rather than written textbooks given to each learner individually (Mishra & Aithal, 2023). Evaluation was informal and practical in nature – a craftsman was considered skilled if he produced an output according to the quality expected by his master or guild, while a scholar was evaluated based on his ability to recite, interpret, and apply the content of a text in front of his instructor. This kind of ongoing evaluation through actual practice is different from the process of written examination that later became common during the period of colonial rule (Sindhuja & Ashok, 2021). It must be noted that this system corresponds to the present-day concept of situated learning in vocational education theories (Billett, 2011).

7. Limitations of the Medieval System

Indeed, there were many strengths in this system of vocational training; some include cheapness, effective masters-apprentice supervision and training aligned with market demand. On the other hand, there were quite a number of weaknesses too. The training was confined to certain castes, religions and gender, such that one could not train in skilled occupations as part of the general populace (Fuller & Narasimhan, 2010). Participation of females in vocational and religious institutions was restricted; however, they continued to practice and teach household-based crafts such as weaving privately (Bhat, 2020). Also, there were no portable certificates of training apart from the good name of the guild or the family name, and this hindered one's ability to seek employment outside his home district (Abbott, 1939). All these weaknesses make it easier to understand why the reformers writing during the colonial times insisted on the need for India to adopt another system of technical education.

8. Relevance to Contemporary Skill Development

The historical review undertaken in this paper has ramifications for skill development policies in India today. As noted by contemporary authors, formal education after the era of independence did

not pay sufficient attention to vocational training, thereby resulting in the existence of an imbalance between the education system and the labour market (Akram, 2012; Mehrotra, 2017). The current national skill development programme aims at introducing practical and apprenticeship-oriented training into the education system (Barman, 2025). The medieval era can be quite illustrative in this respect due to the following reasons. First of all, the medieval era proves that there is a tradition of mentoring-based apprenticeship in India. Second, the example of the medieval era clearly indicates that the functioning of a skill ecosystem becomes effective only when several institutions, namely, the family, the guild/industry body, and the state, bear responsibility for the process of training rather than when one institution performs the task (Adhikary, 2005).

9. Conclusion

Vocational training and skilling in medieval India was not a phenomenon limited to the isolated institutions of craft schools but was deeply intertwined within family occupation, caste organization, trade guilds, religious schools, and in the Mughal era, the state run workshops. This system of gurukul and guild that originated in ancient India existed in tandem with the new system of maktab-madrasa, creating a multi-layered and informal ecosystem of skills. Skills were acquired through an apprentice system and oral testing and evaluation and not through any kind of written examination. Though this system created highly skilled artisans and enabled a varied economic system, this was limited to caste, religious and gender restrictions and there was no concept of certification. The study of history during this era provides important insights into the current reform process of vocational education in India.

References

Abbott, A. (1939). The development of vocational education in India. *Journal of the Royal Society of Arts, 87*(4503), 426–440.

Adhikary, P. K. (2005, September). Educational reform for linking skills development with employment in Nepal. In *Meeting basic learning needs in the informal sector: Integrating education and training for decent work, empowerment and citizenship* (pp. 215–228). UNESCO Institute for Education.

Akram, M. (2012). Formal education, skill development and vocationalisation: The missing link in India. *Research on Humanities and Social Sciences.*

Barman, B. (2025). Shaping a new era of Indian education: A critical analysis of skill-based reform initiatives. *Degrés, 10*(1), 254.

Bella, D. K. M. J. (2024). Education system in medieval period: Challenges and opportunities in medieval education. *International Journal of Multidisciplinary Research in Arts, Science and Technology, 2*(4), 41–47.

Bhat, S. A. (2020). Muslim education system in the medieval period in India. *Studies in Indian Place Names, 40*(3), 20–29.

Billett, S. (2011). *Vocational education: Purposes, traditions and prospects.* Springer Science & Business Media.

Collins, R. (2000). Comparative and historical patterns of education. In M. T. Hallinan (Ed.), *Handbook of the sociology of education* (pp. 213–239). Springer.

Deb, P., & Maitra, S. (2023). Historical perspectives of adult education in India. *Adult Education in India, 35,* 6.

Fuller, C. J., & Narasimhan, H. (2010). Traditional vocations and modern professions among Tamil Brahmans in colonial and post-colonial south India. *The Indian Economic & Social History Review, 47*(4), 473–496.

Ghonge, M. M., Bag, R., & Singh, A. (2020). Indian education: Ancient, medieval and modern. In *Education at the intersection of globalization and technology.* IntechOpen.

Kapur, R. (2018). Education in the medieval period. *Shodha Prabha, 49*(2).

Kapur, R. (n.d.). Progressions and transformations in the system of education in the medieval period. [Manuscript in preparation].

Mehrotra, V. S. (2017). Vocational education and training in India: Challenges and critical issues. *IASSI Quarterly, 36*(2–3), 290–303.

Mishra, N., & Aithal, P. S. (2023). Ancient Indian education: Its relevance and importance in the modern education system. *International Journal of Case Studies in Business, IT, and Education, 7*(2), 238–249.

Natarajan, C., & Chunawala, S. (2009). Technology and vocational education in India. In *International handbook of research and development in technology education* (pp. 105–115). Sense Publishers.

Scharfe, H. (2018). *Education in ancient India.* Brill.

Sindhuja, C. V., & Ashok, H. S. (2021). Education in India: A historical perspective. *Educ. India, 10*(3), 47–64.

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

NEP 2020 and the Changing Landscape of Teacher Education: Perception of Teacher Educators in Raipur District

Dimpi Singh
Research scholar (Department of Education)
Pt. Ravishankar Shukla University, Raipur

Abstract

The National Education Policy (NEP) 2020 proposes substantial changes in teacher education in India, including multidisciplinary preparation, the four-year Integrated Teacher Education Programme (ITEP), stronger practicum experiences, technology integration, and continuous professional development. The present study examines the perceived influence of NEP 2020 on teacher education programmes in Raipur district of Chhattisgarh, with particular attention to changes in programme structure and curriculum and the readiness of teacher education institutions for technology-based training. A descriptive survey design was adopted. Primary data were obtained through a self-made questionnaire administered to 50 teacher educators from teacher education institutions in Raipur district. The sample comprised 25 male and 25 female respondents. Data were analysed using frequencies, percentages, mean and standard deviation, along with gender-wise cross-tabulation. The findings show that all 50 respondents selected the four-year integrated teacher education programme with a multidisciplinary approach as the best option describing the structural influence of NEP 2020. Regarding curricular change, 72% identified multidisciplinary and holistic education with practical learning as the major change. Regarding technology readiness, 62% perceived institutions as gradually improving their technological capacity, while 20% considered institutions fully equipped. At the same time, 16% reported that institutions were not equipped with technology-based tools, indicating an implementation gap. The study suggests that the perceived direction of change in Raipur is broadly aligned with major NEP 2020 teacher-education provisions, while institutional preparedness and digital infrastructure remain areas requiring continued attention.

Keywords: NEP 2020; teacher education; teacher educators; ITEP; multidisciplinary education; technology integration; Raipur district.

1. Introduction

Teacher education occupies a central position in the educational reform agenda of NEP 2020. The policy recognises teacher preparation as a multidisciplinary activity requiring subject knowledge, pedagogical knowledge, professional dispositions, values and sustained practical experience. It proposes that teacher education gradually move into multidisciplinary colleges and universities and

envisages a four-year integrated B.Ed. as the minimum degree qualification for school teaching by 2030. The policy also emphasises practicum, learner-centred and collaborative learning, educational technology, inclusion, foundational literacy and numeracy, and understanding of children with diverse learning needs (Government of India, 2020).

The National Council for Teacher Education (NCTE) has subsequently developed the Integrated Teacher Education Programme (ITEP) and associated norms and curriculum frameworks. ITEP is designed as a four-year, eight-semester programme integrating disciplinary and professional knowledge and including internship and field-based experiences. The programme is intended to operate within multidisciplinary higher education institutions (NCTE, 2021; NCTE, 2023).

Research on teacher education under NEP 2020 has highlighted both the transformative possibilities of these reforms and the practical challenges of translating policy provisions into institutional practice. Sharma, Mittal, and Zayan (2023), for example, examined the relationship between policy vision, knowledge traditions, global policy discourses and national regulatory arrangements. NCERT-published research has also documented teacher educators' perspectives on the proposed reforms and reported both encouragement and apprehension regarding implementation. The present study contributes a district-level empirical perspective by examining the perceptions of teacher educators working in teacher education institutions in Raipur district.

2. Impact of NEP 2020 on Teacher Training Programmes in Raipur District

In the context of this study, 'impact' is operationalised as the respondents' perceived influence of NEP 2020 on the structure, curriculum and technological preparedness of teacher education programmes. The data should therefore be interpreted as evidence of perception rather than as a causal evaluation of institutional change.

2.1 Programme structure and multidisciplinary orientation

All 50 respondents selected the option stating that NEP 2020 has introduced a four-year integrated teacher education programme with a multidisciplinary approach. This corresponds closely with the policy's stated direction and the NCTE's ITEP framework. The result indicates a strong awareness among the surveyed teacher educators of the structural reform represented by ITEP.

2.2 Curriculum reform and practical learning

The second item shows that 36 of 50 respondents (72%) identified 'emphasis on multidisciplinary and holistic education with practical learning' as the principal curriculum change associated with NEP 2020. Eight respondents (16%) selected a one-year certificate course, four (8%) selected a subject-based approach without soft-skill integration, and two (4%) selected elimination of teacher training programmes. The dominant response therefore centres on holistic, multidisciplinary and practical preparation.

2.3 Technology and digital readiness

For technology-based training, 31 respondents (62%) perceived teacher education institutions as gradually improving their technological capabilities. Ten respondents (20%) considered institutions fully equipped, while eight (16%) reported that institutions were not equipped with technology-based tools and one respondent (2%) reported that institutions had not started plans for technology integration. Thus, the data indicates movement towards digital readiness, but not uniform readiness across the

surveyed institutions.

3. Objectives of the Study

1. To study teacher educator's perceptions regarding the influence of NEP 2020 on the structure and content of teacher education programmes in Raipur district.
2. To identify the perceived curricular changes in teacher education programmes following NEP 2020.
3. To examine the perceived readiness of teacher education institutions in Raipur district for technology-based training and digital tools.
4. To present the gender-wise distribution of teacher educator's perceptions on the selected dimensions of NEP 2020 implementation.

4. Research Questions

1. How do teacher educators in Raipur district perceive the influence of NEP 2020 on the structure and content of teacher education programmes?
2. What curricular changes do teacher educators perceive as having emerged under NEP 2020?
3. How do teacher educators perceive the readiness of teacher education institutions in Raipur district for technology-based training and digital tools?
4. What does the gender-wise distribution of responses indicate about the pattern of perceptions among male and female teacher educators?

5. Methodology

5.1 Research design

The study employed descriptive survey design. The design was considered appropriate because the purpose was to document and describe teacher educators' perceptions regarding selected dimensions of NEP 2020 implementation in teacher education rather than to establish a causal effect.

5.2 Population

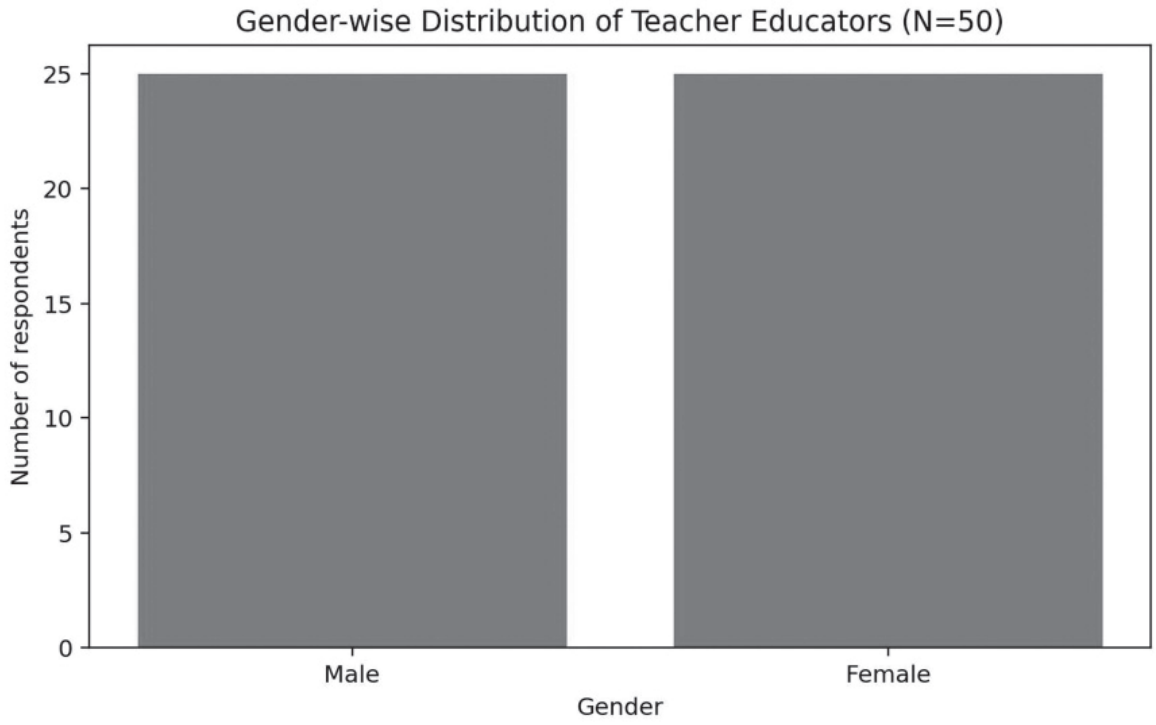
The population comprised teacher educators working in teacher education institutions located in Raipur district, Chhattisgarh.

5.3 Sample

A sample of 50 teacher educators was included in the study. The supplied dataset contains 25 male and 25 female respondents, representing an equal gender distribution.

Gender	Frequency	Percentage
Male	25	50%
Female	25	50%
Total	**50**	**100%**

Figure 1. Gender-wise distribution of respondents.



5.4 Sampling and data collection

The study used a survey-based sample of 50 teacher educators from teacher education institutions in Raipur district. Primary data were collected through administration of a self-made questionnaire. The instrument included items addressing the perceived influence of NEP 2020 on programme structure, curriculum and technology readiness.

5.5 Statistical analysis

The data were analysed using descriptive statistics. Frequencies and percentages were used to summarise categorical responses. Mean and standard deviation were calculated for the numerically coded response items. Gender-wise cross-tabulations were used to examine the distribution of responses among male and female respondents. Because the supplied analysis contains descriptive cross-tabulations rather than a reported inferential test, the findings are interpreted descriptively and are not presented as statistically significant gender differences.

6. Data Analysis and Interpretation

6.1 Descriptive statistics

Variable/Item	N	Mean	Standard Deviation
Structure/content of teacher training programmes	50	1.00	0.00
Changes introduced in teacher education curriculum	50	2.00	0.63
Readiness for technology-based training and digital tools	50	2.08	0.66
Gender	50	1.50	0.50

Note. Response categories were numerically coded for descriptive analysis. For the three substantive questions, A=1, B=2, C=3 and D=4. The mean of 1.00 for the first item reflects the fact that all 50 respondents selected option A.

6.2 Table 1: Perceived influence on programme structure and content

Option	Response	Frequency	Percentage
A	Introduced a four-year integrated teacher education programme with a multidisciplinary approach	50	100%
B	Reduced teacher training to one year	0	0%
C	Removed technology integration from teacher training	0	0%
D	Focused exclusively on theoretical knowledge with no practical experience	0	0%

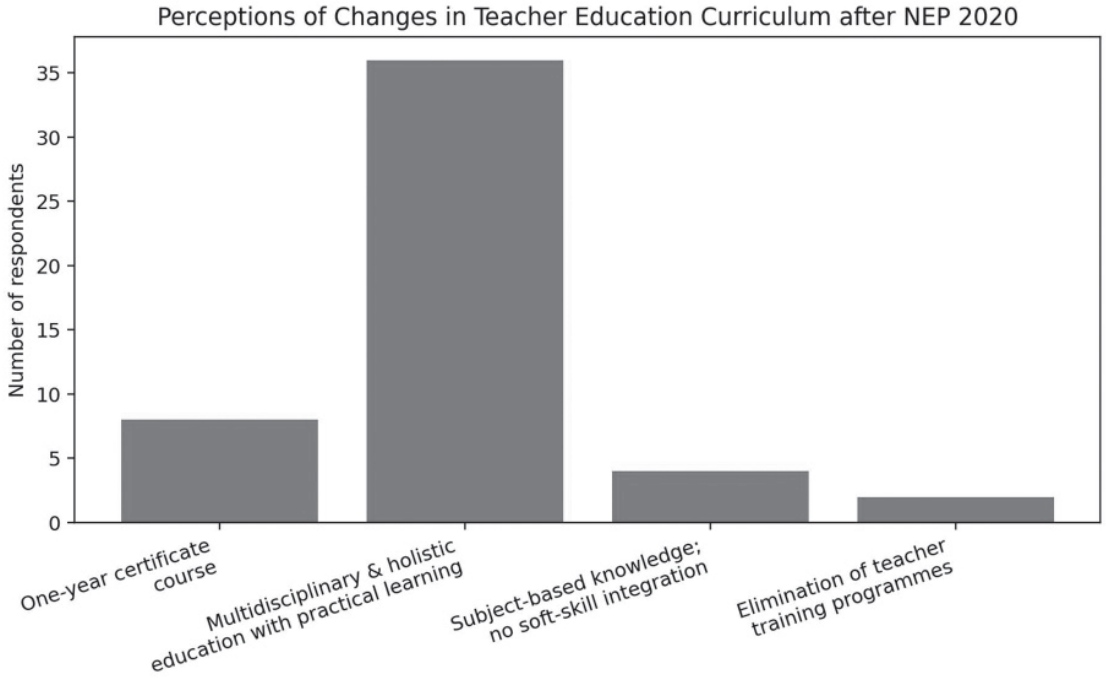
Interpretation: All 50 respondents selected the four-year integrated, multidisciplinary options. The uniformity of the response indicates strong recognition of this policy direction among the surveyed teacher educators.

6.3 Table 2: Perceptions of curriculum changes after NEP 2020

Gender	One-year certificate	Multidisciplinary/ holistic +practical	Subject-based only	Elimination	Total
Male	4	18	2	1	25
Female	4	18	2	1	25
Total	8	36	4	2	50

Interpretation: Both male and female respondents showed the same distribution: 16% selected the one-year certificate option, 72% selected multidisciplinary and holistic education with practical learning, 8% selected subject-based knowledge without soft-skill integration, and 4% selected elimination of teacher training programmes. The identical gender-wise distribution means that the supplied data do not show a descriptive gender difference on this item.

Figure 2. Perceptions of changes in teacher education curriculum after NEP 2020.

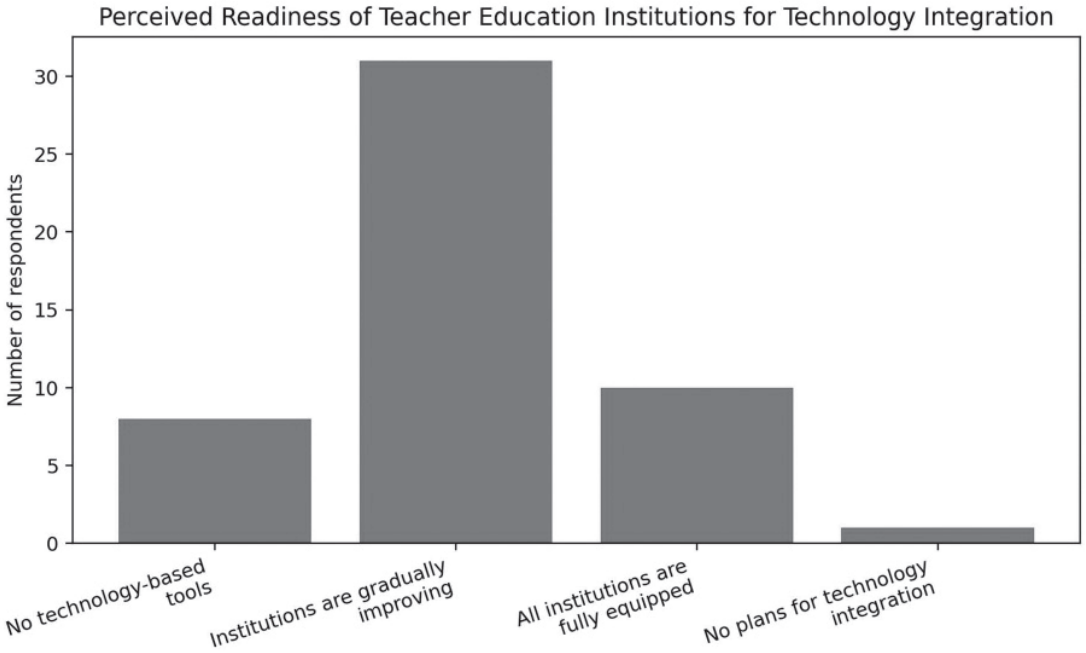


6.4 Table 3: Readiness for technology-based training

Gender	No technology tools	Gradually improving	Fully equipped	No plans started	Total
Male	4	15	5	1	25
Female	4	16	5	0	25
Total	8	31	10	1	50

Interpretation: Overall, 62% of respondents perceived institutions as gradually improving their technology readiness. A further 20% considered institutions fully equipped. However, 16% reported the absence of technology-based tools and 2% reported that no plans had started. The male and female distributions were broadly similar, with only a small difference in the 'gradually improving' and 'no plans' categories.

Figure 3. Perceived readiness of teacher education institutions for technology integration.



6.5 Consolidated findings

- All 50 respondents recognised the four-year integrated teacher education programme with a multidisciplinary approach as the option describing the structural influence of NEP 2020.
- The most frequent curriculum response was multidisciplinary and holistic education with practical learning (72%).
- The technology-readiness item showed a more varied pattern: 62% reported gradual improvement, 20% full equipment, 16% lack of technology-based tools and 2% no plans for technology integration.
- The supplied gender-wise distributions were identical for the curriculum item and nearly identical for technology readiness, with equal numbers of male and female respondents.
- The findings represent perceptions of the surveyed teacher educators and should not be interpreted as a direct institutional audit or causal evaluation of NEP 2020.

7. Discussion

The findings correspond with the broad direction of NEP 2020 and subsequent NCTE initiatives. The policy explicitly calls for teacher education to become multidisciplinary and for the four-year integrated B.Ed. to combine disciplinary and professional preparation with substantial practicum experience. NCTE's ITEP framework similarly describes an integrated, dual-major and multidisciplinary model with internship and field-based experiences. The unanimous selection of the four-year

integrated multidisciplinary option in the present survey therefore reflects strong awareness of a central teacher-education reform.

The curriculum responses also point towards the perceived importance of holistic and practical learning. This is consistent with NEP 2020's emphasis on learner-centred, collaborative and experiential approaches and on practical school-based experience. However, the questionnaire responses should not be read as proof that every teacher education institution in Raipur has already implemented all of these provisions. They show what the participating teacher educators perceive.

Technology readiness presents a more differentiated picture. While most respondents reported gradual improvement and one-fifth reported full preparedness, a combined 18% reported either no technology-based tools or no plans for technology integration. This suggests that policy awareness and institutional transition may coexist with uneven material and digital capacity. NCTE's current teacher-education agenda includes digital architecture and professional development alongside ITEP, which makes institutional capacity an important component of implementation.

8. Limitations of the Study

- The sample size is limited to 50 teacher educators from Raipur district and therefore the findings should not be generalised to all teacher education institutions in Chhattisgarh or India.
- The study uses a self-made questionnaire, and the supplied dataset contains three substantive perception items; a larger validated instrument could provide more detailed measurement.
- The data are cross-sectional and descriptive, so they cannot establish causal impact of NEP 2020.
- The study is limited to teacher educators; therefore, the findings should not be extended to pupil-teachers or other stakeholder groups.

9. Conclusion

The present study provides a district-level account of teacher educator's perception regarding selected changes associated with NEP 2020 in Raipur district. The findings show strong recognition of the four-year integrated and multidisciplinary direction of teacher education and a clear preference in the responses for holistic, multidisciplinary, and practical learning. The technology-readiness findings are more varied: most respondents perceive gradual institutional improvement, while a smaller but meaningful proportion report inadequate technological resources or limited planning for technology integration.

Taken together, the findings show that the policy direction is visible in the perception of teacher educators surveyed in Raipur, while the degree of institutional preparedness appears uneven. Strengthening digital infrastructure, faculty capacity building, school-based practicum, multidisciplinary collaboration, and systematic monitoring may support the continued alignment of teacher education programmes with NEP 2020. Future studies may include a larger and more representative sample and examine additional stakeholder groups such as pupil-teachers and institutional administrators.

References

Choudhury, B. (2024). The role of NEP-2020 on quality enhancement of teacher education. TechnoLearn: An International Journal of Educational Technology, 14(1), 21–30. https://doi.org/10.30954/2231-4105.01.2024.3

Government of India, Ministry of Education. (2020). National Education Policy 2020. Government of India.

Kaushi, P., Ahmad, J., & Khan, A. (2021). Teacher education in India viewed through the lens of National Education Policy–2020. Voices of Teachers and Teacher Educators, 10(2), 54–63

National Council for Teacher Education. (2021). Norms and standards for Integrated Teacher Education Programme (ITEP). NCTE.

National Council for Teacher Education. (2023). Integrated Teacher Education Programme (ITEP) curriculum framework. NCTE.

Sharma, G., Mittal, R., & Zayan. (2023). Teacher Education in India's National Education Policy 2020: Knowledge Traditions, Global Discourses and National Regulations. Contemporary Education Dialogue, 20(2). https://doi.org/10.1177/09731849231168728

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

आशा प्रभात के उपन्यासों में स्त्री के अंतर्द्वंद्व और मनोवैज्ञानिक संघर्ष

रश्मि प्रसाद
शोधार्थी, मगध विश्वविद्यालय, गया जी
ई-मेल : rashmiguptadk@gmail.com
मोबाइल : 7903421385

सारांश

प्रस्तुत शोध आलेख में आशा प्रभात के चयनित उपन्यासों के संदर्भ में स्त्री के अंतर्द्वंद्व, मनोवैज्ञानिक संघर्ष, आत्मसम्मान, अस्मिता और आत्मनिर्णय का अध्ययन किया गया है। समकालीन हिंदी उपन्यास में स्त्री की स्थिति को केवल सामाजिक शोषण या पारिवारिक दायित्वों के स्तर पर देखना पर्याप्त नहीं है; उसके अंतर्मन में चलने वाली इच्छाओं, आशंकाओं, पीड़ा, अकेलेपन और आत्मनिर्णय की प्रक्रिया को समझना भी आवश्यक है। आशा प्रभात के उपन्यासों में स्त्री संबंधों को महत्त्व देती है, किंतु अपनी अस्मिता के पूर्ण विसर्जन को स्वीकार नहीं करती।

'जाने कितने मोड़' की लता, 'मैं जनक नंदिनी' की सीता और 'मैं और वह' की मुक्ता के चरित्रों के माध्यम से यह आलेख दिखाता है कि सामाजिक दबाव और निजी आकांक्षा के बीच उत्पन्न तनाव किस प्रकार आत्मचेतना और प्रतिरोध में बदलता है। लता के भीतर शोषण और आत्मसम्मान का द्वंद्व, सीता में अस्मिता तथा सम्मान की चेतना और मुक्ता में प्रेम, सामाजिक मान्यता तथा स्वतंत्र पहचान का संघर्ष स्त्री-मनोविज्ञान के अलग-अलग आयाम प्रस्तुत करता है।

अध्ययन का निष्कर्ष है कि आशा प्रभात की स्त्री पात्र केवल परिस्थितियों की शिकार नहीं हैं; वे प्रश्न करती हैं, निर्णय लेती हैं और अपने व्यक्तित्व को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास करती हैं। इस प्रकार उनके उपन्यास स्त्री के बाहरी संघर्ष के साथ उसके मानसिक और भावनात्मक संसार को भी महत्त्व देते हैं।

बीज शब्द : आशा प्रभात, स्त्री चेतना, स्त्री मनोविज्ञान, अंतर्द्वंद्व, मनोवैज्ञानिक संघर्ष, आत्मसम्मान, अस्मिता, आत्मनिर्णय।

1. प्रस्तावना

हिंदी साहित्य में स्त्री-लेखन ने स्त्री जीवन के विविध पक्षों को नए दृष्टिकोण से देखने का अवसर प्रदान किया है। स्त्री के सामाजिक जीवन, पारिवारिक संबंधों और आर्थिक परिस्थितियों के साथ-साथ उसके अंतर्मन में चलने वाले द्वंद्व, आकांक्षाएँ, असुरक्षाएँ और आत्मसम्मान की चेतना भी साहित्य का महत्त्वपूर्ण विषय बनी है।

समकालीन हिंदी उपन्यासों में स्त्री की मानसिक संरचना को समझने के लिए उसके बाहरी संघर्षों के साथ उसके मनोवैज्ञानिक संघर्षों को समझना आवश्यक है। स्त्री अनेक बार सामाजिक, पारिवारिक और नैतिक अपेक्षाओं के बीच स्वयं

को स्थापित करने का प्रयास करती है। इसी प्रक्रिया में उसके भीतर प्रश्न, असहमति, प्रतिरोध और आत्मनिर्णय की चेतना विकसित होती है।

आशा प्रभात के उपन्यासों में स्त्री जीवन का यह मनोवैज्ञानिक पक्ष विशेष रूप से दिखाई देता है। उपलब्ध पुस्तक-विवरणों में भी 'जाने कितने मोड़' को स्त्री की विवशता और अपने सहारे के चुनाव की कथा तथा 'मैं और वह' को स्त्री के स्वयं को पहचानने और अपनी पहचान बनाए रखने के संघर्ष से जोड़ा गया है।[1-2]

2. शोध-उद्देश्य

आशा प्रभात के चयनित उपन्यासों में स्त्री के अंतर्द्वंद्व और मनोवैज्ञानिक संघर्ष को रेखांकित करना।

स्त्री पात्रों के आत्मसम्मान, अस्मिता, प्रेम, मातृत्व और आत्मनिर्णय के प्रश्नों का विश्लेषण करना।

सामाजिक एवं पारिवारिक दबावों और स्त्री की आंतरिक चेतना के बीच संबंध को समझना।

यह स्पष्ट करना कि आशा प्रभात की स्त्री परिस्थितियों का निष्क्रिय परिणाम न होकर अपनी पहचान के निर्माण की सक्रिय प्रक्रिया से गुजरती है।

3. शोध-पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन मुख्यतः पाठ-विश्लेषण की पद्धति पर आधारित है। चयनित उपन्यासों के प्रमुख स्त्री पात्रों के संवाद, निर्णय, मानसिक प्रतिक्रियाएँ और सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण स्त्री-विमर्श तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है। प्राथमिक स्रोत के रूप में संबंधित उपन्यासों का उपयोग किया गया है तथा उपलब्ध पुस्तक-सूचनाओं को सहायक स्रोत के रूप में देखा गया है।

4. 'जाने कितने मोड़' की लता : शोषण से आत्मसम्मान तक

आशा प्रभात के उपन्यास 'जाने कितने मोड़' की लता स्त्री के सामाजिक और मानसिक संघर्ष का मार्मिक उदाहरण है। उपन्यास में उस पर ऐसा निर्णय थोपा जाता है जिसमें उसकी सहमति का कोई स्थान नहीं है। उपलब्ध पुस्तक-विवरण भी लता को ऐसी नायिका के रूप में रेखांकित करता है जो सामाजिक दबाव के बावजूद अपने लिए सहारा चुनने का साहस करती है।[3]

लता को परिवार के स्वार्थ के लिए एक अपाहिज पुरुष की पत्नी बनाकर हवेली में लाया जाता है। उसका जीवन उसके अपने सुख से अधिक परिवार की वंशवृद्धि और प्रतिष्ठा से जोड़ा जाता है। इस स्थिति में उसके सामने सबसे बड़ा प्रश्न उसके अस्तित्व और व्यक्ति होने का है।

उसके साथ जो कुछ घटित होता है, उसमें परिवार की स्वार्थपरता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था दोनों दिखाई देती हैं। लेकिन जब वही स्त्री अपने लिए भावनात्मक सहारे और जीवन के अधिकार की तलाश करती है, तब समाज की नैतिकता अचानक सक्रिय हो उठती है।

यहीं से लता के मन में यह प्रश्न जन्म लेता है कि जिस समाज ने उसके जीवन पर निर्णय थोपे, वही समाज उसके अपने निर्णय के समय नैतिकता का प्रश्न क्यों उठाता है? इस विरोधाभास से उत्पन्न मानसिक पीड़ा धीरे-धीरे आत्मचेतना में बदलती है।

'तुम्हें दो में से एक को चुनना होगा...' जैसी स्थिति लता के सामने केवल दो व्यक्तियों के बीच चुनाव का प्रश्न नहीं रखती, बल्कि उसे अपने अस्तित्व और सामाजिक अपेक्षाओं के बीच चुनाव करने के लिए बाध्य करती है। वह समझती है कि उसकी पहचान केवल पत्नी, माँ या पुत्रवधू होने तक सीमित नहीं हो सकती।

इस प्रकार लता का चरित्र सहनशीलता से प्रतिरोध और प्रतिरोध से आत्मसम्मान की ओर विकसित होता है। उसका

मानसिक संघर्ष अंततः व्यक्ति के रूप में जीने की आकांक्षा में परिणत होता है।

5. 'मैं जनक नंदिनी' की सीता : अस्मिता और मौन प्रतिरोध

आशा प्रभात के 'मैं जनक नंदिनी' में सीता का चरित्र स्त्री के आत्मसम्मान और अस्मिता के प्रश्न को नए रूप में प्रस्तुत करता है। उपलब्ध पुस्तक-सूचना में भी इस कृति को सीता के मानवीय पक्ष और स्त्री की व्यथा को समझने की दिशा में रचा गया उपन्यास बताया गया है।[4]

सामान्यतः सीता को त्याग, धैर्य और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति के रूप में देखा जाता रहा है, किंतु आशा प्रभात की सीता केवल सहनशील स्त्री नहीं है। उसके भीतर अपने सम्मान और अधिकार के प्रति सजग चेतना भी है।

अशोक वाटिका में हनुमान जब उन्हें अपने साथ ले जाने का प्रस्ताव देते हैं, तब सीता तत्काल उसे स्वीकार नहीं करतीं। उनका निर्णय इस बात पर आधारित है कि उनका अपमान करने वाले रावण का विनाश हो और उनका सम्मानपूर्वक पुनर्ग्रहण हो। यहाँ उनका प्रतिरोध आक्रामकता से अधिक आत्मसम्मान और निर्णय की दृढ़ता में व्यक्त होता है।

सीता स्वयं को केवल किसी पुरुष द्वारा बचाए जाने वाली असहाय स्त्री के रूप में स्वीकार नहीं करती। उसके निर्णय में अपने अपमान के प्रति सजगता और अपने जीवन की गरिमा के प्रति आग्रह है।

उपन्यास में आगे भी सीता का आत्मसम्मान दिखाई देता है। वह अपने पुत्रों का पालन-पोषण स्वयं करती है और अंततः उन्हें राम को सौंपकर स्वयं अयोध्या नहीं लौटती। इस दृष्टि से उसका अयोध्या न लौटना मौन प्रतिरोध के रूप में देखा जा सकता है।

6. 'मैं और वह' की मुक्ता : प्रेम, अकेलापन और आत्मनिर्णय

'मैं और वह' में मुक्ता का चरित्र प्रेम, सामाजिक मान्यता और आत्मसम्मान के बीच उत्पन्न तनाव को सामने लाता है। उपलब्ध प्रकाशकीय विवरण भी इस उपन्यास को स्त्री के स्वयं को पहचानने और अपनी पहचान बनाए रखने के संघर्ष से जोड़ता है।[5]

मुक्ता अपने प्रेम-संबंध में भावनात्मक रूप से गहरे स्तर पर जुड़ी है, किंतु सामाजिक रूप से उसे पत्नी की मान्यता नहीं मिलती। इस अंतर से उसके भीतर असुरक्षा, अपमान और अकेलेपन की अनुभूति जन्म लेती है।

जब मिनो कहता है—'तुम इतनी परेशान क्यों हो, मेरी जान, तुम्हें क्या लगा कि मैं तुम्हें छोड़ दूंगा?'—तो मुक्ता के भीतर आक्रोश पैदा होता है। उसे लगता है कि उसके प्रेम और भावनाओं को ऐसे संबंध में बदल दिया गया है जहाँ उसकी स्वतंत्र पहचान गौण हो गई है।

उसका आत्ममंथन—'मैं उसकी पत्नी नहीं हूँ, उसकी पहचान नहीं हूँ...'—उसके मानसिक संघर्ष का केंद्रीय बिंदु है। यहाँ समस्या केवल प्रेम में असफलता की नहीं, बल्कि सामाजिक पहचान और व्यक्ति होने की है।

परन्तु जिस मोह जाल में मुक्ता फंसी ,उसे अब एहसास हो रहा कि वह बेनाम के संबंध को जी रही जिसे समाज सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता और मिनो अगर चाहे भी तो उसे गरिमापूर्ण जिन्दगी नहीं दे सकता। कितनी भोली थी वह, ये पहले क्यों नहीं आई उसके दिमाग में...भावुकता के किस प्रबल बहाव में बह गयी थी वह। इस भावुकता के लिए उसके अंदर की स्त्री उसे धिक्कारते है तब वह अपना लक्ष्य तय करती है।

धीरे-धीरे मुक्ता के भीतर नई चेतना जन्म लेती है। वह केवल पत्नी या प्रेमिका की भूमिका में स्वयं को सीमित नहीं करना चाहती। वह स्वयं को एक स्वतंत्र व्यक्ति और माँ के रूप में स्थापित करने का संकल्प करती है।

इस प्रकार मुक्ता का मनोवैज्ञानिक संघर्ष आत्मनिर्णय में परिणत होता है। स्त्री की मुक्ति यहाँ केवल बाहरी बंधनों से छुटकारा नहीं, बल्कि अपनी भावनाओं, निर्णयों और जीवन की दिशा पर स्वयं अधिकार स्थापित करने की प्रक्रिया बन जाती है।

7. स्त्री के अंतर्द्वंद्व के प्रमुख मनोवैज्ञानिक आयाम

अकेलापन और असुरक्षा : संबंधों के भीतर रहते हुए भी स्त्री का अकेलापन उसके मानसिक तनाव को बढ़ाता है।

आत्मसम्मान : जब स्त्री के व्यक्तित्व को केवल किसी संबंध के आधार पर परिभाषित किया जाता है, तब आत्मसम्मान का प्रश्न उसके संघर्ष का केंद्र बनता है।

मातृत्व : मातृत्व स्त्री के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण पक्ष है, लेकिन आशा प्रभात की स्त्री अपनी संपूर्ण पहचान को केवल मातृत्व तक सीमित नहीं करती।

प्रेम और सामाजिक मान्यता : प्रेम की निजी अनुभूति और सामाजिक स्वीकार्यता के बीच का अंतर मानसिक द्वंद्व उत्पन्न करता है।

प्रतिरोध और आत्मनिर्णय : लंबे समय तक सहने के बाद स्त्री के भीतर प्रतिरोध का स्वर विकसित होता है और वही उसे अपने निर्णय स्वयं लेने की ओर ले जाता है।

8. आधुनिकता, आर्थिक स्वतंत्रता और पारिवारिक तनाव

आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में शिक्षा, विज्ञान, रोजगार और आर्थिक स्वतंत्रता ने स्त्री के जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं। लेकिन स्वतंत्रता के साथ नए प्रकार के मानसिक दबाव भी सामने आए हैं। परिवार और पेशे के बीच संतुलन, बदलते वैवाहिक मूल्य और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के प्रश्न स्त्री के मन में नई जटिलताएँ पैदा करते हैं।

इन परिवर्तनों को केवल पारिवारिक विघटन के रूप में देखना पर्याप्त नहीं है। इन्हें स्त्री की बदलती आत्मचेतना के संदर्भ में भी समझना आवश्यक है। आशा प्रभात की स्त्री संबंधों को नकारती नहीं, बल्कि संबंधों के भीतर अपने व्यक्तित्व और सम्मान के लिए स्थान तलाशती है।

9. निष्कर्ष

आशा प्रभात के उपन्यासों में स्त्री के अंतर्द्वंद्व और मनोवैज्ञानिक संघर्ष बहुआयामी रूप में सामने आते हैं। उनकी स्त्री पात्र सामाजिक व्यवस्था की निष्क्रिय शिकार मात्र नहीं हैं; वे परिस्थितियों को समझती हैं, प्रश्न करती हैं और अपनी अस्मिता को नए सिरे से परिभाषित करने का प्रयास करती हैं।

'जाने कितने मोड़' की लता के भीतर शोषण और आत्मसम्मान का संघर्ष है। 'मैं जनक नंदिनी' की सीता के भीतर अपमान और अस्मिता के बीच द्वंद्व है। 'मैं और वह' की मुक्ता प्रेम, सामाजिक मान्यता और स्वतंत्र पहचान के बीच संघर्ष करती है। इन पात्रों के माध्यम से स्त्री मन की अलग-अलग अवस्थाएँ सामने आती हैं।

आशा प्रभात की स्त्री संबंधों को नकारती नहीं, बल्कि संबंधों के भीतर अपने व्यक्तित्व की पहचान तलाशती है। प्रेम उसके लिए महत्त्वपूर्ण है, लेकिन प्रेम के नाम पर आत्मसम्मान का विसर्जन स्वीकार्य नहीं है। मातृत्व उसके व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण पक्ष है, लेकिन मातृत्व उसकी संपूर्ण पहचान नहीं है।

अतः आशा प्रभात का उपन्यास-साहित्य स्त्री के बाहरी संघर्ष के साथ उसके अंतर्मन की सूक्ष्म हलचलों को भी महत्त्व देता है। उनकी स्त्री अपनी पहचान के लिए संघर्ष करती है और यही संघर्ष उसके भीतर आत्मचेतना तथा आत्मनिर्णय की भावना को जन्म देता है।

संदर्भ-सूची

1. प्रभात, आशा – जाने कितने मोड़, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, 2005, पृ. 1
2. प्रभात, आशा – जाने कितने मोड़, , नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, 2005, पृ. 1

3. प्रभात, आशा – जाने कितने मोड़, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, 2005, पृ. 138
4. प्रभात, आशा – मैं जनक नंदिनी, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2017, पृ. 179
5. प्रभात, आशा – मैं जनक नंदिनी, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2017, पृ. 178
6. प्रभात, आशा – मैं और वह, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2006, पृ. 112
7. प्रभात, आशा – मैं और वह, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2006, पृ. 115

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

Rasa and Emotional Aesthetics in Svapnavāsavadattam

Dr. Sandhya B. Nair
Assistant Professor, Department Of Sanskrit
N S S College, Pandalam, Pathanamthitta.
Email.ID.sandhyaskt123@gmail.com

Abstract
Bhāsa's Svapnavāsavadattam occupies a significant position in the Sanskrit dramatic tradition, distinguished by its refined portrayal of human emotions, psychological conflict, and dramatic imagination. The concept of Rasa, central to Indian poetics and dramaturgy, provides an important framework for understanding the aesthetic experience generated by the play. The present study examines the manifestation and interaction of various Rasas in Svapnavāsavadattam, with particular attention to Śṛṅgāra, Karuṇa, Vīra, Hāsya, and Adbhuta Rasa.
The emotional world of the drama is primarily shaped by the relationship between King Udayana and Vāsavadattā, while the circumstances surrounding their separation, sacrifice, and eventual reunion create a complex interplay of emotional states. Śṛṅgāra emerges prominently through love and affection, whereas Karuṇa is evoked through separation and suffering. Vīra is reflected in the characters' courage, political responsibilities, and acts of sacrifice. The supporting Rasas contribute to the richness and dramatic dynamism of the narrative. The study also considers the role of Sthāyibhāva, Vibhāva, Anubhāva, and Vyabhicāribhāva in the realization of Rasa according to the principles of Sanskrit dramaturgy.By analysing the dramatic situations, characterization, and emotional progression of the play, this paper seeks to demonstrate how Bhāsa transforms the narrative into an aesthetically charged experience. The study ultimately highlights the sophisticated employment of Rasa in Svapnavāsavadattam and its contribution to the enduring literary and dramatic significance of Bhāsa's work.

Keywords: Rasa,Svapnavāsavadattam, Bhāsa, Sanskrit Drama,Śṛṅgāra Rasa, Vipralambha Śṛṅgāra, Saṃbhoga Śṛṅgāra. Karuṇa Rasa.Emotional Aesthetics.

Introduction

Bhāsa is one of the earliest and greatest Sanskrit playwrights in Indian literature. Although the exact period of his life is uncertain, most scholars believe that he lived before Kālidāsa, probably between the 2nd century BCE and the 3rd century CE. Kālidāsa himself praised Bhāsa, showing the high reputation he already enjoyed in ancient India.For many centuries, Bhāsa's plays were believed to have been lost. In 1912, the scholar T. Ganapati Shastri discovered manuscripts of thirteen plays in Kerala and identified them as the works of Bhāsa. This discovery restored Bhāsa to his rightful place as one of the pioneers of Sanskrit drama.

Bhāsa's plays are mainly based on the Mahābhārata, the Rāmāyaṇa, the Bhāgavata Purāṇa, and the Bṛhatkathā. His most famous works include Svapnavāsavadattam, Pratijñāyaugandharāyaṇam, Pratimānāṭakam, Abhi□ekanāṭakam, Madhyamavyāyoga, Karṇabhāram, Ūrubhaṅgam, Dūtavākyam, Dūtaghaṭotkacam, Pañcarātram, Bālacaritam, Avimārakam, and Dāridracārudattam.Bhāsa's dramas are admired for their strong characterization, dramatic action, and emotional depth. He often presented familiar epic stories from new perspectives. For example, in Karṇabhāram and Ūrubhaṅgam, he portrays Karṇa and Duryodhana with sympathy, emphasizing their human qualities and inner conflicts. His plays contain vivid dialogues, heroic spirit, compassion, and psychological insight, making them highly effective for stage performance.

The unique greatness of Svapnavāsavadatta was recognised in India in long bygone days, so much so, that it had become the centre of miracle and legend even in the ninth century. A floating verse of his times, luckily preserved for us by Jālhana of the 13th century in his anthology Suktimuktāvali and recorded by him as Rājakhekara's, already quoted in the chapter on Bhāsa-problem, speaks of a fire-ordeal conducted by literary connoisseurs and declares that fire consumed all the other works of Bhāsa; but Svapnavāsavadatta emerged untarnished from the flames. Here is my free rendering of this famous panegyrical verse:

When, of yore, our aesthetes great, to the fire consigned
The complete cycle of Bhāsa's prolific plays refined,
What a wonder, the chastening flames of fire couldn't dare.
Touch the lines of Svapnavāsavadatta fair.

Among all his works, Svapnavāsavadattam is regarded as his masterpiece. It is celebrated for its beautiful plot, artistic construction, and emotional appeal. Bhāsa's contribution laid the foundation for the later development of Sanskrit drama and influenced playwrights such as Kālidāsa and Bhavabhūti.Bhāsa occupies a unique position in Sanskrit literature as one of its earliest and most creative dramatists. His plays continue to be studied and performed for their literary excellence, dramatic power, and enduring human values.Svapnavāsavadattam is the masterpiece of the Sanskrit playwright Bhāsa. The dominant sentiment (Aṅgī Rasa) of the play is Śṛṅgāra Rasa (the sentiment of love). The drama beautifully portrays both love in separation (Vipralambha Śṛṅgāra) and love in union (Saṃbhoga Śṛṅgāra). The hero, King Udayana, and the heroine, Queen Vāsavadattā, share a deep and devoted love. Although Vāsavadattā is believed to have died in a palace fire, she remains alive and lives in disguise to protect her husband's kingdom. Their separation causes intense sorrow, longing, and emotional conflict, which are expressed through touching dialogues and dramatic situation.

Svapnavāsavadatta from all the other dramas of Bhāsa is its uniformity of excellence from start to finish. Bhāsa's genius does touch dizzy heights in select scenes of his other plays too and show the born dramatist in him. But Svapnavāsavadatta has quite

a different tale to tell. We have here an all-round perfection, rarely matched elsewhere in Sanskrit drama. No word is wasted, no technique misapplied, no incident purposeless, no character superfluous, no device abused, no imbalance in the portrayal of emotion, no jarring excess in poetic embellishment, no incursion of melo-drama, no intrusion of the supernatural, no flagging of the tempo, no violation of verisimilitude—it is well-nigh impossible to point the critical finger at any lapse or shortcoming, serious enough to upset the total harmony of the play. Every little part has a role to play in producing the impression of integral perfection. It is like a piece of perfect art, where every stroke of the brush has a meaning and a purpose and adds its share to the overall grandeur of the painting. It is this phenomenal totality of perfection that must have made Rājasēkhara single out Svapnavāsavadatta of all the dramas and declare under the garb of the fire ordeal that it was totally immune to all attacks of the critics' fire.

Rasa in Svapnavāsavadattam

The crown of drama is emotion and Bhasa's gift for expressing powerful emotions with spontaneous ease is seen in Svapnavasavadatta passim. For sheer emotional power too,Vasavadatta in the dream-scene will bear the palm. Bhasa has pictured her in this scene as an exquisite multi-dimensional emotional complex, blending at once, such varied and conflicting feelings like tender love and rapturous delight on one side and nervousness, excitement, fear and surprise on the other—all these kept under check by the overwhelming spell of a mighty grief; evoking many rasa-s simultaneously: karuna (pathos),vipralambhasrngara (wistful love), bhayanaka (fear) and adbhuta(wonder).

1. **Śṛṅgāra Rasa (Love**) – Dominant Sentiment,The Vipralambha Śṛṅgāra (love in separation) is the principal sentiment of the play.The separation of King Udayana and Queen Vāsavadattā, along with their deep and unwavering love, forms the emotional core of the drama.Their eventual reunion transforms the mood into Saṃbhoga Śṛṅgāra (love in union).

2. **Karuṇa Rasa (Pathos),** The play evokes compassion through Vāsavadattā's suffering and self-sacrifice.She accepts separation from her husband for the welfare of the kingdom, creating deep sympathy among the audience.

3. **Adbhuta Rasa (Wonder**),The dream episode, clever disguises, and the unexpected reunion of the lovers create a sense of amazement and delight.

4**. Hāsya Rasa (Humour)**Light-hearted conversations and the role of attendants and minor characters provide comic relief, balancing the emotional intensity.

5. **Bhayānaka Rasa (Fear**), Anxiety over Vāsavadattā's supposed death and uncertainty about the future creates moments of fear and suspense.

The dominant sentiment of Svapnavāsavadattam is Vipralambha Śṛṅgāra, beautifully supported by Karuṇa, Adbhuta, Hāsya, and Bhayānaka. Bhāsa's masterful blending

of these rasas gives the play emotional depth and makes it one of the finest romantic dramas in Sanskrit literature.

Bharata's theoretical principles of drama are reflected in Bhāsa's dramatic practice. The study focuses on concepts such as Rasa, Bhāva, Abhinaya, plot construction, characterization, and dramatic structure. It analyses the extent to which Svapnavāsavadattam embodies the aesthetic and dramaturgical principles prescribed in the Nāṭyaśāstra, highlighting the relationship between dramatic theory and its practical application in Sanskrit literature.

Significance of 'Rasa' and 'Alankara' in Indian Classical Literature

Indian classical literature, particularly classical Sanskrit literature, is distinguished by its deep aesthetic principles and rich poetic devices. Two foundational concepts that play a crucial role in shaping the literary tradition are 'Rasa' and 'Alankara'. Understanding these concepts is essential to appreciate the depth, beauty, and emotional impact of Indian classical literary works.

Rasa (Aesthetic Flavor)

The term 'Rasa' literally means 'essence' or 'taste.' In literary context, it denotes the emotional flavor or sentiment evoked in the reader or audience by a literary work. The theory of Rasa was systematically developed by the ancient sage Bharata in his treatise, the Natyashastra.Rasa is the soul of Indian classical art and literature. It transforms a mere description or narrative into an evocative emotional experience.The classical Indian aesthetic theory identifies eight primary Rasas — Shringara (love), Hasya (humor), Karuna (compassion), Raudra (anger), Veera (valor), Bhayanaka (fear), Bibhatsa (disgust), and Adbhuta (wonder), later supplemented by a ninth, Shanta (peace or tranquility).These emotions are not just feelings of the characters but are deliberately evoked to engage the audience emotionally and spiritually.Rasa theory provides a framework that allows literature and performing arts to transcend literal meaning and communicate universal human experiences.In Practice: A skilful poet or playwright crafts the narrative, dialogues, and descriptions to invoke these Rasas, leading the audience through an aesthetic journey.

Alankara (Figures of Speech or Ornamentation)

'Alankara' means 'ornament' or 'decoration.' In literature, it refers to the use of stylistic devices and figures of speech which embellish poetry and prose.Alankaras enhance the beauty, expressiveness, and impact of a literary work. They help convey complex emotions subtly and powerfully.They emphasize rhythm, sound, meaning, and style, heightening the reader's engagement and pleasure.Classical Sanskrit poetics classifies Alankaras broadly into two types: Shabd Alankara (ornaments of sound) and Artha Alankara (ornaments of meaning).Common Alankaras include Simile (Upama), Metaphor (Rupaka), Alliteration (Anuprasa), Repetition (Yamaka), and Hyperbole (Atiśayokti).In Practice: Alankaras act as crucial elements through which poets create

vivid imagery, emotional nuances, and intellectual appeal, ultimately enriching the reader's or listener's aesthetic experience.

Together, Rasa and Alankara form the twin pillars of Indian classical aesthetics. While Rasa deals with the emotional and experiential aspect, Alankara provides the artistic tools to realize and communicate these emotions effectively.A work rich in Alankaras but lacking in Rasa may appear ornate but fail to emotionally resonate. Conversely, pure emotional appeal (Rasa) without artistic refinement (Alankara) may lack sophistication.These concepts are not just confined to literature but extend to other Indian classical arts like dance, music, and theatre.The enduring legacy of Rasa and Alankara shapes modern Indian literary and artistic sensibilities and remains a vibrant foundation for aesthetic appreciation and creation.

When analysing the concept of Rasa (aesthetic sentiment) in Bhāsa's Svapnavāsavadatta, the following important aspects should be taken into account:

i) Emotional Perspective of Each Character

The emotional development of every major character should be studied separately. The dominant sentiment (Rasa) of the play should not be viewed only from a single perspective but should be understood through the experiences and emotions of each principal character. Every significant character contributes to the overall emotional richness of the drama.

ii) The Role of Karuṇa Rasa

The Karuṇa Rasa (sentiment of pathos) becomes prominent when the play is viewed from the perspective of Vāsavadattā. She undergoes deep suffering, sacrifice, and emotional pain throughout the drama. Her experiences evoke compassion in the audience. However, this Karuṇa Rasa does not replace the dominant sentiment of the play; instead, it supports and enhances Śṛṅgāra Rasa (the sentiment of love), making it more profound and emotionally moving.

iii) Presence of Both Types of Śṛṅgāra

The play presents both forms of Śṛṅgāra Rasa:

Sambhoga Śṛṅgāra (love experienced in union) is represented through the relationship between Udayana and Padmāvatī.Vipralambha Śṛṅgāra (love experienced in separation) is portrayed through the emotional suffering and separation of Vāsavadattā.The coexistence of these two forms enriches the emotional structure of the drama.

iv) Hāsya Rasa through the Vidū□aka

The Hāsya Rasa (comic sentiment) also occupies an important place in the play. It is mainly expressed through the Vidū□aka (the clown or jester), whose humorous words

and actions provide relief from the emotional intensity of the story and create a balanced dramatic experience.

v) Intensification of the Dominant Śṛṅgāra Rasa

Although Śṛṅgāra remains the principal sentiment of the play, it is strengthened and enriched by the emotional experiences of the different characters. The supporting sentiments, such as Karuṇa and Hāsya, intensify the hero's experience of love and contribute to the overall aesthetic effect of the drama.

vi) Analysis of the Avasthās (Stages of Dramatic Action)

According to the theory of Avasthās (stages in the development of dramatic action), the stage of Ārambha (Beginning), which arises from the dramatic seed (Bīja), is found in Act I, Verse 4. The stage of Prayatna (Effort or Undertaking) begins when the plan for Udayana's marriage with Padmāvatī is firmly established. This marks the commencement of purposeful action that advances the plot toward its eventual resolution.

The Prāptyāśā (Hope or Possibility of Attainment) stage begins when there is a genuine expectation that the hero's objective can be achieved. In Svapnavāsavadatta, this stage starts when Vāsavadattā realizes that King Udayana still loves her, despite the circumstances that have separated them. This realization gives hope that they may eventually be reunited. At the same time, the events of the play also move toward the recovery of Udayana's lost kingdom, making the possibility of success more certain.

The next dramatic stage is Niyatāpti (Certainty of Attainment). This stage occurs when the desired goal is no longer uncertain but is almost guaranteed to be achieved. In Svapnavāsavadatta, Niyatāpti is represented in the dream scene of Act V, where the emotional bond between Udayana and Vāsavadattā becomes evident. The stage reaches its fulfilment in Act VI, when Vāsavadattā is finally reunited with Udayana, bringing the long-awaited union to completion.

Bhāsa skillfully combines the Arthaprakṛtis (structural elements of the plot) with the Avasthās (stages of dramatic action). Their harmonious integration creates a well-organized dramatic structure in which every event naturally leads to the next. This careful arrangement ensures the smooth progression of the plot and allows the emotional sentiments (Rasas) to develop steadily and effectively. As a result, Svapnavāsavadatta stands as an excellent example of dramatic craftsmanship, where both the plot and the emotional experience are perfectly balanced.

CONCLUSION

Bhāsa's Svapnavāsavadattam is a celebrated Sanskrit drama that combines dramatic action, emotional depth, poetic beauty, and aesthetic suggestiveness. The play centres on King Udayana, Vāsavadattā, Padmāvatī, and Yaugandharāyaṇa, and develops its dramatic effect through love, separation, sacrifice, political strategy, and

eventual reunion.Rasa: Śṛṅgāra Rasa (the aesthetic sentiment of love) is predominant, particularly vipralambha-śṛṅgāra (love in separation). Karuṇa (pathos), Vīra (heroism), Hāsya (humour), and other subsidiary rasas enrich the dramatic experience. The emotional tension created by Vāsavadattā's apparent loss and her eventual reunion with Udayana forms the central aesthetic movement.Alaṅkāra: Bhāsa employs poetic ornaments such as upamā (simile), rūpaka (metaphor), utprek□ā (poetic fancy), and rūpaka-based imagery to enhance the emotional and visual appeal of the drama. The alaṅkāras remain closely integrated with characterization and dramatic situations rather than functioning merely as decorative elements.Aesthetic approach: The drama achieves its aesthetic effect through suggestion (dhvani), emotional identification, dramatic irony, suspense, and the gradual revelation of hidden intentions. The svapna (dream) episode is especially significant because it intensifies Udayana's longing and allows the audience to experience the emotional conflict between appearance and reality.In brief, Svapnavāsavadattam demonstrates Bhāsa's skill in harmonising rasa, alaṅkāra, Rasa represents the heart the emotional essence of literature, while Alankara represents the artful language and stylistic devices that beautify and enrich expression.

Works Cited

1. Berriedale Keith,The Sanskrit Drama,Motilal Banarsidass,41U, A.Bungalow Road, Delhi-110001
2. Bhāsa. (1917). Svapnavasavadattam (A. R. Raja Raja Varma, Trans.). Kamalalaya Press.
3. Bhāsa. (1946). Svapnavasavadattam (C. R. Devadhar, Ed. & Trans.). Oriental Book Agency.
4. Unni, N. P. (1978). New problems in Bhāsa plays. College Book House.
5. Unni, N. P. (2001). Bhāsa afresh: New problems in Bhāsa plays. Nag Publishers.
6. Venkatachalam, Bhāsa,Sahitya Akademi,Rabindra Bhavan.35, Ferozeshah Road,New Delhi-110001

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

The Curse as an Aesthetic and Structural Motif in Vikramorvaśīyam and Abhijñānaśākuntalam: Suspended Love and Delayed Recognition.

Dr Lathakumari P.
Assistant Professor, Dept.of Sanskrit,
Sree Neelakanta Govt. Sanskrit College Pattambi, Palakkad, Kerala.
Affiliated to the University of Calicut
lathapalolli@gmail.com, Mob.: 9496235228

Abstract

Kālidāsa frequently uses the curse motif in his works, such as Meghadūtam, Abhijñānaśākuntalam, Vikramorvaśīyam, and Raghuvaṃśa, where it functions as more than a simple narrative device. He employs curses to heighten dramatic tension and deepen emotional expression. The curse causes suffering and separation, but it also helps in the psychological growth of the characters by highlighting love, memory, fate, and inner conflict. Instead of being only a source of misfortune, the curse acts as a test of love, showing that true union is possible only after enduring pain and obstacles. Thus, the curse motif shapes the dramatic progress of the plays and finally leads to reunion and the triumph of love.

Keywords: Kālidāsa, drama, curse, motif, emotional expression

Introduction

It is thought that the renowned Indian poet and dramatist Kālidāsa lived in the fourth or fifth century C.E. His creative works have had a lasting impact on Indian literature, despite the fact that nothing is known about his personal life. The plays "Abhijñānaśākuntalam," "Malavikāgnimitram," and "Vikramorvaśīyam," which highlight Kālidāsa's ability of poetry, drama, and storytelling, are his most well-known works. His writings are distinguished by their beautiful language, striking imagery, and examination of human emotions.

In addition to his plays, Kālidāsa wrote exquisite poetry. The epic poem Kumārasambhava, which describes the birth and adventures of Lord Kārthikēya, the son of Lord Śiva and Goddess Pārvati, is among his most well-known compositions. Raghuvamsa, another famous epic poem by Kālidāsa, charts the ancestry of Lord Rama's family. These pieces demonstrate Kālidāsa's versatility as a poet and enhance his standing as one of India's best writers.

Other well-known pieces by Kālidāsa are Meghadūtam and Ṛtusamhāra. Meghadūtam narrates the tale of a cloud messenger who receives a love letter from a couple who are no longer together. The lyrical piece Ṛtusamhāra illustrates the many seasons and how they affect people's feelings. It masterfully conveys the spirit of each season and how it affects longing, love, and desire.

Kālidāsa's works show a frequent curse theme. The Meghadūtam starts with a curse. The curse is central to the action in Abhinjanasakuntalam and Vikramorvaśīyam, as it is in the beginning of the Raghuvamsa. Usually regarded as the most pleasurable literary style is drama. "Kāvyeṣu Natakam Ramyam." Kālidāsa's works and poetry clearly portray events. The curse is much more than just a story device; it is a complex motif that operates on a narrative, psychological, philosophical, and artistic level. Kālidāsa's plays provides a major platform for the psychological development of the characters by examining themes including love, desire, pain, relationships, and internal strife. The curse functions both as a device to raise the dramatic tension and as a way to highlight love, fate, memory, and reunion. But the curse first causes pain; however, it also tests the love and shows that true love must surmount obstacles and setbacks in order to be realized. The plays therefore revolve around the curse motif, which draws focus to different faces of the story and finally ends in a satisfying finish.

This article examines how Kālidāsa uses the curse to realize profound problems in one of the most intricate and moving dramatic works in Sanskrit literature.

Curse as a motif in Abhijňānaśakuntalam

Abhijňānaśākuntala's curse theme only concerns Duşyanta's signet ring. It examines the fundamental psychological, cultural, and philosophical problems driving the primary conflict. The play was written by the famous poet Kālidāsa, is the best, and is translated the most. It tells the story of Śakuntala, a beautiful and upright young lady who developed feelings for King Duşyanta. Because it is the catalyst for Śakuntala and Duşyanta's relationship's problems, the curse is essential to the narrative. Ultimately, it adds a dramatic and suspenseful element and leads to the resolution of their story. It is amazing to see how the curses impact the characters' outcomes.

After being abandoned at infancy, the main character of Kālidāsa's Abhijñānaśākuntalam, Šakuntalā, is raised in the hermitage of sage Kaṇva. She is the daughter of the apsarā Menakā and the sage Viśvāmitra. A sage reminds King Duşyanta about the hermitage's sacredness, preventing him from killing a deer while he is hunting in the forest

while Kaṇva is away. The king encounters Šakuntalā at the hermitage while pretending to be a commoner, and he is struck by her inherent beauty and innocence right away. Their mutual love leads to a Gāndharva marriage.

Shortly later, Duşyanta returns to his capital and shows respect by giving Šakuntalā a signet ring[1]. Later,Śakuntalā is so preoccupied with her husband that she fails to greet the guru Durvāsa upon his arrival at the hermitage. In an attempt to make Duşyanta forget her, he curses her out of wrath. However, if she gives the king the signet ring, the curse can be lifted. Consequently, the curse turns into the play's main conflict, putting fate, love, and memory to the test.

On the way to see Duşyanta, Śakuntalā loses the signet ring when it falls into a river. When she gets to the court, the cursed king refuses their union because he cannot recognize her[2]. After her friends reject and abandon her, she is compelled to return to the hermitage in sadness.

Duşyanta's memory is restored, and he is consumed with remorse as a fisherman shows the court the missing ring discovered within a fish. Having vanquished the Asuras and visited paradise under Indra's guidance, he ultimately meets with Šakuntalā and their kid to reunite the family.

By representing the consequences of miscommunication and neglect, the curse in Abhijñānaśākuntalam highlights the importance of communication, trust, and attentiveness in relationships. It also highlights fate and forgiveness, showing that adversity is often necessary to deepen love and appreciation.

The main dramatic device of Kālidāsa's Abhijñānaśākuntalam, which transforms a simple love story into a complex meditation on memory, identity, fate, and divine intervention, is the curse imposed by the sage Durvāsa. The curse is much more than just a story device; it is a complex motif that operates on a narrative, psychological, philosophical, and artistic level. This essay examines how Kālidāsa uses the curse to examine profound problems in one of the most intricate and moving dramatic works in Sanskrit literature.

[1] अस्ति तेन राजर्षिणा सम्प्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम् ।

[2] राजा – भोस्तपोधनाः चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याःस्मरामि । तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानंक्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये ।

The story moves hand in hand with the changing psychological state of the characters from the beginning of the drama as their psychological development is intimately related to the story. It can be traced along Duṣyanta's strong physical attraction to Śākuntala, which results from his enchantment to fall in love with her and finally wed her, therefore influencing the mindset. Duṣyanta, however, forgets about Śākuntala's presence when the pair is separated and pursued by Durvasa's curse, which causes her grief and yearning and hurts her mental health, thereby bringing the drama to its climax.

This is a thoughtful analysis of Kālidasa's Abhijñānaśākuntalam and its retelling of the Mahābhārata narrative. The curse introduced by Kālidasa functions as a literary technique to uphold traditional gender norms and protect King Duṣyanta's image by assigning the reason for his forgetfulness to external forces. This narrative choice mirrors and supports prevailing cultural attitudes toward women's roles and duties, thereby reducing the impact of Duṣyanta's infidelity and prompting audience sympathy for him, while directing the blame towards Śākuntala.

Curse in Vikramorvaśīyam

The Mangala śloka, which serves as an auspicious invocation at the beginning of a literary work and establishes a positive and sacred tone, marks the start of Vikramorvasiyam[3]. It is the story of King Purūrava and the apsarā Urvaśī's love, their breakup caused by a curse, and their eventual reunion by heavenly grace.

While returning from Kubera's palace, the Apsara Urvaśī was abducted by the demon Keśī along with Chitralekhā, and they cried for help. King Purūravas heard their cries and bravely rescued them. As Urvaśī regained consciousness, her fear turned into love and gratitude on seeing her savior. Purūravas, struck by her extraordinary beauty, wondered whether she was created by Nārāyaṇa, the moon, or Kāma himself[4].

---

[3] वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इतनन्यविषयः शब्दो यर्थाथाक्षरः ।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥Vikramorvasiyam,Act-1-1

[4] अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभुङ्क्वन्द्रो नु कौन्तप्रभः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
बेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ Vikramorvaseeya Act I-8

Before the nymphs went back to paradise, Urvashī and Purūravas fell head over heels in love at first sight[5]. The king returned to earth and was tormented by thoughts of Urvaśī, making it difficult for him to focus on his responsibilities. He was completely spellbound by her attractiveness, which hit him in the heart like Kāma's arrow.

Purūrava calls Aushinari, his wife, mistakenly Urvashi because of his lovesickness. Nipunika, an intelligent servant, discovered the cause of Pururava's distraction and informed Aushinari. Expressing her love, Urvashi wrote to the king on a birch leaf in her invisible form. Regrettably, the leaf dropped at Aushinari's feet after the wind swept it away. Initially infuriated, she later decided not to interfere with the pair.

Urvashi was summoned back to the celestial realm to take part in a performance titled "Lakshmi Swayamvaram" right before she had the chance to speak with Pururava. She met her first curse during the third act; two of Sage Bharata's disciples exposed it. She missed her line, accidentally phoning her boyfriend Pururava instead of Purushottama, because she was so enthralled with her emotions. Bharata Muni was infuriated by this error and said Urvashi would lose her heavenly station for ignoring his order. Indra approached Urvashi, who was embarrassed, after the performance to say he wanted to support Pururava, who had helped him in the war. Indra was happy Urvashi would remain with Pururava, as she would find pleasure till they had a kid together.

With her hands, Urvashi comes down to Earth and seals the king's eyes. First curse in the third act, he spins her around, and she claims victory over him. Urvashi confronts a second curse revealed by her friend Chitralekha in the fourth act. With King Pururava, Urvashi had once before gone to the Gandhamadana woods. She became furious when he praised Udayavati, the offspring of a demigod. Distressed, Urvashi refused the king's apology and, driven by the curse, descended into a holy forest forbidden to women. Her metamorphosis into an edge creeper resulted from this.

Later, Sahajanya inquired of Chitralekha if there was a way to make them closer. Chithralekha stated their sole chance for reconciliation would be if they could hear the ringing of the "sangamaniya" bell from Sri Parvati's charaṇa rāga. King stepped in next and, pointing toward the sky, thought the cloud to be demonic. He screamed, "Oh, you wicked one, where

[5] आ दर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम् ।
बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ॥ Vikramorvaseeya Act II-2

will you carry away my loved?" Later, he understood that this vicious freshwater bearer was actually a rain of water, not a rain of arrows, and that it was not a demon.[6]

Later, Pururava politely and respectfully spoke with the peacock to inquire about Urvashi. He said he wanted to meet Urvashi and asked where she was.

Kālidāsa was pleased with a story in the Matsyapurana. It is said that Pururava before him gave more importance to Dharma than to Artha and Kama. But Kama cursed him and severed him from his bride, Urvashi, and sent him to wander in the Kumara forest on the slopes of the Gandhamadana mountain, his heart broken at their separation.

Two curses form the core of the play and Kalidasa uses the notion of curses effectively to reinforce the theme of love throughout the story. The curse is introduced by Kalidasa through a clever disquisition in the midst of the five acts, without making the sage Bharata appear on the stage in the third act. The second, articulated by Chitralekha in the fourth act, adds another level of complication. Both curses touch all the main characters, though they are aimed at Urvashi.

The main theme of love in the play is closely related to the presence of curses. The first curse Urvashi receives is from the sage Bharata, who banishes him from heaven for a very long time. But it also becomes the trigger for the blossoming romance of Urvashi and Pururavas. Their love can unite them despite the suffering of the curse and turns it into a divine grace. It is evidence of love's power to overcome even the most difficult of circumstances. But the lovers are once again separated. As a creeper, Urvashi in her secret shape watches the king's frantic search for his beloved, thus showing his great love for her. Anger and doubt transform.

As a creeper in invisible form, Urvashi witnesses the king's burning love for his lover as he frantically searches for any sign of her. Anger and doubts give way to a powerful love. The first curse is that a celestial nymph is sent to earth; the second curse is that an earthly queen can find bliss. The second curse seems to be more like hidden benefits than tragedy in some ways. Love is really boundless, and its power can't be weakened by curses.

In conclusion, the play's central theme of love is deeply entwined with the existence of curses. Urvashi suffers a protracted separation from heaven as a result of the First Curse, which

---

[6] नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शराखनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरंपरा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥

was placed on him by the wise Bharata. But it also turns out to be a driving force behind Urvashi and Pururavas' developing romance. Their love manages to bring them together in spite of the curse's hardships, transforming it into a divine favor. It is evidence of the ability of love to triumph over even the most difficult situations. However, the lovers are no longer together. Urvashi, in her invisible form as a creeper, sees the king's intense love for his lover as he frantically looks for any trace of her. An intense desire for love is transformed from doubts and wrath. While the first curse sends a heavenly nymph to earth, the second curse permits an earthly queen to discover bliss. In some ways, the second curse seems more like covert benefits than tragedy. Love is genuinely limitless, and its strength cannot be diminished by curses.

Conclusion.

The examination of curses in Kalidasa's plays emphasizes the intimate connection between karma, fate, love, and human experience. Curses are crucial narrative devices that propel the protagonists toward self-discovery, personal development, and ultimate salvation rather than just acting as roadblocks. They place a strong emphasis on the results of deeds and how fate shapes people's lives.

Particularly in Abhijñānaśākuntalam and Vikramorvaśīyam, nature also plays a major part in lifting these curses. Rather than just serving as a backdrop, it is a dynamic force that offers direction, recovery, and transformation. The serene hermitage and natural surroundings in Shakuntala provide solace and serve as a venue for reunions and the alleviation of suffering. Rivers, mountains, forests, and animals represent emotional transformation, hope, rebirth, and divine intervention in Vikramorvaśīyam.

Lastly, Kalidasa portrays love as a force strong enough to triumph over misfortune and curses. The protagonists are able to overcome sorrow and find fulfillment and reunion because of their unwavering affection. In essence, the use of curses in Kalidasa's plays strengthens the stories and offers great insights about fate, the changing nature of human existence, and the healing power of love.

References

1. കാളിദാസൻ. (2011). അഭിജ്ഞാനശാകുന്തളം (എ. ആ□. രാജരാജവ□മ്മ, വി.വ.). മലയാളം ഇ-ബുക്സ്. http://malayalamebooks.org
2. Kālidāsa. (1920). Kalidasa Translations of Shakuntala, and other works.
3. Kālidāsa. (1889). Kālidāsa's Abhijñānaśākuntala: acts I-VII complete.
4. Kālidāsa. (1999). The Plays of Kālidāsa: Theater of Memory. Motilal Banarsidass Publishing House.
5. Kālidāsa. (2004). Vikramorvasiyam (Urvashi and Pururavas). Global Vision Pub House.
6. Harris, C. (1884). An investigation of some of Kālidāsa's views.
7. Kale, M. R. The Vikramorvasiyam of Kalidasa. Motilal Banarsidass, 2004.
8. https://sanskritdocuments.org/doc_z_misc_major_works/shaakuntala.pdf

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य में उदारीकरण के प्रभाव : बदलते सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ ('काशी का अस्सी' एवं 'रेहन पर रग्घू' के विशेष संदर्भ में)

श्रीमती अशोक कुंवर राजपूत
पुत्री श्री मान सिंह पंवार (राजपूत)
(शोधार्थी)
जय जिनेन्द्र काम्प्लेक्स, उदयपुर रोड, वल्लभ नगर, जिला उदयपुर (राजस्थान)-313601
मोबाइल..9784443110

1991 के बाद भारत में लागू आर्थिक उदारीकरण ने देश की आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को भी प्रभावित किया। बाजार के विस्तार, निजी क्षेत्र की वृद्धि, उपभोक्तावादी संस्कृति, रोजगार के नए अवसर तथा जीवन-शैली में आए परिवर्तनों ने व्यक्ति की आकांक्षाओं, पारिवारिक और सामाजिक संबंधों को नया रूप दिया। साहित्य ने इन परिवर्तनों को संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त किया है। काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य के इसी बदलते सामाजिक यथार्थ का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

'काशी का अस्सी' में स्थानीय लोकजीवन, सामुदायिकता, भाषा और सांस्कृतिक अस्मिता के बीच आधुनिक बाजार व्यवस्था के प्रवेश को देखा जा सकता है जबकि 'रेहन पर रग्घू' में आर्थिक परिवर्तन के साथ परिवार, पीढ़ियों और व्यक्तिगत आकांक्षाओं में आए बदलाव अधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। दोनों रचनाएँ उदारीकरण को केवल आर्थिक घटना के रूप में ही नहीं देखकर पारिवारिक जीवन-मूल्यों और सामाजिक संबंधों की प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करती हैं।

बीज-शब्द : उदारीकरण, बाजारवाद, सामाजिक परिवर्तन, उपभोक्तावाद, सांस्कृतिक अस्मिता, जीवन-मूल्य, काशीनाथ सिंह, 'काशी का अस्सी', 'रेहन पर रग्घू'।

1. प्रस्तावना

साहित्य समाज के जीवन और उसकी परिवर्तित होती चेतना को अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम है। किसी भी सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव केवल संस्थाओं और आर्थिक व्यवस्था तक ही सीमित नहीं रहकर वह व्यक्ति की सोच, व्यवहार, संबंधों और जीवन-मूल्यों को भी प्रभावित करता है। भारत में 1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक जीवन में अनेक परिवर्तन उत्पन्न किए। बाजार का विस्तार हुआ, निजी क्षेत्र की भूमिका बढ़ी और उपभोग की नई प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं।

इन परिवर्तनों के बीच व्यक्ति की आकांक्षाएँ भी बदलीं। शिक्षा, रोजगार, आर्थिक स्वतंत्रता और बेहतर जीवन की इच्छा को नया महत्व मिला। इसके साथ ही पारंपरिक सामुदायिक संबंधों और पारिवारिक संरचनाओं में भी परिवर्तन दिखाई देने

लगा। काशीनाथ सिंह ने अपने कथा साहित्य में ऐसे ही परिवर्तित सामाजिक यथार्थ को निकट से देखा और उसे अपनी विशिष्ट भाषा तथा व्यंग्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया है।

2. शोध समस्या एवं प्रासंगिकता

उदारीकरण के प्रभावों का अध्ययन केवल आर्थिक उपलब्धियों या बाजार के विस्तार तक सीमित नहीं किया जा सकता। इसका प्रभाव व्यक्ति के सामाजिक संबंधों, पारिवारिक संरचना, सांस्कृतिक जीवन और जीवन-मूल्यों पर भी पड़ा। प्रस्तुत अध्ययन का प्रमुख प्रश्न यही है कि काशीनाथ सिंह ने इन परिवर्तनों को अपने कथा साहित्य में किस प्रकार अभिव्यक्त किया है?

'काशी का अस्सी' और 'रेहन पर रग्घू' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। पहली रचना में बनारस के लोकजीवन और सामुदायिक संस्कृति के बीच बदलती बाजार-व्यवस्था दिखाई देती है जबकि दूसरी रचना में आर्थिक परिवर्तन और नई पीढ़ी की आकांक्षाओं के कारण पारिवारिक संबंधों में उत्पन्न तनाव सामने आता है।

3. शोध के उद्देश्य

1. उदारीकरण के सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों का अध्ययन करना।
2. काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य में बाजार और बदलती जीवन-शैली का विश्लेषण करना।
3. 'काशी का अस्सी' में लोकजीवन और सांस्कृतिक अस्मिता के स्वरूप को देखना।
4. 'रेहन पर रग्घू' में आर्थिक परिवर्तन और पारिवारिक संबंधों का अध्ययन करना।
5. उदारीकरण के संदर्भ में बदलते सामाजिक एवं जीवन-मूल्यों को स्पष्ट करना।

4. शोध की परिकल्पना

प्रस्तुत शोध की परिकल्पना है कि आर्थिक उदारीकरण ने भारतीय समाज में अवसरों और आकांक्षाओं का विस्तार किया और इसके साथ ही जीवन-शैली, पारिवारिक संबंधों, सामुदायिकता और सांस्कृतिक मूल्यों में भी परिवर्तन आया। काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य इन परिवर्तनों को किसी एकांगी दृष्टि के साथ साथ उनके अंतर्विरोधों सहित भी प्रस्तुत करता है।

5. शोध विधि

इस शोध में वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक एवं तुलनात्मक शोध-विधि का प्रयोग किया गया है। काशीनाथ सिंह की चयनित रचनाओं के आधार पर उदारीकरण से संबंधित सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों का अध्ययन किया गया है।

6. 'काशी का अस्सी' में उदारीकरण के प्रभाव

'काशी का अस्सी' में अस्सी केवल एक भौगोलिक स्थान के रूप में नहीं होकर एक जीवंत लोक-सांस्कृतिक संसार के रूप में सामने आता है। यहाँ भाषा, बातचीत, हास्य-विनोद और आपसी संबंध सामुदायिक जीवन की पहचान बनते हैं। बदलती आर्थिक परिस्थितियों और बाजार के विस्तार के बावजूद यह लोकजीवन अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने का प्रयास करता है।

उदारीकरण के बाद बाजार की उपस्थिति दैनिक जीवन में अधिक दिखाई देने लगी। वस्तुओं, सेवाओं और उपभोग की नई प्रवृत्तियों ने जीवन-शैली को प्रभावित किया। काशीनाथ सिंह इन परिवर्तनों को सीधे उपदेशात्मक रूप में प्रस्तुत नहीं करते हैं —वे इनको सामान्य जनजीवन और संवादों के माध्यम से सामने लाते हैं।

इस रचना की भाषा भी सांस्कृतिक परिवर्तन को समझने का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। लोकभाषा, बोलचाल और स्थानीय

मुहावरों का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि आधुनिक बाजार-व्यवस्था के बीच स्थानीय सांस्कृतिक चेतना अभी भी सक्रिय है। इस प्रकार 'काशी का अस्सी' में परंपरा और आधुनिकता के बीच निरंतर संवाद दिखाई देता है।

सामुदायिकता और व्यक्तिवाद

उदारीकरण ने व्यक्ति के लिए स्वतंत्र विकल्पों और निजी आकांक्षाओं का विस्तार किया। इसके परिणामस्वरूप सामूहिक जीवन के साथ व्यक्तिवादी दृष्टि भी मजबूत हुई। 'काशी का अस्सी' में सामुदायिक जीवन की सहजता और आधुनिक जीवन की बदलती प्रवृत्तियों का यह अंतर अनेक प्रसंगों में दिखाई देता है।

काशी का लोकजीवन व्यक्ति को समुदाय से जोड़ता है। वहीं आधुनिक बाजार व्यक्ति को उपभोक्ता और स्वतंत्र निर्णय लेने वाले व्यक्ति के रूप में स्थापित करता है। लेखक इसी परिवर्तन के भीतर पैदा होने वाले अंतर्विरोधों को व्यंग्य के माध्यम से उजागर करते हैं।

7. 'रेहन पर रग्घू' में आर्थिक परिवर्तन और पारिवारिक संबंध

'रेहन पर रग्घू' में उदारीकरण से निर्मित सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव परिवार के स्तर पर अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। शिक्षा, रोजगार, आर्थिक अवसर और बेहतर जीवन की आकांक्षा नई पीढ़ी के जीवन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बनती है। व्यक्ति अपने भविष्य को बेहतर बनाने के लिए नए विकल्पों की ओर बढ़ता है।

इस परिवर्तन का एक पक्ष सकारात्मक अवसरों से जुड़ा है और दूसरा पक्ष पारिवारिक संबंधों में उत्पन्न दूरी से संबंधित है। आर्थिक और व्यावसायिक आवश्यकताओं के कारण व्यक्ति अपने पारंपरिक परिवेश से दूर होता जाता है। परिणामतः परिवार में साथ रहने की अपेक्षा व्यक्तिगत जीवन और निजी लक्ष्य अधिक महत्त्वपूर्ण होने लगते हैं।

पीढ़ीगत अंतर और अकेलापन

'रेहन पर रग्घू' में पुरानी और नई पीढ़ी के बीच दृष्टिकोण का अंतर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पुरानी पीढ़ी परिवार, परंपरा और संबंधों को प्राथमिकता देती है और नई पीढ़ी के लिए शिक्षा, रोजगार, स्वतंत्रता और व्यक्तिगत उपलब्धियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं।

यह अंतर केवल विचारों का अंतर नहीं है, बल्कि बदलती सामाजिक व्यवस्था का परिणाम भी है। आर्थिक गतिशीलता व्यक्ति को नए स्थानों और नए अवसरों की ओर ले जाती है। इसके कारण पारिवारिक निकटता में कमी और भावनात्मक दूरी की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

8. उपभोक्तावाद और बदलते जीवन-मूल्य

उदारीकरण और उपभोक्तावाद को समान अर्थों में नहीं देखा जाना चाहिए। उदारीकरण आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया है, जबकि उपभोक्तावाद उस सामाजिक प्रवृत्ति को व्यक्त करता है जिसमें वस्तुओं और सुविधाओं की प्राप्ति जीवन का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य बनने लगती है।

काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य में आर्थिक परिवर्तन के साथ जीवन-मूल्यों में आए बदलाव दिखाई देते हैं। सफलता का अर्थ केवल संतोष या सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं रह जाता, बल्कि आर्थिक उपलब्धि और भौतिक सुविधाएँ भी उसके प्रमुख आधार बनती हैं। इस परिवर्तन के कारण पारंपरिक मूल्यों और आधुनिक आकांक्षाओं के बीच तनाव पैदा होता है।

लेखक इस स्थिति को नैतिक उपदेश के रूप में नहीं रखकर पात्रों के व्यवहार और सामाजिक संबंधों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। यही कारण है कि उनका साहित्य बदलते समाज का अधिक स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करता है।

9. परंपरा और आधुनिकता का संवाद

काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य में परंपरा और आधुनिकता को पूर्णतः विरोधी शक्तियों के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। दोनों के बीच निरंतर संवाद दिखाई देता है। आधुनिकता व्यक्ति को नए अवसर और स्वतंत्रता प्रदान करती है, वहीं परंपरा उसे सामाजिक और सांस्कृतिक आधार देती है।

'काशी का अस्सी' में लोकसंस्कृति और आधुनिक बाजार के बीच यह संवाद सामुदायिक जीवन के माध्यम से सामने आता है। 'रेहन पर रग्घू' में यही प्रश्न परिवार और पीढ़ियों के संबंधों के स्तर पर दिखाई देता है। दोनों रचनाएँ यह संकेत देती हैं कि सामाजिक परिवर्तन के दौरान पुराने मूल्य समाप्त नहीं होते, बल्कि नए संदर्भों में उनका पुनर्मूल्यांकन होता है।

10. व्यंग्य और सामाजिक परिवर्तन

काशीनाथ सिंह की रचनात्मकता का महत्त्वपूर्ण पक्ष उनका व्यंग्य है। वे बदलते समाज की विसंगतियों को सीधे भाषण के रूप में नहीं रखते वे इसे हास्य, संवाद और परिस्थितियों के माध्यम से पाठक के सामने प्रस्तुत करते हैं।

'काशी का अस्सी' में व्यंग्य बाजार, राजनीति, सामाजिक व्यवहार और बदलती संस्कृति से जुड़े प्रसंगों को प्रभावशाली बनाता है। 'रेहन पर रग्घू' में पारिवारिक और आर्थिक परिवर्तनों के भीतर मौजूद विडंबनाएँ अधिक गंभीर रूप में सामने आती हैं। इस प्रकार व्यंग्य सामाजिक परिवर्तन को समझने का प्रभावी साहित्यिक माध्यम बन जाता है।

11. उपसंहार

काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य में उदारीकरण केवल आर्थिक व्यवस्था में आए परिवर्तन का विषय नहीं है। इसके माध्यम से वे व्यक्ति, परिवार, समाज और संस्कृति में हो रहे बदलावों को पहचानते हैं। 'काशी का अस्सी' में लोकजीवन और बाजार के संबंध तथा 'रेहन पर रग्घू' में आर्थिक परिवर्तन और पारिवारिक संबंधों के माध्यम से उदारीकरण के सामाजिक प्रभावों को समझा जा सकता है।

इन रचनाओं में आधुनिकता नई आकांक्षाओं और अवसरों को जन्म देती है और उसके साथ सामाजिक दूरी, मूल्य-संघर्ष और संबंधों में परिवर्तन की स्थितियाँ भी दिखाई देती हैं। काशीनाथ सिंह का साहित्य इन दोनों पक्षों को साथ लेकर चलता है। इसलिए उनका कथा साहित्य उदारीकरण के दौर में बदलते भारतीय समाज, संस्कृति और जीवन-मूल्यों को समझने का महत्त्वपूर्ण साहित्यिक आधार प्रस्तुत करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काशीनाथ सिंह : काशी का अस्सी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. काशीनाथ सिंह : रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. काशीनाथ सिंह : अपना मोर्चा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. रामविलास शर्मा : साहित्य और समाज, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज।
5. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. बच्चन सिंह : हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. विश्वनाथ त्रिपाठी : हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, ओम प्रकाशन, नई दिल्ली।

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

अभिजित्-मुहूर्तस्य प्रामाणिकं स्वरूपम् आपत्काले तस्य उपयोगश्च

डॉ. गिरीष् एं.पि
सहायकाध्यापकः संस्कृत ज्योतिषविभागः सर्वकारीयसंस्कृतमहाविद्यालयः,
तिरुवनन्तपुरम्

कुञ्चिकापदानि

अभिजित्-मुहूर्तः, मुहूर्तः, पञ्चाङ्गशुद्धिः, नित्यदोषः, कर्तृदोषः, मध्याह्नसन्ध्या, आपत्कालः, मुहूर्तपदवी, मुहूर्तरत्नम्, प्रश्नकौतुकम्।

प्रबन्धसंक्षेपः

विशिष्टानां कर्मणां सम्पादनाय विशिष्टः कालः निर्दिश्यते, स एव मुहूर्तः इति कथ्यते। मुहूर्तशास्त्रे शुभकर्मणां कालनिर्णये पञ्चाङ्गशुद्धिः, तिथिः, नक्षत्रम्, योगः, करणम्, लग्नम्, ग्रहस्थितिः, कर्तृदोषश्च इत्यादयः अनेकाः विषयाः विचार्यन्ते। नित्यदोषानां कर्तृदोषाणां च परिगणनानन्तरं लभ्यमानः शुभकालः अत्यल्पः भवति। अतः विशेषतः आपत्कालीनपरिस्थितिषु स्वीकरणीयः प्रमुखः कालविशेषः अभिजित्-मुहूर्तः इति पारम्परिकज्योतिषग्रन्थेषु प्रतिपाद्यते। अभिजित्-मुहूर्तस्य स्वरूपम्, दिवसमुहूर्तेषु तस्य स्थानम्, तस्य शुभत्वप्रतिपादकानि पौराणिक-ज्योतिषप्रमाणानि, मध्याह्नसन्ध्यादोषः, तस्य कालपरिधिः, आपत्काले तस्य उपयोगश्च अस्य लेखस्य मुख्यविषयाः सन्ति। अभिजित्-मुहूर्तः सर्वदा सामान्यशुभमुहूर्तस्य विकल्परूपेण न स्वीकरणीयः, किन्तु विशेषापत्काल एव तस्य विशेषप्राधान्यं दातव्यम् इति विभिन्नप्रमाणानाम् आधारेण अस्मिन् लेखे प्रतिपाद्यते।

उपोद्घातः

विशिष्टानि कर्माणि अनुष्ठातुं विशिष्टः कालः निर्दिश्यते। सःकालः वयं मुहूर्तः इति कथयामः। मुहूर्तविषये प्रतिपादयन्तः बहवः ग्रन्थाः अद्य अस्मभ्यं लभ्यन्ते।

मुहूर्तपदवी, मुहूर्तमाधवीयम्, मुहूर्तचिन्तामणिःइत्यादयःतेषुप्रमुखाःग्रन्थाःभवन्ति।

किन्तु मुहूर्तविषयं मुहूर्तपदवीकारः अधिकं सरलतया प्रतिपादितवान्। सामान्यतः सर्वेषां शुभकर्मणां वर्जनीयाः नित्यदोषाः, कर्तृदोषाश्च प्रतिपाद्य, ततः षोडशसंस्काराणां[1] मुहूर्तान्, गृहारम्भ-गृहप्रवेशादिमुहूर्तान्, कृष्यौषधयात्रादिमुहूर्तांश्च सः प्रतिपादितवान्।

सर्वेषां शुभकर्मणां वर्जनीयाः दोषाः
उल्कोर्वीचलनोपरागगुलिकाः षष्ठाष्टमान्त्येन्द्वस-
दृष्टारूढविमुक्तराशिसितदृक्-सायाह्नसन्ध्यादयः ।
गण्डान्तोष्णविषं स्थिरं च करणं रिक्ताष्टमीविष्टयो
लाटैकार्गलवैधृताहिशिरसः सर्वत्रवर्ज्या अमी ॥[2]

उल्कापातः, भूकम्पः, सूर्यचन्द्रयोर्ग्रहणम्, गुलिकः, षष्ठेऽष्टमे द्वादशे च भावे चन्द्रस्य स्थितिः, पापदृष्टिः, पापग्रहस्थितराशिः, पापग्रहत्यक्तराशिः, शुक्रदृष्टिः, दिवसस्य पञ्चमभागः, सन्ध्यादिकालः, गण्डान्तम्, उष्णम्, विषम्, स्थिरकरणानि, रिक्ता, अष्टमी, विष्टिः, लाटम्, एकार्गलम्, वैधृतम्, सर्पमस्तकं च एते सर्वे सर्वेषु मुहूर्तेषु वर्जनीयाः।

तथैव वर्जनीयानां षण्णां दोषाणामपि उल्लेखः दृश्यते।

अंहस्पतिरधिमासः

---

[1] आधानं तनयस्य पुंसवविधिः सीमन्तजाताह्वये
निष्क्रामोन्नविधिः क्षुरोपनयने त्रीणि व्रतानि क्रमात् ।
गोदानं च समापनं व्रतविधेः पाणिग्रहोऽग्न्याहितिः
विप्रादेर्विहिताः श्रुतौ निगदिताः कार्या क्रियाः षोडश ॥

[2] मुहूर्तपदवी, श्लोकः 2

संसर्पो दृश्यताह्नि गुरुसितयोः ।
मौढ्यं दृष्टिश्च मिथो वर्ज्या
दिनमासकार्यतोऽन्यत्र ॥[3]

एकस्मिन् चान्द्रमासे द्वौ सूर्यसंक्रमौ भवतः चेत् सः अंहस्पतिः इति कथ्यते। सूर्यसंक्रमरहितः मासः अधिमासः इति कथ्यते। अंहस्पतेः पूर्ववर्ती चान्द्रमासः संसर्पः इति कथ्यते। सामान्यतः एतेषां त्रयाणामपि अधिमासःइति नाम प्रयुज्यते।एतेषु त्रिष्वपि अधिमासेषु, गुरोः शुक्रस्य च दिवा दर्शनयुक्तेषु दिनेषु, तयोर्मौढ्यकाले, परस्परदृष्टिकाले च दिनकार्य-मासकार्येभ्योऽन्येषु मुहूर्तेषु वर्जनं करणीयम्। एतेभ्यः अतिरिक्तं कर्मकर्तुः जन्मनक्षत्र-राशिस्थितिमनुसृत्य केचन विषयाः विचारणीयाः भवन्ति। ते कर्तृदोषाः इति कथ्यन्ते।

अष्टाशीतितमांशकं परिहरेत्पूर्वं च जन्मांशतो,
भं जन्माष्टममेतदिन्दुमसदच्छेशांस्तदंशानपि ।
आद्ये प्रत्यरभे विपद्यपि वधेत्याज्योऽखिलोऽशोऽसता-
मन्त्येन्त्याद्यतृतीयभाग इतरत्रर्क्षं च लग्नाष्टमम् ॥

जन्मनक्षत्रस्य पादात् अष्टाशीतितमं पादं, जन्मनक्षत्रस्य पादं, जन्मराशितः अष्टमराशिं, अष्टमराशिपादं तथा अष्टमराशौ स्थितं नक्षत्रं च वर्जयेत्। जन्माष्टमराशेः स्वामी पापग्रहः अथवा शुक्रश्चेत् तस्य राशौ पतितानि नक्षत्रपादानि अपि वर्जनीयानि। जन्मनक्षत्रात् तृतीय-पञ्चम-सप्तम नक्षत्राणि, अनुजन्मनक्षत्रात् तृतीये नक्षत्रे प्रथमपादः, पञ्चमे चतुर्थपादः, सप्तमे तृतीयपादः,जन्मानुजन्मनक्षत्रात् तृतीय-पञ्चम-सप्तमनक्षत्रेषु पापराशौ पतिताः कालांशाः, च वर्जनीयाः । एवं लग्नाष्टमराशिश्च वर्जनीयाः

[3] मुहूर्तपदवी, श्लोकः 3

किन्तु एतेषां सर्वेषां दोषाणां परिगणनां कृत्वा पञ्चाङ्गं निरीक्ष्य लभ्यमानः शुभकालः अत्यल्पः भवति। उदाहरणार्थं विवाहमुहूर्तमेव गृह्यताम्। "इष्टा कृष्णाष्टमी[4]..." इत्यादिना आरभ्यमाणे श्लोके बहवः विषयाः विचारणीयाः इति निर्दिष्टम्। एतान् सर्वान् विषयान् परिगणयतः एकस्मिन् वर्षे पञ्च वा दश वा मुहूर्ताः एव लभेरन्।

ततः शुभत्वाधिक्यं दोषाल्पत्वं च यत्र विद्यते तादृशः कालः कर्मणः सम्पादनाय चयनं क्रियते। तादृशेषु प्रमुखेषु कालविशेषेषु अभिजित्-मुहूर्तः अन्यतमः अस्ति।

अभिजित्-मुहूर्तकालः

सामान्यतःषष्टिघटिकापरिमिते दिने त्रिंशन्मुहूर्ताः नित्यं भवन्ति। तेषु पञ्चदश महूर्ताःदिने, पञ्चदश च रात्रौ भवन्ति।अतः एकस्य मुहूर्तस्य कालमानं द्वे नाडिके, अर्थात् अष्टचत्वारिंशन्मिनिटपरिमितम्। मुहूर्तो नाडिकाद्वयमित्यमरः[5]।दिनरात्र्योः ह्रासवृद्ध्यनुसारं मुहूर्तकालस्यापि ह्रासवृद्धी भवतः।

दिने पञ्चदश मुहूर्ताः

आर्द्रोऽरगमित्रमघा वसुजलविश्वाभिजिद्विरिञ्चेन्द्राः
ऐन्द्राग्निमूलवरुणार्यमभगतारा दिवा मुहूर्ताः स्युः।[6]

१. आर्द्रा — आर्द्रानक्षत्रम्

२. उरग — आश्लेषा

---

[4] इष्टाः कृष्णाष्टमीनेन्द्वजपितृमरुद.न्त्योत्तरामूलमित्रा
उद्वाहे, न क्रियोंगे हिमगुरहिकुजावष्टमेस्तेविहङ्गाः।
मीनान्त्यार्धेन्दुभस्त्रीघटधनुषि रवि, सग्रहर्क्षं शलाका,
शुक्रार्यौ बालवृद्धौ, वरजनिभनिश मध्यजन्मास्तखेटः।।।

[5] अमरकोशः

[6] प्रश्नकौतुकम् 1/11

३. मित्र — अनुराधा

४. मघा — मघा

५. वसु — धनिष्ठा

६. जलम् — पूर्वाषाढा

७. विश्व — उत्तराषाढा

८. अभिजित् — अभिजित्

९. विरिञ्चः— रोहिणी

१०. इन्द्र — ज्येष्ठा

११. ऐन्द्राग्नि — विशाखा

१२. मूलम् — मूलम्

१३. वरुण — शतभिषक्

१४. यमः — भरणी

१५. भगः — उत्तराफल्गुनी।

रात्रौ पञ्चदश मुहूर्ताः

क्रमशो निशामुहूर्ताः
रुद्रो भद्रादयोऽष्टताराश्च ।
अदितिर्गुरुर्विष्णुर्हस्त-
ब्रह्मसमीराश्च कीर्तिता मुनिभिः ॥

१. रुद्र — आर्द्रा

२. भद्रा — पूर्वभाद्रपदा

३. उत्तरभाद्रपदा

४. रेवती
५. अश्विनी
६. भरणी
७. कृत्तिका
८. रोहिणी
९. मृगशीरा
१०. अदिति — पुनर्वसू
११. गुरुः — पुष्यः
१२. विष्णुः — श्रवणम्
१३. हस्ता — हस्ता
१४. ब्रह्मः— रोहिणी
१५. समीरः — स्वाती।

दिवसमुहूर्तेष्वष्टमः मुहूर्तः अभिजित्-मुहूर्तः अद्य शुभमुहूर्तरूपेण परिगण्यते। सामान्यतः मुहूर्तेषु अन्नभनक्षत्रनामधेयाः शुभाः, अन्ये च अशुभाः इति परम्परा दृश्यते।

अर्थात् दिवसमुहूर्तेषु आनुराधा झनिष्ठा, उत्तराषाढा, अभिजित्, रोहिणी, शतभिषक्, उत्तराफल्गुनी इत्येते सप्त मुहूर्ताः शुभाः, अवशिष्टाः अष्ट मुहूर्ताः अशुभाः इति कथ्यन्ते।

किन्तु तेषु चतुर्दशनाडिकानन्तरं प्राप्तः अष्टमः मुहूर्तः अभिजित् विशेषशुभत्वेन परिगण्यते। अयं विचारः त्रिंशन्नाडिकापरिमितदिवसस्य आधारेण भवति।

अभिजित्-मुहूर्तस्य शब्दार्थःशब्दकल्पद्रुमे एवं निर्दिष्टम् अभि जि क्विप् दिवसस्याष्टमो मुहूर्तः शुभकालः इत्यर्थः।
अपराह्णे तु सम्प्राप्ते अभिजित् रोहिणोदये

यदत्र दीयते जन्तोस्तदक्षयमुदाहृतम्। [7]
तत्तु तारकात्रयात्मकशृङ्गाटकाकृति।
उत्तराषाढायाः चतुर्थः पादः पञ्चदशनाडिकाकालः, श्रवणस्य
प्रथमचतुष्टयनाडिकाकालश्च — एवं समग्रतः एकोनविंशनाडिकाकालः अभिजित्
इति एकः पारम्परिकः निर्देशः दृश्यते।
अभिजित्-नक्षत्रे जातस्य फलम्
अभिजित्-नक्षत्रे जातस्य फलम् एवं निर्दिश्यते—
अतिसुललितकान्तिः
सम्मतः सज्जनानां
ननु भवति विनीतश्चारुकीर्तिः सुवेषः ।
द्विजवरसुरभक्तो व्यक्तवाङ्मानवः स्याद्
अभिजिति यदि सूतिः भूपतिः स्वस्ववंशे ॥[8]
अभिजित्-मुहूर्तस्य प्रभावेन अयं कालः शुभकर्मणां कृते विशेषशुभः इति प्रतिपाद्यते।
अभिजिन्नाम मध्याह्नो मुहूर्तो वैष्णवः स्मृतः।
चक्रमादाय भगवान् विष्णुर्दोषान् व्यपोहति॥
अभिजित्-मुहूर्तयोगे
गतवति मध्यं दिनाधिपतौ।
चक्रेण चक्रपाणिः
समस्तदोषान् निषूदयति॥
विष्टिव्यतीपातमुखाश्च दोषाः
सर्वे ग्रहोत्पातसमुद्भवाश्च।
मध्यं दिनं याति सहस्ररश्मौ
नश्यन्ति दोषास्त्वभिजित्प्रभावात्॥
एतेभ्यः प्रमाणेभ्यः अभिजित्-मुहूर्तः अत्यन्तं शुभफलदायकः इति ज्ञायते।
किन्तु मध्याह्नकालः मध्याह्नसन्ध्यादोषयुक्तः इति नित्यदोषप्रकरणे निर्दिष्टम् —
“सायाह्नसन्ध्यादयः” इति।

---

[7] मत्स्यपुराणम्
[8] कोष्ठीप्रदीपः

मध्याह्नसन्ध्याकालस्य दश विनाडिकाः वर्जनीयाः।
मुहूर्तरत्ने, आचारसंग्रहे च मध्याह्नकालस्य वर्जनं निर्दिष्टम्।
मध्याह्ने चार्धरात्रे च
सन्ध्ययोरुभयोः अपि।
न कुर्यात् शुभकर्माणि
सिद्धिं नाप्नोति वै ततः॥
लाटवैधृतसूर्येन्दुग्रहसन्ध्याचतुष्टयं वर्ज्यम्।[9]
सन्ध्याचतुष्टयं भूकम्पं
मेघस्य गर्जनं वर्जयेत्।[10]
मध्याह्ने चार्धरात्रे च
वर्ज्या दश विनाडिकाः।

एतत्प्रमाणमनुसृत्य पूर्वोक्तचतुर्दशनाडिकानन्तरं षोडशनाडिकापर्यन्तं वर्तमानस्य अभिजित्-मुहूर्तस्य चतुर्दशनाडिकापञ्चपञ्चाशद्विनाडिकापर्यन्तं तथा पश्चात् पञ्चदशनाडिकापञ्चविनाडिकानन्तरं षोडशनाडिकापर्यन्तं च अभिजित्-मुहूर्तकालः परिगणनीयः।

विशेषतः अवधेयं यत् अभिजित्-मुहूर्तादिकालः आपत्काल एव स्वीकरणीयः। तथैव कालहोरः, गोधूलिः इत्यादयः अपि आपत्कालीनपरिस्थितिषु स्वीक्रियन्ते।

अन्येषु सामान्यकालेषु पञ्चाङ्गशुद्धिः, लग्नशुद्धिः, मासादिकालशुद्धिः, कर्तृदोषश्च यथोचितं परिगणयित्वैव मुहूर्तस्य चयनं करणीयम्।

शुभम्

[9] मुहूर्तरत्नम्
[10] आचारसंग्रहः

सहायकग्रन्थसूची

1. मुहूर्तपदवी ,मात्तूर्नम्पूतिरिः,पञ्चाङ्गं पुस्तकशाला, कुन्नङ्कुलम्, 680503,1988
2. प्रश्नमार्गः ,एडक्काटम नम्पूतिरिः,कृष्णालयं पब्लिक्केषन् पल्लुरुत्ति, कोच्चि-682006.2000
3. मुहूर्तरत्नम्,गोविन्दभट्टतिरि,वराहमिहिरा पब्लिक्केषन् तिरुप्पति, 517507, 1999
4. विद्यामाधवीयम्,माधवाचार्यः,दि जनता प्रस मद्रास्,1953
5. बालशङ्करम्,मयमङ्गलत्तु शङ्करन् नम्पूतिरि,गवण्मेन्ट्टु प्रेस् ,1927
6. आचारसंग्रहःपरमेश्वरःमानुस्कृप्टु लैब्ररि,कार्यवट्टम्,1981

Dr. GIRISH M.P

Assistant Professor

Department of Sanskrit Jyothisha

Government Sanskrit College

Thiruvananthapuram, Kerala 695034

Gmail ID – girishmaster53@gmail.com

Mobile No - 9447241640

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

भारत में मीडिया और ग्रामीण विकास (1950–2026) : विकास संचार के परिप्रेक्ष्य में भूमिका, चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ

सिंपल शर्मा
शोधार्थी, सामाजिक विज्ञान संकाय
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला
ईमेल : simpalsharma38444@gmail.com

सारांश

भारत की लगभग दो-तिहाई जनसंख्या आज भी गाँवों में निवास करती है, इसलिए ग्रामीण विकास केवल पूँजी-निवेश और अवसंरचना का प्रश्न नहीं, बल्कि सूचना, जागरूकता और सहभागिता का भी प्रश्न है। इसी बिंदु पर मीडिया की भूमिका निर्णायक हो जाती है। प्रस्तुत शोध पत्र यह पड़ताल करता है कि प्रिंट, रेडियो, दूरदर्शन, सामुदायिक रेडियो, लोक माध्यम और डिजिटल मंचों ने ग्रामीण विकास की प्रक्रिया को किस प्रकार प्रभावित किया है। अध्ययन में पाया गया कि प्रारंभिक दशकों के ऊपर-से-नीचे "आधुनिकीकरण प्रतिमान" की तुलना में सीता, खेड़ा संचार परियोजना और सामुदायिक रेडियो जैसे सहभागी प्रयोग कहीं अधिक टिकाऊ परिणाम देते हैं।

मुख्य शब्द : विकास संचार, ग्रामीण विकास, सामुदायिक रेडियो, डिजिटल विभाजन, सहभागी संचार, जनमाध्यम

1. प्रस्तावना

2011 की जनगणना के अनुसार देश की लगभग 68.8 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहती थी और यह अनुपात आज भी 60 प्रतिशत से ऊपर है; अतः समग्र विकास की कसौटी अंततः ग्रामीण विकास ही है। ग्रामीण विकास का आशय केवल कृषि उत्पादन बढ़ाना नहीं, बल्कि आजीविका, शिक्षा, स्वास्थ्य, अवसंरचना, सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक सहभागिता की बहुआयामी प्रक्रिया है। अमर्त्य सेन के अनुसार विकास वस्तुतः "स्वतंत्रताओं का विस्तार" है, और इन स्वतंत्रताओं में सूचना तक पहुँच मूलभूत तत्व है।

जनसंचार माध्यम तीन निर्णायक कार्य करते हैं—सूचना का प्रसार (तकनीक, योजनाएँ, बाज़ार भाव, मौसम), अभिवृत्ति परिवर्तन (स्वास्थ्य व्यवहार, सामाजिक चेतना) और जवाबदेही एवं आवाज़। सेन ने अपने अकाल-संबंधी अध्ययन में सिद्ध किया कि स्वतंत्र प्रेस वाले लोकतांत्रिक देशों में बड़े अकाल नहीं पड़ते। पी. साईंनाथ ने दिखाया कि भारतीय पत्रकारिता में ग्रामीण संकट की रिपोर्टिंग हाशिये पर चली गई है। प्रस्तुत शोध पत्र इसी द्वंद्व की पड़ताल करता है।

2. शोध के उद्देश्य, प्रश्न एवं परिकल्पना

1. भारत में विकास संचार के ऐतिहासिक विकास-क्रम का अध्ययन करना।

2. प्रिंट, रेडियो, टेलीविजन, सामुदायिक रेडियो, लोक माध्यम और डिजिटल मीडिया की तुलनात्मक भूमिका का विश्लेषण करना।

3. कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा और सुशासन के क्षेत्रों में मीडिया के प्रभाव की पड़ताल करना।

4. ग्रामीण संचार की संरचनात्मक बाधाओं की पहचान कर व्यावहारिक अनुशंसाएँ प्रस्तुत करना।

शोध-प्रश्न : क्या जनमाध्यमों की पहुँच बढ़ने से ग्रामीण विकास सूचकांकों में सार्थक सुधार हुआ है? ऊपर-से-नीचे प्रसार मॉडल की तुलना में सहभागी संचार कितना अधिक प्रभावी सिद्ध हुआ है? क्या डिजिटल विस्तार सूचना-अंतराल को पाट रहा है या नई असमानता उत्पन्न कर रहा है?

परिकल्पना : ग्रामीण विकास पर मीडिया का प्रभाव माध्यम की पहुँच से अधिक उसकी सहभागी संरचना पर निर्भर करता है; डिजिटल पहुँच में वृद्धि स्वतः सूचना-समानता में परिणत नहीं होती।

3. शोध प्रविधि

यह अध्ययन वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक प्रकृति का है तथा द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है—ट्राई एवं सूचना व प्रसारण मंत्रालय की रिपोर्टें, प्रेस रजिस्ट्रार जनरल के आँकड़े, जनगणना 2011, IAMAI–Kantar सर्वेक्षण तथा चयनित परियोजनाओं के मूल्यांकन-अध्ययन। सीमाएँरू अध्ययन प्राथमिक क्षेत्र-सर्वेक्षण पर आधारित नहीं है; मीडिया-प्रभाव को अन्य विकासात्मक कारकों से पृथक करके मापना पद्धतिगत रूप से कठिन है, अतः कारण-संबंध के स्थान पर सहसंबंध और प्रवृत्ति-विश्लेषण पर बल दिया गया है।

4. साहित्य समीक्षा

विकास और संचार के अंतर्संबंध पर शोध की परंपरा को तीन चरणों में बाँटा जा सकता है। आधुनिकीकरण प्रतिमान (1950—1970) में डैनियल लर्नर ने तर्क दिया कि जनमाध्यमों के संपर्क से "समानुभूति" विकसित होती है; विल्बर श्रैम ने विकासशील देशों के लिए न्यूनतम मीडिया-अवसंरचना का प्रस्ताव रखा; एवरेट रॉजर्स के "नवाचारों के प्रसार" सिद्धांत ने हरित क्रांति की प्रसार-रणनीति को दिशा दी।

आलोचना एवं निर्भरता चरण (1970—1985) में स्वयं रॉजर्स ने 1976 में "प्रभुत्वशाली प्रतिमान के अवसान" की घोषणा की और माना कि विकास की विफलता का कारण केवल सूचना का अभाव नहीं, बल्कि भूमि-स्वामित्व, वर्ग और सत्ता-संरचना है। फ्रेरे ने "संवाद" और "सजगता" को केंद्र में रखकर सहभागी संचार की वैचारिक नींव रखी।

सहभागी चरण (1985 से) में मेल्कोट और स्टीव्स ने विकास संचार को सशक्तीकरण के परिप्रेक्ष्य में पुनर्परिभाषित किया और चैंबर्स ने "अंतिम व्यक्ति को प्रथम" रखने की पद्धति दी। भारतीय संदर्भ में पवराला और मलिक का "अदर वॉइसेज़" (2007) सामुदायिक रेडियो पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण अध्ययन है, जबकि रॉबिन जेफ़री ने दिखाया कि 1977 के बाद भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों का जिला-कस्बा स्तर तक विस्तार लोकतंत्र की बड़ी घटना थी।

शोध-अंतराल : उपलब्ध साहित्य या तो एकल माध्यम पर केंद्रित है या विशुद्ध सैद्धांतिक; 2020 के दशक के डिजिटल परिवर्तन को समेकित रूप से देखने वाला हिंदी साहित्य सीमित है।

5. सैद्धांतिक ढाँचा

इस अध्ययन में चार सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्यों का समन्वित प्रयोग किया गया है :

तालिका 1. विकास संचार के प्रमुख सैद्धांतिक प्रतिमान

प्रतिमान	मूल मान्यता	संचार की दिशा	भारतीय उदाहरण
आधुनिकीकरण	सूचना का अभाव ही पिछड़ेपन का कारण	ऊपर से नीचे, एकतरफ़ा	कृषि दर्शन, प्रसार सेवा
निर्भरता	असमान संरचना ही मूल समस्या	संरचनात्मक आलोचना	नई विश्व सूचना व्यवस्था
सहभागी	समुदाय स्वयं विकास का कर्ता	क्षैतिज, संवादात्मक	खेड़ा परियोजना, सामुदायिक रेडियो
क्षमता दृष्टिकोण	विकास = स्वतंत्रताओं का विस्तार	अधिकार-आधारित	सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005

इनके अतिरिक्त ज्ञान-अंतराल परिकल्पना (टिचेनॉर एवं सहयोगी, 1970) विशेष रूप से प्रासंगिक है : सूचना का प्रवाह बढ़ने पर उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग उसे अधिक तेज़ी से आत्मसात करते हैं, फलस्वरूप ज्ञान का अंतर घटने के बजाय बढ़ जाता है।

6. भारत में विकास संचार का ऐतिहासिक विकास

रेडियो ग्रामीण मंच (1956) : यूनेस्को के सहयोग से पुणे में लगभग 150 गाँवों में समूह बनाकर आकाशवाणी का कृषि कार्यक्रम सुना जाता, फिर चर्चा और निर्णय होता था। सूत्र-वाक्य था—"सुनो, चर्चा करो, कार्य करो"।

कृषि दर्शन (1967) : दिल्ली के आसपास लगभग 80 गाँवों में सामुदायिक टेलीविजन सेटों पर प्रसारित यह कार्यक्रम भारतीय टेलीविजन का सबसे दीर्घजीवी कार्यक्रम बना और हरित क्रांति की तकनीकों के प्रसार में सहायक रहा।

सीता (SITE, 1975—76) : उपग्रह ATS-6 की सहायता से छह राज्यों के लगभग 2,400 गाँवों में कृषि, स्वास्थ्य और शिक्षा के कार्यक्रम प्रसारित हुए। इसरो के मूल्यांकन में स्वास्थ्य-जागरूकता और कृषि-ज्ञान में सुधार दर्ज हुआ।

खेड़ा संचार परियोजना (1975—1990) : गुजरात की यह परियोजना सहभागी संचार का आदर्श उदाहरण है। भवाई जैसे लोक-नाट्य रूपों से जातिगत भेदभाव और न्यूनतम मज़दूरी जैसे मुद्दे उठे; 1984 में इसे यूनेस्को पुरस्कार मिला।

उदारीकरण (1991 के बाद) : उपग्रह टेलीविजन और व्यावसायीकरण से चौनल बढ़े, किंतु सामग्री का केंद्र नगरीय मध्यवर्ग बन गया। सामुदायिक रेडियो (1995 से) : उच्चतम न्यायालय ने आकाश-तरंगों को सार्वजनिक संपत्ति घोषित किया; 2006 की नीति के बाद स्वयंसेवी संगठन पात्र हुए और 2008 में "संघम रेडियो" पहला स्वयंसेवी-संचालित स्टेशन बना। डिजिटल चरण (2014 से) : डिजिटल इंडिया, भारतनेट, सामान्य सेवा केंद्र, mKisan, e-NAM और डीडी किसान चौनल ने "प्रसारण" से "संवाद" की ओर संक्रमण किया।

7. माध्यम-वार विश्लेषण

मुद्रित माध्यम : पंजीकृत प्रकाशन 2014-15 के 1.05 लाख से बढ़कर 2024-25 में 1.55 लाख से अधिक हो गए। भारतीय भाषाओं के अख़बारों ने जिला-तहसील संस्करणों और ग्रामीण संवाददाताओं के जाल से पंचायत-स्तर की राजनीति को दृश्यमान बनाया।

रेडियो एवं सामुदायिक रेडियो : सामुदायिक रेडियो की विशिष्टता तीन बातों में हैरू अत्यंत स्थानीय सामग्री, समुदाय द्वारा स्वयं संचालन और बोली-स्तर पर कार्य। कोविड-19 के दौरान इन स्टेशनों ने स्थानीय भाषा में प्रामाणिक स्वास्थ्य-सूचना पहुँचाने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई।

टेलीविजन : 2024-25 तक 908 निजी उपग्रह चौनल पंजीकृत थे और डीडी फ्री डिश ने ग्रामीण दर्शकों तक व्यापक

पहुँच बनाई। अध्ययनों में पाया गया कि केबल टेलीविजन के बाद महिलाओं की स्वायत्तता संबंधी अभिवृत्तियों और बालिकाओं के विद्यालय-नामांकन में सुधार दिखा—यह "मनोरंजन-शिक्षा'' की शक्ति दर्शाता है।

डिजिटल एवं मोबाइल : 2025 में सक्रिय इंटरनेट उपयोगकर्ता लगभग 95.8 करोड़ तक पहुँचे, जिनमें 57 प्रतिशत ग्रामीण थे। किंतु प्रवेश-दर की दृष्टि से चित्र भिन्न है—नगरीय भारत में प्रति सौ व्यक्ति 126.80 के मुकाबले ग्रामीण भारत में मात्र 48.31। यही वास्तविक डिजिटल विभाजन है।

लोक माध्यम : नौटंकी, भवाई, कठपुतली और नुक्कड़ नाटक आज भी स्थानीय भाषा और सांस्कृतिक विश्वसनीयता के कारण प्रभावी हैं; बड़े अभियानों में इनके मिश्रित उपयोग ने सर्वोत्तम परिणाम दिए।

तालिका 2. भारत में मीडिया पहुँच के प्रमुख संकेतक

संकेतक	आँकड़ा	अवधि	स्रोत
ग्रामीण इंटरनेट प्रवेश-दर	48.31 प्रति 100	मार्च 2026	TRAI
नगरीय इंटरनेट प्रवेश-दर	126.80 प्रति 100	मार्च 2026	TRAI
सक्रिय इंटरनेट उपयोगकर्ता	958 मिलियन	2025	IAMAI–Kantar
ग्रामीण सक्रिय उपयोगकर्ता	548 मिलियन (57%)	2025	IAMAI–Kantar
कार्यरत सामुदायिक रेडियो	528	फरवरी 2026	सू. एवं प्र. मंत्रालय
पंजीकृत प्रकाशन	1.55 लाख से अधिक	2024-25	PRGI

8. क्षेत्रीय प्रभाव

कृषि : मंडी भाव की जानकारी से किसान की सौदेबाज़ी क्षमता बढ़ती है और बिचौलियों पर निर्भरता घटती है। किसान कॉल सेंटर स्थानीय भाषा में परामर्श देता है, उज्ञपेंद से लक्षित एसएमएस भेजे जाते हैं और ई-चौपाल ने किसानों को सीधे बाज़ार-सूचना से जोड़ा। 9. चयनित प्रकरण-अध्ययन

खबर लहरिया (2002) : चित्रकूट से बुंदेली बोली में निकला यह प्रकाशन ग्रामीण दलित एवं मुस्लिम पृष्ठभूमि की महिलाओं द्वारा संचालित था और बाद में डिजिटल मंच बना। इसने सिद्ध किया कि "कौन रिपोर्ट करता है" उतना ही महत्वपूर्ण है जितना "क्या रिपोर्ट होता है।''

संघम रेडियो (2008) : दलित महिला किसानों द्वारा संचालित यह स्टेशन देशी बीजों और खाद्य संप्रभुता पर केंद्रित है—सामुदायिक मीडिया यहाँ सांस्कृतिक प्रतिरोध का माध्यम बनता है।

डिजिटल ग्रीन : किसान स्वयं कृषि-पद्धतियों पर लघु वीडियो बनाते हैं, जो मध्यस्थ की उपस्थिति में समूह-बैठकों में दिखाए जाते हैं; यह पद्धति परंपरागत प्रसार-सेवा से अधिक लागत-प्रभावी सिद्ध हुई।

10. प्रमुख निष्कर्ष

1. सहभागिता निर्णायक है : खेड़ा परियोजना, सामुदायिक रेडियो, खबर लहरिया और डिजिटल ग्रीन—सबकी सफलता का साझा सूत्र यह है कि सामग्री-निर्माण में समुदाय की भागीदारी थी।

2. पहुँच और प्रभाव में अंतर है : माध्यम की उपलब्धता स्वतः व्यवहार-परिवर्तन नहीं लाती; जहाँ आमने-सामने चर्चा और विश्वसनीय स्थानीय मध्यस्थ थे, वहीं परिणाम टिकाऊ रहे।

3. डिजिटल विभाजन बहुस्तरीय है : भौतिक संपर्क, उपकरण-स्वामित्व, डिजिटल कौशल और भाषिक सामग्री—किसी एक स्तर की बाधा शेष सभी निवेशों को निष्फल कर देती है।

4. ज्ञान-अंतराल की पुष्टि : बड़े किसान और पुरुष सदस्य नई सूचना को अधिक तेज़ी से आत्मसात कर पाए, जिससे सापेक्ष अंतर बढ़ा।

5. मुख्यधारा का ग्रामीण विमुखीकरण : विज्ञापन-आधारित राजस्व मॉडल के कारण कृषि संकट और ग्रामीण बेरोज़गारी जैसे विषय प्रायः तभी कवरेज पाते हैं जब वे नाटकीय रूप लेते हैं।

11. चुनौतियाँ

संरचनात्मक : बिजली की अनियमित आपूर्ति और कमज़ोर नेटवर्क कवरेज, विशेषकर पूर्वोत्तर, पहाड़ी और आदिवासी क्षेत्रों में; मोबाइल स्वामित्व में लैंगिक अंतराल, जहाँ परिवार के एकमात्र स्मार्टफोन पर प्रायः पुरुष का नियंत्रण रहता है; तथा भाषिक बाधा—सामग्री अंग्रेज़ी या मानक हिंदी में है, जबकि ग्रामीण भारत बोलियों में जीता है।

12. सुझाव एवं नीतिगत अनुशंसाएँ

1. सामुदायिक रेडियो का सुदृढ़ीकरण : लाइसेंस-प्रक्रिया का सरलीकरण, विज्ञापन-सीमा में लचीलापन और स्थायी वित्तपोषण कोष; लक्ष्य प्रत्येक विकासखंड में कम-से-कम एक स्टेशन।

2. "मध्यस्थ सहित प्रौद्योगिकी" : स्वयं सहायता समूह, आशा कार्यकर्ता और कृषि सखी जैसे स्थानीय मध्यस्थों को प्रशिक्षित एवं मानदेय-युक्त किया जाए।

3. ग्रामीण पत्रकारिता का पुनरुद्धार : ग्रामीण बीट की पुनर्स्थापना, पाठ्यक्रमों में ग्रामीण रिपोर्टिंग, तथा संवाददाताओं के लिए उचित पारिश्रमिक एवं बीमा।

4. लैंगिक-संवेदी हस्तक्षेप : महिलाओं के लिए उपकरण-स्वामित्व योजनाएँ, महिला-संचालित मीडिया इकाइयों को प्राथमिकता तथा ऑडियो एवं सचित्र प्रारूप।

13. उपसंहार

रेडियो ग्रामीण मंच की श्रवण-सभाओं से लेकर आज के लघु-वीडियो तक की इस सात दशक लंबी यात्रा से तीन स्थायी सबक निकलते हैं। पहला, तकनीक कभी स्वयं में समाधान नहीं होती, प्रभाव इस बात से तय होता है कि संदेश किसने बनाया, किस भाषा में बनाया, और ग्रहण करने वाले के पास उस पर कार्य करने की सामर्थ्य है या नहीं। दूसरा, विकास संचार का सर्वाधिक मूल्यवान योगदान "सूचना पहुँचाना" नहीं, बल्कि "आवाज़ लौटाना" है; जब हाशिये का समुदाय माध्यम का उपयोगकर्ता नहीं बल्कि स्वामी बनता है, तब संचार सचमुच विकासात्मक हो जाता है। तीसरा, डिजिटल क्रांति ने अवसर और जोखिम दोनों बढ़ाए हैं; सचेत नीतिगत हस्तक्षेप के बिना यही क्रांति ज्ञान-अंतराल को चौड़ा कर सकती है।

संदर्भ सूची

अग्रवाल, बी. सी. (1981). साइट सोशल इवैल्यूएशन : रिज़ल्ट्स, एक्सपीरियंसेज़ एंड इम्प्लिकेशन्स. स्पेस एप्लीकेशन्स सेंटर, इसरो.

इंटरनेट एंड मोबाइल एसोसिएशन ऑफ इंडिया, एवं कांटर. (2026). इंटरनेट इन इंडिया रिपोर्ट 2025. आईएएमएआई.

चैंबर्स, आर. (1983). रूरल डेवलपमेंट : पुटिंग द लास्ट फर्स्ट. लॉन्गमैन.

जेफ्री, आर. (2000). इंडियाज़ न्यूज़पेपर रिवोल्यूशन : कैपिटलिज़्म, पॉलिटिक्स एंड द इंडियन-लैंग्वेज प्रेस, 1977—99. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

पवाराला, वी., एवं मलिक, के. के. (2007). अदर वॉइसेज़ : द स्ट्रगल फॉर कम्युनिटी रेडियो इन इंडिया. सेज.

फ्रेरे, पी. (1970). पेडागॉजी ऑफ द ऑप्रेस्ड. हर्डर एंड हर्डर.
भारतीय दूरसंचार नियामक प्राधिकरण. (2026). द इंडियन टेलीकॉम सर्विसेज़ परफॉर्मेंस इंडिकेटर्स रिपोर्ट, जनवरी–मार्च 2026. ट्राई.
मेलकोटे, एस. आर., एवं स्टीव्स, एच. एल. (2015). कम्युनिकेशन फॉर डेवलपमेंट : थ्योरी एंड प्रैक्टिस फॉर एम्पावरमेंट एंड सोशल जस्टिस (3रा संस्करण). सेज.
रोजर्स, ई. एम. (1976). कम्युनिकेशन एंड डेवलपमेंट : द पासिंग ऑफ द डॉमिनेंट पैराडाइम. कम्युनिकेशन रिसर्च, 3(2), 213–240.
लर्नर, डी. (1958). द पासिंग ऑफ ट्रेडिशनल सोसाइटी : मॉडर्नाइजिंग द मिडिल ईस्ट. फ्री प्रेस.
श्राम, डब्ल्यू. (1964). मास मीडिया एंड नेशनल डेवलपमेंट : द रोल ऑफ इन्फॉर्मेशन इन द डेवलपिंग कंट्रीज़. स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
साईनाथ, पी. (1996). एवरीबडी लव्स अ गुड ड्रॉट : स्टोरीज़ फ्रॉम इंडियाज़ पुअरेस्ट डिस्ट्रिक्ट्स. पेंगुइन बुक्स.
सेन, ए. (1999). डेवलपमेंट ऐज़ फ्रीडम. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

सन्तानविचारः

Varsha P. S.
Asst. Professor.
Dept- of Sanskrit Jyotisha, GSC TVM

संग्रहः

भारतीयज्योतिश्शास्त्रे मानवजीवनससम्बद्दानां विविधविषयाणां विचारः विस्तरेण कृतः अस्ति। षोडशसंस्कारेषु विद्यमान विवाहः, आधानकालः, सन्तानप्राप्तिः इत्यादि विषयाः प्रमुखाः सन्ति। सन्तानविचारः अतीव महत्वपूर्णः विषयः अस्ति। मानवजीवनं सन्तानलब्ध्या एव परिपूर्णतां याति। विवाहकर्म भावि परम्परायाः परिपूर्त्यर्थं कृतवन्तः। पूर्वं विवाहनिश्चयसमये न केवलं मेलापकमेव पश्यति स्म, अपि तु तेषां ग्रहाणां बलाबलमपि सस्सूक्ष्मं निरीक्ष्य परस्परविरुद्धस्य जातकस्य निराकरणं वा, परिहारं वा कृतवन्तः स्म। जातके प्रश्ने वा सन्तानदुरितं पश्यति चेत् तस्य परिहारं कृत्वा एव विवाहनिश्चयः करणीयमः इति कल्पना आसीत्। अस्मिन् प्रबन्धे आधानमुहूर्तस्य, सन्तानविचारस्य च अध्ययनं क्रियते। अतः प्रश्नमार्गः, बृहज्जातकम्, मुहूर्तपदवी इत्यादीनां ग्रन्थानां साहाय्येन विषयस्य विश्लेषणं क्रियते।

मुख्यशब्दाः- सन्तानविचारः, आधानं, बृहस्पतिः, मुहूर्तः, पञ्चमभावः, नक्षत्रं, भारतीयज्योतिषम्।

उपोद्घातः

अस्माकं संस्कारेषु विवाहरू तदनन्तरं सन्तानप्राप्तिः च केवलं व्यक्तिगतजीवनस्य विषयः न, अपि तु कुटुम्बस्य, कुलस्य, परम्परायाः च संरक्षणस्य विषयःभवति। अतः विवाहसंस्कारस्य अनन्तरं सन्तानप्राप्तिः गृहस्थाश्रमस्य महत्त्वपूर्णेषु उद्देश्येषु अन्यतमा अस्ति। यतः सन्तानोत्पादनेनैव परम्परा तिष्ठति। प्रश्नमार्गे उक्तं यत् –

मर्त्यः पितृणामृणपाशबन्धना
द्विमुच्यते पुत्रमुखावलोकनात्।
श्राद्धादिभिर्न्नैवमतोन्यभावतः
प्राधान्यमस्येत्ययमीरितोञ्जसा।।

पितृणां ऋणपाशबन्धनात् विमोचनं पुत्रमुखावलोकनेन एव सिद्ध्यति। अतः मर्त्यजीवने पुत्रभाग्यं अनिवार्यमेव इति कथयन्ति। भारतीयज्योतिषशास्त्रे अपि सन्तानसम्बन्धी विचारः पृथक् विषयत्वेन विकसितः। जातकशास्त्रे पञ्चमभावः सन्तानस्य प्रमुखभावत्वेन स्वीक्रियते। तस्य भावस्य स्वामी, तस्य स्थितिः, बृहस्पतेः बलम्, शुभाशुभग्रहाणां दृष्टिः इत्यादीनां विचारः सन्तानसुखनिर्णये क्रियते। तथैव मुहूर्तशास्त्रे गर्भाधानस्य योग्यकालस्य विचारः अपि दृश्यते। तिथिः, वारः, नक्षत्रं, चन्द्रबलं, लग्नं, ग्रहस्थितिः इत्यादीनां विचारः आधानकर्मणः शुभाशुभफलनिर्णयाय क्रियते।

अध्ययनस्य समस्या - सन्तानविचिन्तने भरतीयज्योतिशास्त्रस्य योगदानं किम्? गर्भाधानविषये किं किं उक्तम्? सेकमुहूर्तस्य शुभाशुभत्वं कथं निरूपितम्? तस्य आवश्यकता का? निषेकमुहूर्तस्य तथा सन्तानयोगस्य निर्धारणे ज्योतिषशास्त्रस्य भूमिका का?

अध्ययनस्य उद्देश्यानि

1.भारतीयज्योतिषशास्त्रे प्रतिपादितस्य सन्तानविचारस्य स्वरूपं महत्त्वं च निरूपयितुम्।

2. गर्भाधानकालस्य प्राधान्यं, शुभाऽशुभसमयं च द्योतयितुम्।

3. तिथिवारनक्षत्रादीनां आधानकालसम्बद्धेषु निर्देशेषु महत्त्वं विश्लेषितुम्।

4. अस्य ज्ञानस्य आधारेण स्वास्थ्यारक्षणस्य,सन्तानप्राप्तेः च नूतनपरिवर्तनानि चिकित्साक्षेत्रे आनेतुम्।

आधानयोग्यकालः

आचार्यस्य वराहमिहिरस्य बृहज्जातके गर्भाधानस्य योग्यकालः विवेचितः अस्ति। महिलानां प्रतिमासम् आर्त्तवं भवति। किन्तु सर्वदा तत् फलं न भवति। किमर्थं? तदर्थं आधानयोग्यकालः ज्ञातव्यः भवति। यथा -

'कुजन्दुहतुः प्रतिमासमार्तवं
गत तु पीडर्क्षमनुष्णदीधितौ
अतोऽन्यथास्थ शुभपुंग्रहक्षित
नरण संयोगमुपैति कामिनी'।।

मासि मासि रजः स्त्रीणां रजसं स्रवतित्र्यहम्।
वत्सरात् द्वादशादूर्द्धमेकपञ्चाशतः क्षयम्।।

ग्रहाणाम् अन्योन्यसंबन्धेषु दृष्टिरेव प्राधान्येन उच्यते। यस्मिन् राशौ ग्रहो वा ग्रहस्य दृष्टिर्वा भवति तत्र स्वशक्तिसंपातो भवति। 'अशुभगदिता योगा याप्या भवन्ति शुभेक्षिताः' इत्येकत्र; 'यदि न शुभैर्वीक्षितः शक्तिमद्भिः' इत्यपरत्र, अनेन दृष्टेः प्राधान्यमस्तीति सिद्ध्यति। कुजेन्दुहेतुः प्रतिमासमार्त्तवस्य कारणम्। कुजशब्देन पित्तमुक्तम्। इन्दुशब्देन शोणितमुच्यते। पित्तेन शोणिते क्षुभिते स्त्रीणाम् आर्त्तवं स्यात्। "रक्ते क्षुभिते पित्तेन रजः प्रवर्त्तते स्त्रीषु।" पित्तशोणितप्रकृत्योः कुजचन्द्रयोः संबन्धे सति आर्त्तवस्य साफल्यं भवति इत्यर्थः। बन्धुग्रहस्य दृष्टिः अस्ति चेत् उच्चस्थः ग्रहः राजतुल्यः भवति, तेन साकं बन्धुग्रहः तिष्ठति तर्हि सः धनिके भवति। अतः रक्तस्वरूपः चन्द्रः पित्तस्वरूपेण कुजेन दृष्टे, कुजकार्यपित्तेन चन्द्रकार्यशोणितस्य यत् आर्त्तवं भवति तत् सफलं भविष्यति। किन्तु एतत् सर्वदा किमर्थं सफलं न याति?

'शीतज्योतिषि योषितोऽनुपचयस्थाने कुजेनेक्षिते
जातं गर्भफलप्रदं खलु रजः स्यादन्यथा निष्फलं'।

इत्युक्ते सति चन्द्रः महिलायाः अनुपचयस्थाने (2,4,5,7,8,9,12) तिष्टति चेत् एव रजःगर्भक्षमं भविष्यति। कुजेन द्रष्टव्यमपि भवति। पुरुषस्य जन्मचन्द्रलग्नात् चन्द्रः उपचयस्थाने (3, 6, 10, 11) गुरुदृष्ट्या स्थितः सन् गर्भाधानं करणीयम्।

गर्भाधानाय विहितानि नक्षत्राणि।

"उत्तरात्रयमृगहस्तानुराधारोहिणीस्वातिश्रवणधनिष्ठाशततारकासु" गर्भाधानं सत् शुभदम्। उत्तरात्रयं सौम्यं रोहिणी च शुभाः स्मृताः।। आधाने मूलसार्पान्त्यमशुभं सममन्यभम्।। इति। एवं विहितनक्षत्रे सति चन्द्रबले गर्भाधानार्थं सकृदेव पत्नीगमनं कार्यमित्याह याज्ञवल्क्यः।

दृष्टिविशेषः

सेकमुहूर्तलग्ने शुक्रदृष्टिः शुभं भवति। अन्यत्र सर्वत्र शुक्रदृष्टिः वर्जनीया। अतः अत्र विशेषविधिः।

राशिविशेषः

निषेके कन्याराश्योदकालः वर्ज्यः। अन्ये एकादशराशयः शुभाः। अनन्तरम् -

अष्टमी, विष्टिः, रिक्तादयः दोषाः वर्ज्याः। व्रतपर्वदिनानि, जन्मनक्षत्राणि, श्राद्धदिनानि तस्य गतदिनानि च वर्ज्याः।

केन्द्रत्रिकोणेषु शुभस्थितेषु

लग्ने शशांके च शुभैस्समेते।
पापैस्त्रिलाभारिगतैश्च यायात्
पुंजन्मयोगेषु च सम्प्रयोगः।।

लग्नं चन्द्रः च शुभग्रहैः समेतौ सन्तौ केन्द्रेषु त्रिकोणेषु च शुभाः, त्रि-षड्-एकादशभावेषु पापाः, च यदा तिष्टन्ति तदा क्रियमाणम् आधानं गर्भक्षमं भविष्यति। तथा च ऋतुसमये पुरुषः कथञ्चिदपि स्त्रियाः नखदशनविक्षतानि न कुर्यात्। आर्त्तवादारभ्य 16 दिनानि ऋतुकालः तत्र प्रथमदिनचतुष्टयं त्यक्तव्यमस्ति। पुरुषजातके स्त्रीजातके च उदयलग्नस्य उपचयभावेषु यथाक्रमं रविशुक्रयोः चन्द्रकुजयोः योगे वा नवांशकोदयसमये वा कृत निषेके सफलः भविष्यति।

चन्द्रबुधगुरुशुक्रवाराः निषेककार्ये शुभाः उक्ताः। अर्थादन्ये सूर्यभौमशनिवाराः निषिद्धाः। अत्र केचित् निषेके पुंवाराः उत्तमाः, स्त्रीवारौ मध्यमौ, नपुंसकवारौ निषिद्धौ। उक्तश्च व्यासेन—पुरुषग्रहवाराः स्युः शुभाः सीमन्तकर्मणि। मध्यौ स्त्रीग्रहवारौ तु वर्जयेत्तु नपुंसकौ इति। बलयुतः गुरुः निषेकलग्ने वा पञ्चमे नवमे वा तिष्टति चेत् गर्भः भविष्यति। सुमुहूर्त्तमाश्रित्य क्रियमाण यज्ञयागादि क्रियाः फलाय कल्पन्ते।

मुहूर्त्तेषु सेकमुहूर्त्तस्य प्राधान्यम्।

सेकं चतुर्थ्यां निशि कार्यम् -विवाहस्य अनन्तरं चतुर्थदिवसे रात्रौ निषेकं करणीयम्। पञ्चमरात्रौ निषेकं न करणीयम्। यथा-

सेकं चतुर्थ्यां निशि नोत्तरस्याम्
मखासुरेज्यार्क्षसितेक्षणं सत
न स्त्रीद्विजन्मत्रितयाधिमास-
त्रयाणिराकाहरिवासरौ च।।

एवं भार्यायाः तथा भर्तुः च जन्म-अनुजन्म-जन्मानुजन्मनक्षत्राणि, अधिमासः, अंहस्पतिः, संसर्पः, पौर्णमी, हरिवासरकालः (एकादश्याः अन्त्यपादमारभ्य द्वादशीप्रथमपादान्तः त्रिंशन्नाडिकारूपः कालः) च वर्जनीयाः भवन्ति।

गण्डान्तं त्रिविधं त्यजेन्निधनजन्मर्थे च मूलान्तकं।
दस्रं पौष्णमघोपरागदिवसान् पातं तथा वैधृतिम्।।
पित्रोः श्राद्धदिनं दिवा च परिघाद्यर्थं स्वपत्नीगमे
भान्युत्पातहतानि मृत्युभवनं जन्मर्क्षतः पापभम् ॥

त्रिविधं गण्डान्तं निधनजन्मर्क्षे च पुनः मूलान्तकं दस्रभं पौष्णम् अथ उपरागदिवसान् पातं तथा वैधृतिं पित्रोः श्राद्धदिनं दिवा च पुनः परिघाद्यर्थं उत्पातहतानि जन्मर्क्षतः मृत्युभवनम् तथा पापभं एतानि सर्वाणि अपि पत्नीगमे त्यजेत्। एवं सेकमुहूर्त्तं पश्यति। तथापि एते योगाः हतबीजानां कृते बधिराणां वीणेव निष्फलं भविष्यति।

प्रबन्धेस्मिन् गर्भाधानस्य तस्य निषेककालस्य च ज्योतिषाधारेण सूक्ष्मः विचारः कृतः अस्ति। जन्मकुण्डल्यां पञ्चमभावः, तन्नाथः, गुरुः च सन्तानसुखस्य मुख्यकारकाः सन्ति। एतेषां शुभस्थितिः सत्प्रजां सूचयति।

उपसंहारः

एवं संक्षेपेण वक्तुं शक्यते यत् गर्भाधानमारभ्य शिशोः विकासपर्यन्तं या प्रक्रिया वर्तते, तस्याः सूक्ष्मं व्यवस्थितं च विवेचनं अस्माकं प्राचीनज्योतिषग्रन्थेषु उपलब्धम्। यद्यपि आधुनिकयुगे अल्ट्रासौण्ड-स्कानिंङ् इतायादीनां प्रविधीनां साहाय्येन गर्भविकासस्य प्रत्यक्षानुभूतिः साक्षात्करणं च संभवति, तथापि अस्य ज्ञानस्य मूलं सिद्धान्तं तु अस्माकं ऋषिवर्यैः पूर्वाचार्यैः च पूर्वमेव प्रतिपादिताः सन्ति। जातकशास्त्रे पञ्चमभावः, पञ्चमेशः, बृहस्पतिः, चन्द्रः, शुक्रः इत्यादीनां विचारः सन्तानसम्बन्धीनां फलानां निरूपणे प्रमुखतया क्रियते। मुहूर्तशास्त्रे तु आधानस्य निषेकस्य च कालविचारे तिथिः, वारः, नक्षत्रम्, चन्द्रबलम्, लग्नम्, ग्रहस्थितिः इत्यादीनि विचार्यन्ते।

अतः सन्तानविचारः केवलं फलादेशसम्बद्धः विषयः न, अपि तु भारतीयजीवनदृष्टेः, परम्परायाः, मुहूर्तविचारस्य,

जातकशास्त्रस्य च समन्वितरूपम् अस्ति। एतत् सर्वं दृष्ट्वा आधानादि कर्माणि क्रियन्ते चेदपि -

भवत्यपत्यं हि विबीजिनामिमे
करा हिमांशोर्व्विदृशामिवाफलाः।। इति।

ज्योतिषे महाशास्त्रे निहितं ज्ञानं अवगम्य यथायोग्यं प्रयुज्यते चेत् स्वास्थ्यरक्षायां, सुसन्तानप्राप्तौ, चिकित्साक्षेत्रे च नूतनानि महान्ति परिवर्तनानि अपि आनेतुं शक्यन्ते।

।शम्।

1. प्रश्नमार्गः : 19 -92
बृहज्जातकम् : 4-1
होराशास्त्रम् : ऋद्रविवरिणी, पु,66
दशाध्यायि : 4-1
प्रशनमार्गः : 18- 35
बृहत्संहिता : 78 - 25
मुहूर्तपदवी -6
मुहूर्तचिन्तामणी 5-5

सहायग्रन्थसूची

संस्कृतग्रन्थाः

1. पनक्काट् नम्पूतिरि- नीलकण्ठशर्मा पुन्नशेरि प्रश्नमार्गः देवी बुक्स्टाल् -2004
2. मार्त्तू शङ्करम् नम्पूतिरि- गिरीष एवं. पि. डा- मुहूर्तपदवी-ज्योतिषविभागः -2016
3. मार्त्तू शङ्करन् नम्पूतिरि- कणिप्पय्यूर मुहूर्त पदवी - पञ्चाङ्ग पब्लिकेशन् - 1182
4. रामदैक्ञः - रामचन्द्रः पाठके मुहूर्तचिन्तामणि - चौखम्बा पब्लिकेशन् - 2006
5. वराहमिहिरः - गोपालप्पणिक्र्क डा. बृहज्जातकम् - देवी बुक्स्टाल -2000
6. वराहमिहिरः - पुरुषोत्तमम् पुलिर्यू नम्पूतिरि- बृहत्संहिता- देवी बुक्स्टाल् - 1935
7.वराहमिहिरः - वासुदेवन् के पिल्लै पब्लिक्केशन् - 1185 लघुजातकम् - पञ्चाङ्ग
8. वराहमिहिरः - हरिजयन्तन् नम्पूतिरि- दशाध्यायि - कुरुमार्त्तू मातृभूमि पब्लिकेशन् — 1990

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

भारतीय ज्ञान प्रणाली का सतत प्रवाह और अनुवाद की परंपरा

Abhishek Kumar Jaiswal
Research scholar
Department of Hindi, University of Delhi
Email: abhijaiswal125@gmail.com
Mob: 8574544984

शोध-सार

भारतीय ज्ञान प्रणाली का इतिहास केवल ग्रंथों, विद्वानों और संस्थाओं का इतिहास नहीं है, बल्कि यह विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और बौद्धिक परंपराओं के बीच निरंतर होने वाले संवाद का इतिवृत भी है। इस संवाद को संभव बनाने वाली प्रक्रियाओं में अनुवाद की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। भारतीय या किसी भी सांस्कृतिक संदर्भ में अनुवाद को केवल एक भाषा के पाठ को दूसरी भाषा में रूपांतरित करने की तकनीकी प्रक्रिया के रूप में देखना अपर्याप्त होगा। यहाँ अनुवाद ने ज्ञान के संरक्षण, पुनर्व्याख्या, प्रसार, पुनर्संदर्भीकरण और अन्य सामाजिक समूहों तक उसकी पहुँच सुनिश्चित करने में सक्रिय भूमिका निभाई है। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम, फारसी, अरबी और बाद में हिंदी, अंग्रेज़ी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच हुए अनुवादों ने भारतीय ज्ञान प्रणाली को गतिशील बनाया ।प्राचीन और प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में बौद्ध साहित्य का विभिन्न भाषाओं में रूपांतरण ने भारतीय धार्मिक और दार्शनिक विचारों को भारत के बाहर पहुँचाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। गणित और विज्ञान के क्षेत्र में संस्कृत ग्रंथों का अरबी में अनुवाद ने भारतीय गणितीय एवं खगोलीय ज्ञान को इस्लामी जगत के व्यापक बौद्धिक संसार से जोड़ा। मध्यकालीन भारत में संस्कृत और फारसी के बीच हुए अनुवादों ने इस प्रक्रिया को एक नया आयाम प्रदान किया।

बीज शब्द : भारतीय ज्ञान-प्रणाली, अनुवाद, सांस्कृतिक मध्यस्थता, संस्कृत, फारसी, अरबी, ज्ञान-संक्रमण, रज़्मनामा, पंचतंत्र।

भूमिका

ज्ञान का निर्माण किसी एक भाषा, समाज या सभ्यता की सीमाओं में पूर्ण नहीं होता। किसी भी ज्ञान प्रणाली का विकास तब अधिक व्यापक रूप ग्रहण करता है जब उसके विचार अन्य भाषायी-सांस्कृतिक समुदायों तक पहुँचते हैं। इस प्रक्रिया में अनुवाद की भूमिका केंद्रीय हो जाती है। अनुवाद किसी विचार को एक भाषा से दूसरी भाषा में ले जाने का माध्यम अवश्य है, लेकिन उसकी वास्तविक भूमिका इससे कहीं अधिक व्यापक है। अनुवाद प्रक्रिया में भाषिक परिवर्तन के साथ साथ अवधारणाओं, प्रतीकों, सांस्कृतिक संकेतों, सामाजिक मान्यताओं और ज्ञान की पद्धतियों का भी एक संदर्भ से दूसरे संदर्भ में प्रवेश होता है। भारतीय सभ्यता के संदर्भ में यह तथ्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि भारत का भाषायी और

सांस्कृतिक इतिहास बहुस्तरीय रहा है। संस्कृत के साथ-साथ पालि, प्राकृत और विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं ने भी ज्ञान के निर्माण, विकास और संचार में योगदान दिया है। आगे चलकर फारसी और अरबी ने भी भारतीय बौद्धिकी के साथ गहरा संबंध स्थापित किया और औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ी भी एक महत्वपूर्ण ज्ञान-माध्यम बनती गई। आधुनिक काल में हिंदी, बंगाली, तमिल, तेलुगु, मराठी, कन्नड़, मलयालम, गुजराती, ओड़िया, असमिया, पंजाबी, उर्दू तथा अन्य भाषाओं में आधुनिक विज्ञान और मानविकी के ज्ञान का अनुवाद हुआ।इसलिए भारतीय ज्ञान-प्रणाली का अध्ययन करते समय यह प्रश्न केवल इतना ही नहीं होना चाहिए कि 'कौन-सा ज्ञान किस ग्रंथ में मौजूद था?', बल्कि यह भी पूछा जाना चाहिए कि 'वह ज्ञान किन भाषाओं में पहुँचा?', 'किसने उसका अनुवाद किया?', 'किस पाठक के लिए किया?', 'अनुवाद के दौरान कौन-से अर्थ बदले?' और 'उस परिवर्तन ने ज्ञान की सामाजिक और बौद्धिक भूमिका को किस प्रकार प्रभावित किया?' यहीं से अनुवाद के सांस्कृतिक मध्यस्थ के रूप में अध्ययन की आवश्यकता भी उभरकर सामने आती है।

अवधारणा

भारतीय ज्ञान प्रणाली अपेक्षाकृत समकालीन अकादमिक और नीतिगत अभिव्यक्ति है। किंतु जिस ज्ञान-संसार को आज इस नाम से समझने का प्रयास किया जा रहा है, उसका ऐतिहासिक विस्तार बहुत पुराना है। इसमें दर्शन, व्याकरण, तर्कशास्त्र, गणित, ज्योतिष, खगोलशास्त्र, आयुर्वेद, वास्तु, साहित्य, संगीत, नाट्य, कृषि, राजनीति, विधि, शिक्षा और अनेक स्थानीय ज्ञान-परंपराएँ शामिल रही हैं। इस ज्ञान की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी बहुभाषिकता है। भारतीय ज्ञान प्रणाली को केवल संस्कृत की परंपरा के रूप में देखना अपूर्ण होगा। बौद्ध और जैन परंपराओं में पालि तथा प्राकृत भाषाओं की भूमिका रही। दक्षिण भारत में तमिल सहित विभिन्न द्रविड़ भाषाओं में स्वतंत्र ज्ञान-साहित्य विकसित हुआ। मध्यकाल में फारसी और अरबी ने भारतीय ज्ञान प्रणाली को नए बौद्धिक संसारों से जोड़ा।

इसलिए भारतीय ज्ञान की यात्रा को मूल और अनुवाद के कठोर द्वैत में बाँटना भी उचित नहीं है। अक्सर अनुवाद को मूल पाठ से होने वाली द्वितीयक गतिविधि माना जाता है। किंतु इतिहास बताता है कि कई बार अनुवाद स्वयं ज्ञान के इतिहास में नया अध्याय खोलता है। उदाहरणार्थ जब भारतीय गणितीय या खगोलीय ज्ञान अरबी में पहुँचा तो वह केवल भारतीय ज्ञान का 'प्रतिरूप' नहीं रहा अपितु नए विद्वानों, गणनात्मक पद्धतियों और बौद्धिक संदर्भों में प्रवेश किया। इसी तरह जब संस्कृत महाकाव्य का फारसी अनुवाद हुआ तो वह फारसी पाठकों के लिए केवल संस्कृत ग्रंथ नहीं रहा, बल्कि एक नए साहित्यिक और राजनीतिक संदर्भ का हिस्सा बन गया।अतः भारतीय ज्ञान प्रणाली का इतिहास वास्तव में ज्ञान के स्थानांतरण और पुनर्निर्माण का इतिहास भी है।

अनुवाद की परंपरा और भारतीय ज्ञान प्रणाली का सतत प्रवाह

भारतीय ज्ञान प्रणाली के वैश्विक विस्तार में बौद्ध धर्म का इतिहास अनुवाद की भूमिका को समझने का एक महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है। बौद्ध विचारों का प्रसार भारत से मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, दक्षिण-पूर्व एशिया और आगे अन्य क्षेत्रों तक हुआ। इस प्रसार में यात्रियों, भिक्षुओं, व्यापार-संघ और मठीय संस्थाओं की भूमिका रही, लेकिन इन सबके बीच ग्रंथों के अनुवाद ने स्थायी बौद्धिक प्रभाव उत्पन्न किया। किसी दर्शन का दूसरे समाज में प्रवेश तभी सम्भव है जब उस समाज की भाषा में उसके लिए वैचारिक और भाषिक स्थान निर्मित हो।बौद्ध ग्रंथों के चीनी अनुवादों का इतिहास इसी प्रक्रिया का उदाहरण है। भारतीय और मध्य एशियाई स्रोतों से प्राप्त बौद्ध ग्रंथों को चीनी भाषा में प्रस्तुत करने के दौरान अनुवादकों को ऐसे दार्शनिक और धार्मिक शब्दों के लिए उपयुक्त अभिव्यक्तियाँ खोजनी पड़ीं जिनका चीनी बौद्धिक संसार में सीधा समतुल्य उपलब्ध नहीं था।

आधुनिक शोध भी इस बात पर बल देता है कि बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद को केवल भाषायी रूपांतरण की प्रक्रिया नहीं बल्कि सांस्कृतिक अनुकूलन और बौद्धिक पुनर्निर्माण के रूप में देखना चाहिए।इस प्रक्रिया का महत्व इसलिए भी है क्योंकि

बौद्ध ज्ञान के प्रसार के साथ भारतीय दार्शनिक शब्दावली ने नए भाषायी परिवेशों में नए अर्थ ग्रहण किए। कुछ अवधारणाएँ स्थानीय दार्शनिक शब्दावली से जुड़ीं, कुछ के लिए नए शब्द बनाए गए और कुछ को लिप्यंतरण के माध्यम से संरक्षित रखा गया। इससे एक निष्कर्ष यह भी निकलता है की अनुवाद ज्ञान के प्रसार का माध्यम होने के साथ-साथ नए ज्ञान-समाज के निर्माण की प्रक्रिया भी है।

भारतीय गणित और खगोलशास्त्र के इतिहास में संस्कृत से अरबी में हुए अनुवाद विशेष महत्व रखते हैं। आठवीं शताब्दी के आसपास भारतीय खगोलीय ग्रंथों का अरबी जगत में प्रवेश हुआ। ब्रह्मगुप्त के 'ब्रह्मस्फुटसिद्धांत' का अरबी रूपांतरण इस प्रक्रिया का प्रमुख उदाहरण माना जाता है।एक शोध में यह उल्लेख मिलता है कि अब्बासी काल में ब्रह्मगुप्त के ग्रंथ का अरबी में अनुवाद हुआ और वह 'ज़िज अस-सिंधिंद' नाम से जाना गया। बाद में अल-बरूनी ने भारतीय खगोलशास्त्र का अध्ययन करते हुए संस्कृत स्रोतों से प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित किया।यहाँ अनुवाद की भूमिका को केवल 'एक ग्रंथ दूसरी भाषा में पहुँच गया' कहकर समझना पर्याप्त नहीं होगा। भारतीय खगोलीय गणनाओं को अरबी भाषा में प्रस्तुत किए जाने के बाद वे ऐसी बौद्धिकी का हिस्सा बनीं जिसमें यूनानी, फारसी और भारतीय वैज्ञानिक परंपराओं के बीच संवाद संभव हुआ। इसका प्रभाव शब्दावली के स्तर पर भी दिखाई देता है। भारतीय 'ज्या' जैसी गणितीय संकल्पनाओं की भाषायी यात्रा आगे चलकर अरबी और लैटिन के माध्यम से यूरोपीय गणितीय शब्दावली तक पहुँची। आधुनिक 'पदम' शब्द के इतिहास को भारतीय 'ज्या' से जुड़े भाषायी रूपांतरणों के संदर्भ में समझाया गया है।इस उदाहरण से यह समझना संभव है कि अनुवाद कभी-कभी किसी ज्ञान को केवल संरक्षित नहीं करता, बल्कि उसकी भौगोलिक पहुँच और बौद्धिक प्रभाव की सीमा का विस्तार कर देता है।

भारतीय ज्ञान प्रणाली और इस्लामी बौद्धिक संसार के बीच संवाद के अध्ययन में अल-बरूनी का स्थान महत्वपूर्ण है। अल-बरूनी ने भारतीय समाज, दर्शन, विज्ञान और भाषाओं का अध्ययन किया और संस्कृत स्रोतों के साथ गंभीर बौद्धिक संपर्क स्थापित किया। उनकी पुस्तक 'किताब अल-हिंद' केवल भारत के बारे में बाहरी पर्यवेक्षक की रिपोर्ट नहीं है। इसमें भारतीय धार्मिक, दार्शनिक, गणितीय और खगोलीय विचारों को समझने का व्यवस्थित प्रयास दिखाई देता है। आधुनिक संपादित और अनूदित शोधों में उनके ग्रंथ के उन अध्यायों पर विशेष ध्यान दिया गया है जहाँ भारतीय गणित और खगोलशास्त्र संबंधी साहित्य का विवरण मिलता है। अल-बरूनी के उदाहरण से सांस्कृतिक मध्यस्थता की एक महत्वपूर्ण समस्या सामने आती है। यदि किसी संस्कृति को दूसरी संस्कृति के पाठकों के सामने प्रस्तुत करना हो तो केवल अनुवाद पर्याप्त नहीं होता अपितु तुलना और व्याख्या भी आवश्यक हो जाती है। यही कारण है कि अल-बरूनी भारतीय विचारों को समझाते हुए कभी-कभी उनकी तुलना यूनानी अथवा इस्लामी बौद्धिक परंपराओं से करते हैं। इस प्रकार वे स्वयं एक प्रकार से सांस्कृतिक व्याख्याकार और मध्यस्थ बन जाते हैं। यहाँ अनुवादक की भूमिका एक 'भाषा जानने वाले व्यक्ति' से आगे निकल जाती है। उसे दोनों ज्ञान परंपराओं के भीतर की अवधारणाओं को समझना आवश्यक हो जाता है। इस अर्थ में भारतीय ज्ञान प्रणाली के इतिहास में अनुवाद और व्याख्या को अलग-अलग प्रक्रियाएँ मानना हमेशा उचित नहीं है।

भारतीय ज्ञान प्रणाली के अंतर-सांस्कृतिक इतिहास में 'पंचतंत्र' एक अत्यंत उपयोगी उदाहरण है। इसका इतिहास संस्कृत से फारसी, अरबी और उसके बाद विभिन्न यूरोपीय भाषाओं तक पहुँचने वाली लंबी यात्रा से जुड़ा है। 'कलीला वा दिम्ना' की परंपरा के अध्ययन से पता चलता है कि इसका अरबी रूप एक खोए हुए फारसी रूप से जुड़ा था और इसके पीछे भारतीय पंचतंत्र की परंपरा थी। बाद में इसके अनेक फारसी रूप सामने आए।

इस यात्रा में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि हर अनुवाद मूल पाठ की हूबहू पुनरावृत्ति नहीं था। अलग-अलग भाषाओं और दरबारी वातावरणों में पाठ की शैली, कथा-विन्यास और भाषिक प्रस्तुति बदलती रही। यही कारण है कि पंचतंत्र का इतिहास यह समझने में सहायता करता है कि अनुवाद का अर्थ हमेशा 'मूल के प्रति शब्दशः निष्ठा' नहीं होता है। कई ऐतिहासिक संदर्भों में अनुवादक पाठ को अपने पाठकों की अपेक्षाओं और साहित्यिक परंपरा के अनुरूप पुनर्गठित करता है।

मुगल काल भारतीय अनुवाद इतिहास का विशेष रूप से महत्वपूर्ण चरण है। अकबर के शासनकाल में संस्कृत विद्वानों और फारसी विद्वानों के बीच संवाद को संस्थागत संरक्षण मिला। 'ऑड्री ट्रश्की' के अध्ययन के अनुसार मुगल दरबार में संस्कृत

और फारसी परंपराओं के बीच जो संपर्क विकसित हुआ, वह केवल ग्रंथ-अनुवाद तक सीमित नहीं था; इससे राजसत्ता, संस्कृति और बौद्धिकता के संबंधों का एक नया रूप विकसित हुआ। यहाँ अनुवाद का एक राजनीतिक पक्ष भी दिखाई देता है। जब किसी राजकीय सत्ता के संरक्षण में किसी दूसरी सांस्कृतिक परंपरा के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अनुवाद कराया जाता है तो उस कार्य के पीछे केवल साहित्यिक जिज्ञासा नहीं होती। वह सत्ता के सांस्कृतिक आत्म-प्रतिनिधित्व का भी हिस्सा हो सकता है।अकबर की बहुलतावादी नीतियों और विभिन्न धार्मिक तथा बौद्धिक समुदायों से संवाद की पृष्ठभूमि में संस्कृत ग्रंथों का फारसी रूपांतरण इसी व्यापक संदर्भ में समझा जा सकता है।

महाभारत का फारसी अनुवाद रज़्मनामा भारतीय अनुवाद इतिहास का सबसे चर्चित उदाहरणों में से एक है।मुगल दरबार के अनुवादों का अध्ययन करते समय यह सावधानी आवश्यक है कि उन्हें आधुनिक अर्थ में 'धर्मनिरपेक्ष सांस्कृतिक संवाद' के उदाहरण के रूप में सीधे प्रस्तुत न कर दिया जाए। ऐतिहासिक संदर्भ अधिक जटिल था।दरबारी अनुवादों में ज्ञान, साहित्य, धर्म, राजनीति और राजकीय वैधता परस्पर जुड़े हुए थे। किसी संस्कृत ग्रंथ को फारसी में लाना एक ओर भारतीय बौद्धिक परंपरा को फारसी अभिजात वर्ग तक पहुँचाने का साधन था, तो दूसरी ओर यह मुगल सत्ता के लिए भारतीय सांस्कृतिक संसार के साथ संबंध स्थापित करने का माध्यम भी था।यहीं अनुवाद की दोहरी भूमिका दिखाई देती है। वह संपर्क भी बनाता है और सत्ता-संबंधों से भी प्रभावित होता है।इस तथ्य को स्वीकार करना अनुवाद के इतिहास को अधिक गंभीर बनाता है। अनुवाद को केवल सद्भाव और सांस्कृतिक एकता का प्रतीक मानने के बजाय हमें यह भी पूछना चाहिए कि किसके पास अनुवाद कराने की शक्ति थी, कौन-सी भाषा को लक्ष्य भाषा बनाया गया और किस पाठ को महत्वपूर्ण माना गया।

संस्कृत-फारसी बौद्धिक संवाद का एक और महत्वपूर्ण चरण दारा शिकोह से जुड़ा है। दारा शिकोह ने उपनिषदों के एक समूह का फारसी में अनुवाद कराया, जिसका परिणाम 'सिर्र-ए-अकबर' के रूप में सामने आया। ब्रिटिश लाइब्रेरी के पांडुलिपि अभिलेख में 'सिर्र-ए-अकबर' को पचास उपनिषदों के फारसी अनुवाद के रूप में दर्ज किया गया है।दारा शिकोह की परियोजना का महत्व केवल इस बात में नहीं है कि उपनिषदों का फारसी रूप उपलब्ध हुआ। महत्वपूर्ण यह है कि इस प्रक्रिया में भारतीय दार्शनिक अवधारणाएँ फारसी और सूफी बौद्धिक संसार के सामने प्रस्तुत हुईं।यहाँ अनुवाद का सांस्कृतिक मध्यस्थ रूप बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। उपनिषदों की अवधारणाओं को फारसी भाषा में व्यक्त करते समय अनुवादकों को ऐसे शब्दों और अवधारणाओं का चुनाव करना पड़ा होगा जिनके माध्यम से पाठक भारतीय दार्शनिक विचारों को समझ सके।इस तरह अनुवाद दो परंपराओं के बीच केवल भाषिक संपर्क नहीं बनाता, बल्कि तुलनात्मक अध्ययन की संभावनाएँ भी पैदा करता है।

भारतीय ज्ञान प्रणाली को केवल संस्कृत और फारसी के बीच हुए अनुवादों के आधार पर समझना अधूरा होगा। भारतीय इतिहास में ज्ञान का क्षेत्रीय भाषाओं में प्रवेश भी अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है।जब किसी ज्ञान-परंपरा का साहित्य लोकभाषा में उपलब्ध होता है तो उसके संभावित पाठक बढ़ जाते हैं। यह प्रक्रिया ज्ञान के लोकतंत्रीकरण से जुड़ती है। हालाँकि 'लोकतंत्रीकरण' शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक संदर्भों में सावधानी से करना चाहिए, क्योंकि पूर्व-आधुनिक समाज आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों के समान नहीं थे। फिर भी भाषा के विस्तार से ज्ञान का नए सामाजिक समूहों तक पहुँचने की संभावना अवश्य बढ़ती है।भक्ति साहित्य इसका एक व्यापक उदाहरण प्रस्तुत करता है। विभिन्न संतों और कवियों ने धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों को क्षेत्रीय भाषाओं में व्यक्त किया। यह हमेशा शास्त्रीय ग्रंथों का प्रत्यक्ष अनुवाद नहीं था, लेकिन कई बार यह एक प्रकार का अर्थानुवाद और सांस्कृतिक पुनर्सृजन जरूर था।इससे यह समझने में सहायता मिलती है कि अनुवाद की अवधारणा को केवल शाब्दिक भाषांतरण तक सीमित करना भारतीय संदर्भ में उचित नहीं है। कथ्य का पुनर्विन्यास, व्याख्या और स्थानीय सांस्कृतिक प्रतीकों के माध्यम से किसी विचार को पुनःप्रस्तुत करना भी व्यापक अर्थ में अनुवाद की प्रक्रिया हो सकती है।

भारतीय गणितीय परंपरा के अध्ययन में आधुनिक अनुवादों का विशेष महत्व रहा है। केरल गणितीय परंपरा का 'युक्तिभाषा' इसका उल्लेखनीय उदाहरण है। यह ग्रंथ मलयालम में रचा गया और बाद में संस्कृत तथा अंग्रेज़ी सहित अन्य

भाषाओं में अध्ययन का विषय बना। आधुनिक संस्करणों में मूल मलयालम पाठ, अंग्रेज़ी अनुवाद और विस्तृत टिप्पणियाँ सम्मिलित की गई हैं। इस उदाहरण से एक दिलचस्प बात सामने आती है। यहाँ 'मूल' स्वयं संस्कृत नहीं बल्कि मलयालम में उपलब्ध पाठ है। इससे भारतीय ज्ञान प्रणाली के बारे में उस धारणा को चुनौती मिलती है कि शास्त्रीय ज्ञान का अर्थ हमेशा संस्कृत ज्ञान होता है। अनुवाद ने इस स्थानीय ज्ञान को वैश्विक वैज्ञानिक विमर्श में प्रवेश कराया। इसी प्रकार आधुनिक शोध ने संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक ग्रंथों को संपादित और अनूदित करके उनके गणितीय तर्क, प्रमाण और खगोलीय गणनाओं को नए पाठकों तक पहुँचाया है। इस प्रक्रिया का महत्व इसलिए भी है कि इतिहास, विज्ञान आदि के पुराने यूरोकेन्द्रित आख्यानों को चुनौती देने के लिए केवल नए दावे पर्याप्त नहीं हैं बल्कि मूल स्रोतों का भाषिक अध्ययन और विश्वसनीय अनुवाद भी आवश्यक है।

औपनिवेशिक काल में अनुवाद की भूमिका और अधिक जटिल हो गई। यूरोपीय विद्वानों ने संस्कृत, फारसी और अन्य भारतीय भाषाओं के ग्रंथों का अध्ययन और अनुवाद किया। इससे भारतीय ग्रंथ पश्चिमी अकादमिक जगत में पहुँचे, लेकिन इसके साथ ज्ञान की व्याख्या के नए औपनिवेशिक ढाँचे भी विकसित हुए। औपनिवेशिक अनुवादों के कारण अनेक भारतीय ग्रंथ पहली बार यूरोपीय पाठकों के सामने आए। लेकिन यह प्रक्रिया तटस्थ नहीं थी। अनुवादक अपनी बौद्धिक पृष्ठभूमि, धर्म, औपनिवेशिक प्रशासनिक आवश्यकताओं और यूरोपीय ज्ञान-वर्गीकरण की परंपराओं से प्रभावित थे। इस कारण भारतीय ज्ञान को 'रिलीज़न', 'फिलोसॉफी', 'माइथोलॉजी', 'लॉ' और 'कस्टम' जैसी पश्चिमी श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया। कई बार इससे भारतीय ज्ञान प्रणाली के आंतरिक संबंधों की जगह पश्चिमी वर्गीकरण अधिक प्रभावशाली हो गया। इसलिए औपनिवेशिक अनुवादों का मूल्यांकन करते समय दो बातें साथ-साथ देखनी चाहिए। पहली, उन्होंने भारतीय ग्रंथों को वैश्विक अकादमिक संसार में पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। दूसरी, उन्होंने उन ग्रंथों की व्याख्या के लिए औपनिवेशिक ज्ञान-श्रेणियों का भी उपयोग किया।अनुवाद इस प्रकार ज्ञान को खोलता भी है और कभी-कभी उसे नए ढाँचे में बाँध भी देता है।

भारतीय ज्ञान प्रणाली के आधुनिक अध्ययन में अनुवाद ने दो विपरीत कार्य किए हैं। एक ओर इसने भारतीय ग्रंथों को वैश्विक अकादमिक समुदाय तक पहुँचाया, दूसरी ओर अनुवादों की सीमाओं के कारण कभी-कभी भारतीय अवधारणाओं को पश्चिमी अवधारणाओं में अत्यधिक सरल बना दिया गया।इसलिए भारतीय ज्ञान की वैश्विक पुनर्स्थापना के लिए केवल अनुवाद पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता ऐसे अनुवादों की है जो मूल पाठ की ऐतिहासिक स्थिति स्पष्ट करें,संदर्भ और अवधारणाओं की व्याख्या करें,अनुवादक के हस्तक्षेप को पारदशी रखें, वैकल्पिक अर्थों की संभावना को स्वीकार करें और जहाँ आवश्यक हो वहाँ मूल शब्दों को सुरक्षित रखें।

बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि एक ही ग्रंथ का बार-बार अनुवाद हुआ है लेकिन ऐसा होना इस बात का संकेत नहीं है कि पहले के अनुवाद असफल थे। कई बार समय के साथ भाषा, पाठक और ज्ञान की अवधारणाएँ बदल जाती हैं। इसलिए नया अनुवाद आवश्यक हो जाता है।पंचतंत्र की फारसी परंपरा में बार-बार हुए रूपांतरण इस तथ्य का ऐतिहासिक उदाहरण हैं। हाल के शोध ने विशेष रूप से यह दिखाया है कि पुनः अनुवाद के दौरान 'मूल के प्रति निष्ठा' और 'लक्ष्य साहित्य की परंपरा' के बीच तनाव सामने आता है। इसी तरह आज संस्कृत ग्रंथों के अंग्रेज़ी और अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद इसलिए हो रहे हैं क्योंकि पुराने अनुवादों की भाषा, पद्धति और व्याख्यात्मक धारणाएँ बदल चुकी हैं।अतः अनुवाद समाप्त हो जाने वाला कार्य नहीं बल्कि निरंतर चलने वाली बौद्धिक प्रक्रिया है।

डिजिटल तकनीक ने भारतीय ज्ञान प्रणाली के अनुवाद के लिए नई संभावनाएँ पैदा की हैं। अब हजारों पांडुलिपियों का डिजिटलाइजेशन, सर्चऐबल टेक्स्ट कॉर्पोरा और मल्टीलिंगुअल डाटाबेस बनाए जा सकते हैं। संस्कृत से अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं में स्वचालित अनुवाद के लिए कम्प्यूटेशनल अप्रोचेस पर भी शोध हो रहा है। उदाहरणार्थ 'Itihasa' नामक एक बड़े कॉरपस में रामायण और महाभारत से संस्कृत श्लोकों और उनके अंग्रेज़ी अनुवादों के लगभग 93,000 जोड़े तैयार किए गए हैं। इस प्रकार के कॉरपस से मशीनी अनुवाद प्रणालियों के प्रशिक्षण और मूल्यांकन में सहायता मिलती है। लेकिन इसमें एक

महत्वपूर्ण बात उभर कर सामने आती है कि संस्कृत जैसी उच्च-संदर्भित भाषा के अनुवाद में मशीन प्रणालियाँ अभी भी सांस्कृतिक और दार्शनिक जटिलताओं से जूझती हैं। एक अध्ययन में भगवद्गीता के संस्कृत-अंग्रेज़ी मशीन अनुवाद का विश्लेषण करते हुए पाया गया कि काव्यात्मकता, संदर्भ, दार्शनिक अर्थ और रूपक जैसे तत्वों के कारण स्वचालित अनुवाद में कठिनाइयाँ आ रही हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भविष्य का अनुवाद तकनीक और मानवीय व्याख्या के सहयोग से अधिक प्रभावी हो सकता है।

आज भारतीय भाषाओं में उच्च शिक्षा और ज्ञान की उपलब्धता को लेकर फिर से चर्चा तेज हुई है। 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020' में भारतीय भाषाओं के उपयोग और ज्ञान की व्यापक पहुँच पर बल दिया गया है। इस दिशा में 'नैशनल ट्रांसलेशन मिशन' द्वारा नीति-संबंधी सामग्री को 22 भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराना एक ठोस उदाहरण है। यहाँ अनुवाद का महत्व केवल भाषा-नीति तक सीमित नहीं है। यदि इंजीनियरिंग, चिकित्सा, कानून, सामाजिक विज्ञान, दर्शन और प्राकृतिक विज्ञान की उच्च गुणवत्ता वाली सामग्री भारतीय भाषाओं में उपलब्ध होती है तो इससे उच्च शिक्षा के अधिक व्यापक भाषायी आधार की संभावना पैदा होगी। हालाँकि केवल अनुवाद कर देना पर्याप्त नहीं होगा। अनुवाद की गुणवत्ता, पारिभाषिक शब्दावली, शिक्षक प्रशिक्षण, पाठ्यपुस्तकों की उपलब्धता और शोध-संसाधनों का विकास भी समान रूप से आवश्यक है।

भारतीय ज्ञान-प्रणाली के अनुवाद में कुछ प्रमुख चुनौतियाँ हैं। दो भाषाओं में शब्दों की संख्या समान हो सकती है, लेकिन उनके पीछे की अवधारणाएँ समान नहीं होतीं। एक संस्कृति में सामान्य मानी जाने वाली सामाजिक या धार्मिक अवधारणा दूसरी संस्कृति के पाठक के लिए अपरिचित हो सकती है। प्राचीन ग्रंथों की भाषा और आधुनिक भाषा के बीच समय का अंतर अर्थ-निर्माण को जटिल बनाता है। कई पुराने ग्रंथों के अलग-अलग संस्करण उपलब्ध हैं। अनुवादक को यह तय करना पड़ता है कि किस संस्करण को आधार बनाया जाए।अनुवादक अपने समय की वैचारिक धारणाओं से पूरी तरह मुक्त नहीं होता। आधुनिक प्रकाशन व्यवस्था में अनुवादक को पाठक की अपेक्षा और पुस्तक की पठनीयता का भी ध्यान रखना पड़ता है। इन सभी कारणों से अनुवाद एक अत्यंत जिम्मेदारीपूर्ण बौद्धिक कार्य बन जाता है।

अब तक के विश्लेषण के आधार पर भारतीय ज्ञान-प्रणाली के विकास में अनुवाद की तीन केंद्रीय भूमिकाएँ स्पष्ट होती हैं। पहली भूमिका के रूप में अनुवाद ने ऐसे ग्रंथों और विचारों को नए भाषायी संसारों में सुरक्षित रखा जो अन्यथा सीमित पाठक-समुदाय तक रह सकते थे। दूसरी भूमिका के रूप में अनुवाद ने ज्ञान को नए क्षेत्रों, भाषाओं और समुदायों तक पहुँचाया। भारतीय गणित और खगोलशास्त्र के अरबी संसार में प्रवेश का इतिहास इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है। तीसरी भूमिका के रूप में अनुवाद ने ज्ञान को नए सांस्कृतिक संदर्भों में पुनर्गठित किया। रज़्मनामा और सिर्र-ए-अकबर जैसी परियोजनाएँ इसका उदाहरण हैं। इन तीनों भूमिकाओं को मिलाकर देखें तो अनुवाद भारतीय ज्ञान प्रणाली के सतत प्रवाह को बरक़रार रखते हुए ज्ञान-निर्माण की प्रक्रिया का माध्यम भी बना है।

भविष्य में भारतीय ज्ञान प्रणाली के अध्ययन के लिए अनुवाद को और अधिक केंद्रीय स्थान देना आवश्यक होगा। इसके लिए केवल प्राचीन ग्रंथों का अंग्रेज़ी में अनुवाद करना पर्याप्त नहीं है। भारतीय भाषाओं के बीच भी द्विदिश और बहुदिशीय अनुवाद की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ संस्कृत से हिंदी, हिंदी से तमिल, तमिल से कन्नड़, मलयालम से अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी से भारतीय भाषाओं में ज्ञान का निरंतर प्रवाह होना चाहिए।इसी प्रकार भारतीय ज्ञान के आधुनिक अध्ययन में केवल धार्मिक ग्रंथों पर ध्यान न देकर गणित, खगोलशास्त्र, चिकित्सा, कृषि, पर्यावरण, धातुकर्म, जल-प्रबंधन, वास्तु, भाषा-विज्ञान, तर्क और शिक्षा-पद्धतियों से जुड़े स्रोतों का भी अनुवाद किया जाना चाहिए।यहाँ एक और बात आवश्यक है। भारतीय ज्ञान-प्रणाली के पुनरुत्थान का अर्थ अतीत की प्रत्येक धारणा को आधुनिक विज्ञान के बराबर सिद्ध करना नहीं होना चाहिए। ऐतिहासिक ज्ञान को उसके अपने संदर्भ में समझना और जहाँ उचित हो वहाँ आधुनिक ज्ञान के साथ आलोचनात्मक संवाद स्थापित करना अधिक अकादमिक दृष्टिकोण होगा।अनुवाद इस संवाद को संभव बनाने का सबसे महत्वपूर्ण साधन बन सकता है।

निष्कर्ष

इस आलेख से निकलने वाला केंद्रीय निष्कर्ष यह है कि अनुवाद भारतीय ज्ञान प्रणाली का बाहरी उपकरण भर नहीं है बल्कि उसके ऐतिहासिक विकास की अंतर्निहित प्रक्रिया भी है। भारतीय ज्ञान जब संस्कृत से पालि, प्राकृत, क्षेत्रीय भाषाओं, अरबी, फारसी और आधुनिक भाषाओं में गया, तब उसने केवल अपना भाषिक रूप नहीं बदला; उसके पाठक, संदर्भ, व्याख्या और कभी-कभी उसका बौद्धिक प्रयोजन भी बदला। यही कारण है कि भारतीय ज्ञान-इतिहास को समझने के लिए ग्रंथों के मूल रूप के साथ उनकी अनुवाद की ऐतिहासिकता का अध्ययन भी आवश्यक है।भारतीय ज्ञान-प्रणाली के विकास का इतिहास यदि केवल मूल ग्रंथों और महान विद्वानों की सूची के रूप में पढ़ा जाए तो उसके एक अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा हो जाती है। यह पक्ष है ज्ञान की यात्रा। किसी विचार का जन्म जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही महत्वपूर्ण यह भी है कि वह विचार कहाँ-कहाँ पहुँचा, किन भाषाओं में व्यक्त हुआ, किन लोगों ने उसे पढ़ा और नए संदर्भों में उसका अर्थ किस प्रकार बदला। इस दृष्टि से अनुवाद भारतीय ज्ञान प्रणाली की गतिशीलता को समझने की कुंजी है।

अनुवादक इस पूरी प्रक्रिया में केवल भाषा बदलने वाला व्यक्ति नहीं है। वह सांस्कृतिक मध्यस्थ भी है। यही कारण है कि भारतीय ज्ञान-प्रणाली के संदर्भ में अनुवाद को तीन स्तरों पर समझना आवश्यक है- संरक्षण, संचरण और पुनर्निर्माण। संरक्षण इसलिए कि अनुवाद किसी ज्ञान को नए भाषायी संसार में जीवित रख सकता है। संचरण इसलिए कि वह ज्ञान को भौगोलिक और सामाजिक सीमाओं से बाहर ले जा सकता है। और पुनर्निर्माण इसलिए कि नई भाषा में प्रवेश करते समय ज्ञान नए प्रश्नों, नई शब्दावली और नए पाठकीय अनुभवों से जुड़ता है।अंततः यह कहा जा सकता है कि भारतीय ज्ञान-प्रणाली की शक्ति केवल इस बात में नहीं रही कि उसने कितने ज्ञान-ग्रंथ उत्पन्न किए, बल्कि इस बात में भी रही कि उन ज्ञान-परंपराओं ने समय और भाषा की सीमाओं को पार करते हुए स्वयं को कितनी बार पुनःव्यक्त किया। अनुवाद इसी पुनःव्यक्तिकारण की प्रक्रिया का एक प्रमुख माध्यम रहा है। इसलिए भारतीय ज्ञान प्रणाली के इतिहास में अनुवाद को परिधि पर रखकर नहीं, बल्कि उसके ज्ञानात्मक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विकास के केंद्रीय घटक के रूप में समझना अधिक उचित होगा।

संदर्भ-सूची

1. Al-Biruni, Abu Rayhan. Kitab tahqiq ma li-l-Hind min maqula maqbula fi al-aql aw mardhula. 11th century. विभिन्न आधुनिक संस्करण एवं अनुवाद।
2. Dara Shikuh. Sirr-i Akbar. Persian translation of the Upanishads. British Library, Add. MS 18404. पांडुलिपि विवरण में इसे पचास उपनिषदों के फारसी अनुवाद के रूप में दर्ज किया गया है।
3. Razmnamah. Persian translation of the Mahabharata, produced under Mughal patronage during the reign of Akbar.
4. Pañcatantra. Sanskrit textual tradition; its subsequent transmission through Middle Persian, Arabic and Persian versions is documented in the scholarly history of Kalila wa Dimna.
5. Nair, Shankar. Translating Wisdom: Hindu-Muslim Intellectual Interactions in Early Modern South Asia. Oakland: University of California Press, 2020.
6. Truschke, Audrey. Culture of Encounters: Sanskrit at the Mughal Court. New York: Columbia University Press, 2016.
7. Truschke, Audrey. "The Mughal Book of War: A Persian Translation of the Sanskrit Mahabharata." Comparative Studies of South Asia, Africa and the Middle East 31, no. 2 (2011): 506-520. DOI: 10.1215/1089201X-1264388.

8. Kotler, Ayelet. "Retranslation in Mughal South Asia: The Impressive Failure of a Persian Panchatantra." Iranian Studies 57, no. 3 (2024): 377-398. DOI: 10.1017/irn.2024.25.
9. Riedel, Dagmar. "Kalila wa Demna i. Redactions and Circulation." Encyclopaedia Iranica, 2010. Updated 2015.
10. Khan, M. S. "An Examination of Al-Biruni's Knowledge of Indian Astronomy." International Astronomical Union Colloquium 91 (2016): 139-144. DOI: 10.1017/S0252921100105962.
11. Verdon, Noémie, and Michio Yano. "Al-Biruni's India, Chapter 14: An Account of Indian Astronomical, Mathematical and Other Literature." History of Science in South Asia 8 (2020): 57-76. DOI: 10.18732/hssa.v8i.54.
12. Collett, Alice, ed. Translating Buddhism: Historical and Contextual Perspectives. Albany: State University of New York Press, 2021.
13. Sharma, Rashmi. "Mahabharata of the Mughals: Power, Translation and Sovereignty in Akbar's Razmnama." Smart Moves Journal IJELLH 14, no. 6 (2026). DOI: 10.24113/smji.v14i6.11805.
14. Aralikatte, Rahul, Miryam de Lhoneux, Anoop Kunchukuttan, and Anders Søgaard. "Itihasa: A Large-scale Corpus for Sanskrit to English Translation." arXiv, 2021.
15. Shukla, Akshat, Chaarvi Bansal, Sushrut Badhe, Mukul Ranjan, and Rohitash Chandra. "An Evaluation of Google Translate for Sanskrit to English Translation via Sentiment and Semantic Analysis." arXiv, 2023.
16. Ministry of Education, Government of India. Guidelines for Translation of Books into Indian Languages. New Delhi, 2023.
17. National Translation Mission, Central Institute of Indian Languages. National Education Policy 2020: Translations into Indian Languages. National Translation Mission, Ministry of Education, Government of India.
18. University Grants Commission. Guidelines for Training/Orientation of Faculty on Indian Knowledge Systems. University Grants Commission, Government of India.
19. Indira Gandhi National Centre for the Arts. Project Mausam. Ministry of Culture, Government of India.

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

दलित साहित्य की वैचारिक दशा एवं दिशा

प्रिंस गुप्ता
पी.एच.डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
ई.मेल - prince-gupta-rewa-mp@gmail.com
डॉ. संतोष कुमार
शोध-निर्देशक
शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

सारांश

दलित साहित्य भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत असमानता, सामाजिक बहिष्कार और ऐतिहासिक शोषण के विरुद्ध विकसित एक सशक्त वैचारिक एवं साहित्यिक आंदोलन है। दलित साहित्य का मूल आधार 'भोगा हुआ यथार्थ' है, जिसके माध्यम से दलित समाज स्वयं अपने अनुभवों, संघर्षों, अस्मिता और प्रतिरोध को अभिव्यक्त करता है। इस साहित्य की वैचारिक प्रेरणा मुख्यतः गौतम बुद्ध, महात्मा ज्योतिबा फुले, डॉ. भीमराव आंबेडकर तथा आधुनिक दलित चिंतकों के समतामूलक और मानवतावादी विचारों से प्राप्त होती है। प्रस्तुत शोध-पत्र में दलित साहित्य की अवधारणा, उसका स्वरूप, वैचारिक दशा एवं दिशा का समग्र और आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है। इस शोध-पत्र में अस्मिता-बोध, आत्मसम्मान, प्रतिरोध, सामाजिक न्याय, संवैधानिक चेतना, शिक्षा, दलित स्त्री-विमर्श तथा इतिहास के पुनर्पाठ जैसे प्रमुख वैचारिक आयामों का विवेचन किया गया है। साथ ही समकालीन परिप्रेक्ष्य में दलित साहित्य के समक्ष उपस्थित चुनौतियों एवं संभावनाओं का भी विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत शोध-पत्र यह प्रतिपादित करता है कि दलित साहित्य आज केवल एक साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक मूल्यों, सामाजिक समावेशन और मानवाधिकारों की स्थापना का सशक्त वैचारिक माध्यम बन चुका है। भविष्य में वैश्वीकरण, डिजिटल अभिव्यक्ति तथा नए सामाजिक विमर्शों के साथ इसका स्वरूप और अधिक व्यापक, प्रासंगिक तथा प्रभावशाली होने की संभावना है। अतः दलित साहित्य का अध्ययन समकालीन भारतीय समाज, हिंदी साहित्य और लोकतांत्रिक चेतना की गहन समझ के लिए अत्यंत आवश्यक एवं अपरिहार्य है।

बीज शब्द : दलित साहित्य, अस्मिता, सामाजिक न्याय, भोगा हुआ यथार्थ, प्रतिरोध, दलित विमर्श, लोकतांत्रिक मूल्य।

शोध-पत्र

भारतीय समाज का इतिहास जितना समृद्ध और बहुआयामी है, उतना ही वह सामाजिक असमानताओं, जातिगत विभाजन और वंचना के अनुभवों से भी निर्मित हुआ है। सदियों तक वर्ण-व्यवस्था और जाति-आधारित सामाजिक संरचना ने समाज के एक बड़े वर्ग को शिक्षा, संपत्ति, धार्मिक अधिकारों, सांस्कृतिक सहभागिता तथा मानवीय गरिमा से वंचित रखा। इस ऐतिहासिक शोषण और बहिष्कार ने जिस पीड़ा, संघर्ष और प्रतिरोध को जन्म दिया, वही आगे चलकर दलित चेतना और दलित साहित्य के रूप में अभिव्यक्त हुआ। इसलिए दलित साहित्य को केवल एक साहित्यिक धारा के रूप में नहीं, बल्कि

भारतीय समाज में समानता, न्याय और मानवीय गरिमा की स्थापना के लिए चलाए गए वैचारिक एवं सामाजिक आंदोलन के रूप में देखा जाना चाहिए। दलित साहित्य उस मौन इतिहास को वाणी देता है जिसे मुख्यधारा के साहित्य और इतिहास-लेखन में लंबे समय तक उपेक्षित रखा गया। यह साहित्य केवल दलित समुदाय की पीड़ा का आख्यान नहीं है, बल्कि मनुष्य की स्वतंत्रता, आत्मसम्मान, सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों की पुनर्स्थापना का सशक्त सांस्कृतिक दस्तावेज़ है। इसमें शोषण, अस्पृश्यता, जातिगत भेदभाव और सामाजिक विषमता का यथार्थ चित्रण तो है ही, साथ ही परिवर्तन की आकांक्षा, प्रतिरोध की चेतना और नए समाज के निर्माण का स्वप्न भी निहित है। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं– ''दलित साहित्य नकार का साहित्य नहीं, बल्कि मनुष्य होने की घोषणा है।'' यही कारण है कि दलित साहित्य की वैचारिक दशा और दिशा का अध्ययन समकालीन हिंदी साहित्य, भारतीय समाज और लोकतांत्रिक चिंतन को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक और प्रासंगिक है।

दलित साहित्य : अवधारणा एवं स्वरूप

'दलित' का शाब्दिक अर्थ है– दबाया हुआ, कुचला हुआ, उत्पीड़ित, शोषित अथवा वंचित। आधुनिक सामाजिक और साहित्यिक संदर्भ में यह शब्द उन समुदायों के लिए प्रयुक्त होता है, जिन्हें भारतीय वर्ण-व्यवस्था और जाति-आधारित सामाजिक संरचना ने सदियों तक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा। किंतु आज 'दलित' केवल एक सामाजिक पहचान नहीं, बल्कि अन्याय के विरुद्ध संघर्ष, आत्मसम्मान, समानता और सामाजिक परिवर्तन का प्रतीक बन चुका है। दलित साहित्य इसी ऐतिहासिक पीड़ा, संघर्ष और प्रतिरोध की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। यह उन अनुभवों का साहित्य है जिन्हें मुख्यधारा के साहित्य में लंबे समय तक उपेक्षित या विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया। इसलिए दलित साहित्य का मूल आधार 'भोगा हुआ यथार्थ' है। इसमें कल्पना की अपेक्षा जीवन-सत्य, सामाजिक यथार्थ और अनुभव की प्रामाणिकता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यही कारण है कि दलित साहित्य केवल सौंदर्यबोध या कलात्मक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रहता, बल्कि सामाजिक चेतना, वैचारिक प्रतिरोध और परिवर्तन का सशक्त माध्यम बन जाता है। शरणकुमार लिंबाले ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में लिखते हैं– ''दलित साहित्य मनुष्य की स्वतंत्रता का साहित्य है।" यह कथन स्पष्ट करता है कि दलित साहित्य किसी जाति-विशेष का साहित्य नहीं, बल्कि समस्त मानवता की गरिमा, समानता और स्वतंत्रता का साहित्य है। इसी प्रकार कंवल भारती के अनुसार– ष्दलित साहित्य वह साहित्य है जिसमें दलितों ने स्वयं अपने जीवन-संघर्ष, अनुभवों और सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त किया है।" इस दृष्टि से दलित साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता अनुभव की प्रामाणिकता है। इसमें दलित समाज स्वयं अपनी पीड़ा, संघर्ष, स्वप्न और आकांक्षाओं का कथाकार बनता है। इसलिए इसकी भाषा भी कृत्रिम न होकर सहज, आक्रोशपूर्ण, संवेदनात्मक और यथार्थपरक होती है। स्वरूप की दृष्टि से दलित साहित्य अत्यंत व्यापक है। यह केवल कविता या आत्मकथा तक सीमित नहीं है, बल्कि कहानी, उपन्यास, नाटक, संस्मरण, आलोचना, यात्रा-वृत्तांत, जीवनी तथा शोध-साहित्य जैसी विविध विधाओं में समान रूप से विकसित हुआ है। हिंदी में जूठन, मुर्दहिया, अपने-अपने पिंजरे और दोहरा अभिशाप जैसी कृतियाँ तथा मराठी में अक्करमाशी, बलूत, ताराल-अंतराल और आयदान जैसी रचनाएँ दलित साहित्य के स्वरूप और वैचारिक विकास को समझने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

दलित साहित्य की वैचारिक दशा एवं दिशा

समकालीन हिंदी साहित्य में दलित साहित्य एक सशक्त वैचारिक आंदोलन के रूप में स्थापित हो चुका है। इसकी वैचारिक दशा केवल सामाजिक उत्पीड़न के वर्णन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह भारतीय समाज की जड़ जाति-व्यवस्था, सामाजिक विषमता, सांस्कृतिक वर्चस्व और आर्थिक शोषण के विरुद्ध एक वैचारिक प्रतिरोध का स्वर भी है। दलित साहित्य का केंद्र बिंदु मनुष्य की गरिमा, समानता, स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय और आत्मसम्मान है। यह साहित्य शोषित और वंचित

समुदायों के जीवनानुभवों को साहित्य के केंद्र में स्थापित करते हुए लोकतांत्रिक मूल्यों की पुनर्स्थापना का प्रयास करता है। दलित साहित्य की वर्तमान वैचारिक दशा एवं दिशा को निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है—

1. अस्मिता और आत्मसम्मान की चेतना - सदियों तक सामाजिक उपेक्षा और अपमान झेलने वाले समुदायों ने दलित साहित्य के माध्यम से अपनी पहचान, अस्तित्व और सम्मान की पुनर्स्थापना का प्रयास किया है। यह साहित्य दलित समाज को दया या सहानुभूति का पात्र नहीं, बल्कि अपने अधिकारों के प्रति सजग और संघर्षशील नागरिक के रूप में प्रस्तुत करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन तथा तुलसीराम की मुर्दहिया इस चेतना के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन रचनाओं में जातिगत अपमान, शिक्षा के लिए किया गया संघर्ष और आत्मसम्मान की खोज को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है।

2. प्रतिरोध और विद्रोह की चेतना - दलित साहित्य की वैचारिक दशा का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष अन्याय, शोषण और भेदभाव के विरुद्ध प्रतिरोध है। यह साहित्य अन्यायपूर्ण सामाजिक संरचनाओं को चुनौती देता है और परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देता है। इसलिए इसमें प्रतिरोध केवल भावनात्मक प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का वैचारिक आधार बन जाता है। शरणकुमार लिंबाले ने स्पष्ट किया है कि दलित साहित्य अन्याय के विरुद्ध संघर्ष और मनुष्य की स्वतंत्रता का साहित्य है। यही कारण है कि दलित कविता, कहानी और आत्मकथा में विद्रोह का स्वर अत्यंत मुखर दिखाई देता है।

3. भोगे हुए यथार्थ की प्रामाणिकता - दलित साहित्य का सबसे बड़ा आधार भोगा हुआ यथार्थ है। इसमें कल्पना की अपेक्षा प्रत्यक्ष जीवनानुभवों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। दलित लेखक अपने व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामूहिक सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। यही अनुभव इस साहित्य को विश्वसनीय और प्रभावशाली बनाते हैं। जूठन, अक्करमाशी, दोहरा अभिशाप और अपने-अपने पिंजरे जैसी आत्मकथाएँ इस दृष्टि से दलित साहित्य की प्रतिनिधि कृतियाँ हैं।

4. सामाजिक न्याय और संवैधानिक मूल्यों का आग्रह - दलित साहित्य की वैचारिक दशा भारतीय संविधान में निहित समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय के सिद्धांतों से गहरे रूप में जुड़ी हुई है। इस साहित्य पर डॉ. आंबेडकर के विचारों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। दलित साहित्य सामाजिक परिवर्तन को संवैधानिक मूल्यों के अनुरूप देखता है और जाति-आधारित भेदभाव के उन्मूलन का पक्षधर है।

दलित साहित्य शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का सबसे प्रभावी माध्यम मानता है। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति में आत्मविश्वास, वैचारिक स्वतंत्रता और सामाजिक जागरूकता का विकास होता है। इसलिए दलित आत्मकथाओं और संस्मरणों में शिक्षा प्राप्त करने का संघर्ष एक प्रमुख विषय के रूप में उभरता है। यह शिक्षा केवल रोजगार का साधन नहीं, बल्कि आत्ममुक्ति और सामाजिक परिवर्तन का माध्यम है। समकालीन दलित साहित्य की वैचारिक दशा में दलित स्त्री-विमर्श का विशेष स्थान है। दलित स्त्री जाति और लिंग—दोनों आधारों पर होने वाले शोषण का सामना करती है। इस दोहरे उत्पीड़न को कौशल्या बैसंत्री की दोहरा अभिशाप तथा उर्मिला पवार की आयदान जैसी कृतियाँ अत्यंत प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करती हैं। इन रचनाओं ने दलित विमर्श को अधिक व्यापक और समावेशी बनाया है। दलित साहित्य केवल वर्तमान की समस्याओं तक सीमित नहीं है, बल्कि इतिहास और संस्कृति की उन व्याख्याओं को भी चुनौती देता है जिनमें दलित समुदाय की भूमिका को उपेक्षित किया गया। यह साहित्य इतिहास को दलित दृष्टि से पुनर्पाठ करने और उपेक्षित समुदायों के योगदान को सामने लाने का प्रयास करता है।

दलित साहित्य की वर्तमान चुनौतियाँ

समकालीन हिंदी साहित्य में दलित साहित्य ने एक सशक्त वैचारिक और रचनात्मक पहचान स्थापित की है, किंतु इसके सामने अनेक वैचारिक, सामाजिक, शैक्षिक और संस्थागत चुनौतियाँ भी विद्यमान हैं। ये चुनौतियाँ केवल साहित्यिक नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक संरचना से भी जुड़ी हुई हैं। इनका विस्तृत विवेचन अग्रलिखित है—

1. बाज़ारवाद और साहित्य का व्यावसायीकरण - वर्तमान समय में प्रकाशन उद्योग का एक बड़ा भाग बाज़ार

की माँग के अनुरूप साहित्य का चयन करता है। परिणामस्वरूप कई बार दलित साहित्य को उसकी वैचारिक गंभीरता के स्थान पर केवल एक 'विक्रय योग्य विमर्श' के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा है। इससे उसके मूल उद्देश्य—सामाजिक न्याय और परिवर्तन—पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका रहती है।

2. वैचारिक प्रामाणिकता का संकट - दलित साहित्य का आधार भोगा हुआ यथार्थ है, किंतु आज इसके लेखन में यह बहस निरंतर चल रही है कि दलित साहित्य का सृजन कौन कर सकता है? कुछ विद्वान मानते हैं कि दलित जीवन के वास्तविक अनुभवों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति वही लेखक कर सकता है जिसने उन परिस्थितियों को स्वयं जिया हो, जबकि अन्य आलोचक मानवीय संवेदना और सामाजिक प्रतिबद्धता को भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यह बहस दलित साहित्य के वैचारिक विमर्श का एक प्रमुख प्रश्न बनी हुई है।

3. दलित स्त्री लेखन की उपेक्षा - दलित साहित्य के भीतर भी लंबे समय तक पुरुष-केंद्रित दृष्टिकोण प्रमुख रहा। दलित स्त्री के अनुभव—जो जाति और लिंग दोनों स्तरों पर शोषण से जुड़े हैं—पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया। यद्यपि कौशल्या बैसंत्री, उर्मिला पवार, सुशीला टाकभौरे और बेबी कांबले जैसी लेखिकाओं ने इस कमी को दूर करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है, फिर भी दलित स्त्री लेखन को मुख्यधारा की आलोचना में अपेक्षित स्थान अभी भी नहीं मिला है।

4. जातीय भेदभाव की सामाजिक निरंतरता - संवैधानिक प्रावधानों और कानूनी संरक्षण के बावजूद भारतीय समाज में जातिगत भेदभाव पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ है। शिक्षा, रोजगार, सामाजिक संबंधों और ग्रामीण जीवन में अनेक रूपों में यह आज भी विद्यमान है। यही कारण है कि दलित साहित्य की सामाजिक प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

यद्यपि विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में दलित साहित्य पर अध्ययन बढ़ा है, फिर भी अनेक उच्च शिक्षण संस्थानों के पाठ्यक्रमों में इसे अपेक्षित स्थान नहीं मिला है। शोध, आलोचना, अनुवाद और प्रकाशन के स्तर पर भी अभी पर्याप्त कार्य की आवश्यकता है। इससे दलित साहित्य का व्यापक अकादमिक प्रसार प्रभावित होता है। अनुवाद की कमी दलित साहित्य के वैश्विक विमर्श में एक बड़ी बाधा है। सोशल मीडिया और डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म ने दलित विमर्श को नई गति दी है, लेकिन इसके साथ कई समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं। कई बार गहन वैचारिक बहस के स्थान पर सतही टिप्पणियाँ, अधूरी जानकारी और वैचारिक ध्रुवीकरण अधिक दिखाई देता है। इससे गंभीर साहित्यिक विमर्श प्रभावित होता है।

दलित साहित्य की भविष्य की संभावनाएँ

दलित साहित्य ने पिछले पाँच दशकों में उल्लेखनीय विकास किया है। वर्तमान सामाजिक, शैक्षिक और तकनीकी परिवर्तनों को देखते हुए इसकी संभावनाएँ अत्यंत व्यापक हैं। भविष्य में दलित साहित्य निम्नलिखित दिशाओं में और अधिक समृद्ध हो सकता है—

1. वैश्विक दलित विमर्श का विस्तार - आज भारतीय दलित साहित्य का अध्ययन विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों में किया जा रहा है। अंग्रेज़ी सहित अन्य विदेशी भाषाओं में अनुवाद बढ़ने से यह साहित्य अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार, नस्लवाद, सामाजिक न्याय और उपनिवेशोत्तर अध्ययन के साथ नए संवाद स्थापित कर रहा है। भविष्य में यह वैश्विक स्तर पर और अधिक प्रभावशाली हो सकता है।

2. डिजिटल साहित्य और नई अभिव्यक्ति - ई-पुस्तकों, ऑनलाइन पत्रिकाओं, ब्लॉग, पॉडकास्ट और सोशल मीडिया ने लेखन के नए मंच उपलब्ध कराए हैं। भविष्य में युवा दलित रचनाकार इन माध्यमों के द्वारा अपने अनुभवों और विचारों को व्यापक समाज तक पहुँचा सकेंगे। डिजिटल अभिलेखागार के माध्यम से दुर्लभ दलित साहित्य का संरक्षण भी संभव होगा।

3. दलित स्त्री-विमर्श और लैंगिक समानता - दलित स्त्री लेखन निरंतर समृद्ध हो रहा है। भविष्य में दलित स्त्री के अनुभव, श्रम, शिक्षा, स्वास्थ्य, नेतृत्व और सांस्कृतिक पहचान पर अधिक गंभीर और व्यापक लेखन होने की संभावना है। इससे दलित विमर्श अधिक समावेशी और बहुआयामी बनेगा।

4. समतामूलक समाज के निर्माण में भूमिका - लित साहित्य का अंतिम उद्देश्य केवल साहित्य सृजन नहीं, बल्कि एक ऐसे समाज का निर्माण है जहाँ जाति, लिंग, धर्म या वर्ग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न हो। इसलिए भविष्य में इसकी भूमिका सामाजिक समरसता, लोकतांत्रिक मूल्यों, संवैधानिक चेतना और मानवीय गरिमा को सुदृढ़ करने में और अधिक महत्त्वपूर्ण होगी।

भविष्य में दलित साहित्य का अध्ययन केवल साहित्य तक सीमित नहीं रहेगा, बल्कि समाजशास्त्र, इतिहास, राजनीति विज्ञान, मानवाधिकार, कानून, जेंडर स्टडीज़, मीडिया अध्ययन और सांस्कृतिक अध्ययन जैसे विषयों के साथ अंतर्संबंध स्थापित करेगा। इससे इसके अध्ययन का दायरा और अधिक व्यापक होगा। जल, जंगल, ज़मीन, विस्थापन, श्रमिक अधिकार, पर्यावरणीय न्याय और जलवायु परिवर्तन जैसे विषय भविष्य के दलित साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकते हैं। इससे दलित साहित्य सामाजिक न्याय की व्यापक अवधारणा से और अधिक जुड़ सकेगा। उच्च शिक्षा, तकनीकी विकास और सामाजिक जागरूकता के कारण नई पीढ़ी के दलित लेखक नए विषयों, नई शैलियों और नए विमर्शों के साथ साहित्य को समृद्ध करेंगे। इससे दलित साहित्य का स्वर और अधिक विविध, आधुनिक और वैश्विक होगा। विश्वविद्यालयों में दलित साहित्य पर शोध की संख्या लगातार बढ़ रही है। भविष्य में अधिक मौलिक शोध, आलोचनात्मक ग्रंथ, शब्दकोश, विश्वकोश और संदर्भ-ग्रंथ तैयार होंगे, जिससे इस क्षेत्र की अकादमिक विश्वसनीयता और सुदृढ़ होगी।

प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दलित साहित्य की वैचारिक दशा प्रतिरोध, अस्मिता, आत्मसम्मान, सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित है, जबकि इसकी दिशा एक ऐसे समाज की परिकल्पना करती है जहाँ जाति, लिंग, वर्ग, धर्म अथवा किसी भी प्रकार के भेदभाव के लिए कोई स्थान न हो। समकालीन संदर्भ में दलित साहित्य ने अपने विमर्श का विस्तार करते हुए दलित स्त्री-विमर्श, शिक्षा, मानवाधिकार, श्रम, पर्यावरण, सांस्कृतिक अस्मिता तथा वैश्वीकरण जैसे नए आयामों को भी आत्मसात किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि दलित साहित्य निरंतर विकसित होने वाली एक जीवंत, गतिशील और परिवर्तनोन्मुख साहित्यिक परंपरा है। यद्यपि बाज़ारवाद, संस्थागत उपेक्षा, अनुवाद की सीमाएँ तथा डिजिटल युग की नई चुनौतियाँ इसके समक्ष विद्यमान हैं, फिर भी इसकी वैचारिक शक्ति और सामाजिक प्रासंगिकता निरंतर सुदृढ़ हो रही है। उच्च शिक्षा, शोध, अनुवाद, वैश्विक संवाद और नई पीढ़ी की सक्रिय भागीदारी दलित साहित्य को भविष्य में और अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली बनाएगी। अंततः कहा जा सकता है कि दलित साहित्य किसी एक वर्ग या समुदाय का साहित्य नहीं, बल्कि संपूर्ण मानवता के सम्मान, समानता और न्याय का साहित्य है। यह हमें केवल सामाजिक यथार्थ से परिचित नहीं कराता, बल्कि एक अधिक मानवीय, समतामूलक और लोकतांत्रिक समाज के निर्माण की प्रेरणा भी देता है। इसलिए दलित साहित्य का महत्त्व केवल साहित्यिक परिप्रेक्ष्य तक सीमित नहीं है; वह भारतीय समाज की लोकतांत्रिक चेतना, संवैधानिक मूल्यों और मानवीय सभ्यता को अधिक न्यायपूर्ण और समावेशी बनाने की दिशा में एक अनिवार्य वैचारिक हस्तक्षेप है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. शरणकुमार लिंबाले, 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. कंवल भारती, 'दलित साहित्य की अवधारणा', बोधिसत्व प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. तुलसीराम, 'मुर्दहिया', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. मोहनदास नैमिशराय, 'अपने-अपने पिंजरे', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. कौशल्या बैसंत्री, 'दोहरा अभिशाप', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. सुशीला टाकभौरे, 'शिकंजे का दर्द' वाणी प्रकाशन।

अन्य सहायक ग्रंथ :

नैमिशराय, मोहनदास, 'भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2013
सिंह, डॉ. एन., 'दलित साहित्य के प्रतिमान', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012
बेचैन, श्यौराज सिंह, 'चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य', नवलेखन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2001
नैमिशराय, मोहनदास, 'हिंदी दलित साहित्य', साहित्य अकादमी, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011
वाल्मीकि, ओमप्रकाश, 'दलित साहित्य अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2020
गुप्ता रमणिका, 'दलित चेतना साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार', समीक्षा प्रकाशन, दिल्ली

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

ओज, विद्रोह और राष्ट्रीय चेतना का स्वर : रामधारी सिंह दिनकर के काव्य का अनुशीलन

अंजलि
शोधार्थी
पी.जी.टी. हिंदी, जी.एस.के.वी. रनहोला, दिल्ली सरकार
संपर्क : 9968079796

सारांश

रामधारी सिंह 'दिनकर' हिंदी साहित्य के ऐसे कवि हैं जिनकी लेखनी में इतिहास की गर्जना और वर्तमान की पीड़ा दोनों एक साथ सुनाई देती है। उन्हें 'राष्ट्रकवि' और 'ओज का कवि' कहा जाता है, पर उनका ओज केवल युद्ध का आह्वान नहीं है, बल्कि वह अन्याय के विरुद्ध एक नैतिक विद्रोह है। प्रस्तुत शोध-पत्र में दिनकर के काव्य में निहित राष्ट्रीय चेतना, विद्रोही स्वर और ओजस्विता का विश्लेषण किया गया है। 'रेणुका' से लेकर 'उर्वशी' तक और 'कुरुक्षेत्र' से लेकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक उनके काव्य-विकास को इस दृष्टिकोण से परखा गया है कि कैसे एक कवि समय की नाड़ी बन जाता है।

बीज शब्द : दिनकर, ओज, विद्रोह, राष्ट्रीय चेतना, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, राष्ट्रकवि

1. प्रस्तावना

हिंदी कविता में जब भी ओज की बात आती है, तो रामधारी सिंह दिनकर का नाम सबसे पहले आता है। 23 सितंबर 1908 को बिहार के बेगूसराय जिले के सिमरिया गाँव में जन्मे दिनकर का बचपन अभावों में बीता, पर उनके भीतर शब्दों की आग बचपन से ही थी। वे केवल कवि नहीं थे, वे एक विचारक, इतिहासवेत्ता और संस्कृति के व्याख्याकार भी थे।

दिनकर का समय भारत के इतिहास का सबसे उथल-पुथल भरा समय था - पराधीनता, द्वितीय विश्व युद्ध, स्वतंत्रता, विभाजन, चीन युद्ध और नेहरू युग का मोहभंग। दिनकर ने इन सभी घटनाओं पर कविता लिखी। इसलिए उनका काव्य केवल साहित्य नहीं, बल्कि आधुनिक भारत का भावनात्मक इतिहास भी है।

2. शोध के उद्देश्य

1. दिनकर के काव्य में 'ओज' के स्वरूप और उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना।
2. उनके काव्य में विद्रोह के तत्व - वह विद्रोह जो सत्ता, व्यवस्था और अन्याय के विरुद्ध है - का विश्लेषण करना।
3. राष्ट्रीय चेतना के कवि के रूप में दिनकर के योगदान का मूल्यांकन करना।
4. दिनकर की प्रासंगिकता का वर्तमान संदर्भ में विवेचन करना।

3. ओज का स्वरूप : दिनकर के काव्य की पहली पहचान

संस्कृत काव्यशास्त्र में ओज का अर्थ है - ऐसी शब्द-योजना जो हृदय में उत्साह, आवेश और स्फूर्ति भर दे। दिनकर का ओज टकरा-टकरा कर बोलता है।

उदाहरण के लिए 'हिमालय के प्रति' कविता में वे लिखते हैं -

मेरे नगपति! मेरे विशाल! साकार, दिव्य, गौरव विराट...

यहाँ वे हिमालय को जगाते हैं, जो वास्तव में सोए हुए भारत को जगाने का प्रतीक है। यह ओज निराशा में आशा भरने वाला ओज है।

पर दिनकर का ओज केवल नगाड़ा नहीं है। वे स्वयं कहते थे - ''मैं क्रांति का नहीं, क्रांति के बाद की थकान का कवि हूँ।" इसलिए उनके ओज में करुणा भी है। 'रश्मिरथी' में कर्ण के माध्यम से वे पराक्रम के साथ-साथ उपेक्षित मनुष्य की पीड़ा भी दिखाते हैं।

4. विद्रोह का स्वर : अन्याय के विरुद्ध नैतिक हस्तक्षेप

दिनकर के काव्य में विद्रोह तीन स्तरों पर दिखता है।

क) सामाजिक विद्रोह : 'रश्मिरथी' इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। कर्ण को वे 'सूत-पुत्र' नहीं, बल्कि व्यवस्था द्वारा ठुकराया गया योग्य व्यक्ति बताते हैं। जब कर्ण कहता है -

जाति-जाति रटते, जिनकी पूँजी केवल पाखंड,
मैं क्या जानूँ जाति? जाति हैं ये मेरे भुजदंड।

तो यह जाति-प्रथा पर सीधा प्रहार है। यह 1950 के भारत में सामाजिक न्याय की माँग थी।

ख) राजनैतिक विद्रोह : स्वतंत्रता के बाद जब सत्ता में भ्रष्टाचार आया, तो दिनकर चुप नहीं रहे। 'परशुराम की प्रतीक्षा' (1963) चीन युद्ध के बाद लिखी गई। इसमें वे नेहरू की अहिंसा-नीति पर प्रश्न उठाते हैं और कहते हैं कि क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो। यह सत्ता को जगाने वाला विद्रोह था।

ग) नियति के विरुद्ध विद्रोह : 'कुरुक्षेत्र' में वे युद्ध और शांति के शाश्वत प्रश्न को उठाते हैं। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि युद्ध बुरा है, पर अन्याय सहना उससे भी बुरा है। यह निष्क्रियता के विरुद्ध विद्रोह है।

5. राष्ट्रीय चेतना का स्वर : भारत का सांस्कृतिक बोध

दिनकर के लिए राष्ट्र केवल एक भूगोल नहीं, बल्कि एक संस्कृति है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में उन्होंने भारत की समन्वयवादी संस्कृति की व्याख्या की है।

उनकी राष्ट्रीय चेतना के तीन आधार हैं -

1. इतिहास-बोध : वे अतीत के गौरव से वर्तमान को ऊर्जा देते हैं। 'रश्मिरथी' में महाभारत और 'उर्वशी' में वैदिक आख्यान के माध्यम से वे भारतीय मन को टटोलते हैं।

2. वर्तमान-बोध : 1947 में स्वतंत्रता मिलने पर उन्होंने 'दिल्ली' कविता लिखी, पर साथ ही 'हाहाकार' भी देखा। वे सत्ता के उत्सव में भूखे आदमी को नहीं भूले।

3. भविष्य-बोध : वे लिखते हैं -

सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

यह पंक्ति आज भी लोकतंत्र की सबसे बड़ी चेतावनी है। यह बताती है कि दिनकर जनता को ही असली राष्ट्र मानते थे।

6. दिनकर की भाषा और शिल्प

दिनकर की भाषा में तत्सम शब्दों की गरिमा और उर्दू की रवानी दोनों है। वे संस्कृतनिष्ठ हिंदी लिखते हैं, पर वह बोझिल

नहीं लगती। उनके छंद - विशेषकर हरिगीतिका और रूपमाला - में ढोल की सी थाप है। इसीलिए उनकी कविताएँ मंच पर इतनी प्रभावशाली लगती हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा था - ''दिनकर जी की कविता में शक्ति है, जो पाठक को झकझोर देती है।"

7. निष्कर्ष

निष्कर्षतः दिनकर केवल ओज के कवि नहीं हैं, वे संतुलन के कवि हैं। उनके यहाँ ओज में करुणा है, विद्रोह में विवेक है और राष्ट्रीयता में मानवता है। आज के समय में जब राष्ट्रवाद को अक्सर संकीर्ण अर्थों में लिया जाता है, दिनकर हमें याद दिलाते हैं कि सच्चा राष्ट्रवाद वह है जो मनुष्य की गरिमा के लिए खड़ा हो।

दिनकर का विद्रोह आज भी प्रासंगिक है चाहे वह जातिवाद के विरुद्ध हो, भ्रष्टाचार के विरुद्ध हो या किसी भी प्रकार के अन्याय के विरुद्ध। इसीलिए वे केवल एक युग के कवि नहीं, हर युग के कवि हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रामधारी सिंह दिनकर - रश्मिरथी, कुरुक्षेत्र, उर्वशी, परशुराम की प्रतीक्षा, संस्कृति के चार अध्याय
2. सावित्री सिन्हा - दिनकर : एक पुनर्मूल्यांकन
3. डॉ. नगेंद्र - हिंदी साहित्य का इतिहास (दिनकर संबंधी अध्याय)
4. विजेंद्र नारायण सिंह - दिनकर की काव्य-भाषा

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

BRICS in a Changing World Order: Challenges and Opportunities for Global South Cooperation: A Study of India's BRICS Presidency, 2026

Dr. Gulshan Deep Dania
Assistant Professor
Department of Political Science
Govt. Ranbir College
Sangrur, Punjab

Abstract

The international order is undergoing significant transformation, characterised by shifting centres of economic and political power, deepening geopolitical tensions, demands for reform of multilateral institutions, and the growing assertiveness of the Global South. Within this environment, BRICS has emerged as a leading platform for cooperation among emerging markets and developing countries. From its origin as BRIC in 2006 to its expansion into an eleven-member grouping by 2026, BRICS has broadened its agenda across political, economic, financial, technological and social domains. The year 2026 is especially significant, as India held the BRICS Chairship for a fourth time and hosted the 18th BRICS Summit in New Delhi on 12-13 September 2026, on the twentieth anniversary of the grouping, convening over four hundred meetings across thirty cities and culminating in the New Delhi Declaration, a 140-paragraph consensus document adopted despite sharp differences among members on issues ranging from West Asia to unilateral tariffs. This paper examines BRICS within the changing world order, analyses the opportunities it offers for Global South cooperation, and evaluates the political, economic and institutional challenges confronting an expanded, heterogeneous bloc. It argues that BRICS' significance lies less in its declarations than in its demonstrated capacity to hold eleven governments with divergent interests together long enough to produce a single negotiated text, and that its future effectiveness depends on converting this capacity for consensus into durable institutional follow-through.

Keywords: BRICS, Global South, India, International Politics, Global Governance, Multilateralism, Multipolarity, South-South Cooperation, New Delhi Declaration, World Order.

Introduction

The contemporary international system is passing through a period of considerable change. The distribution of economic power has become more dispersed, emerging economies have acquired

greater international significance, and developing countries increasingly demand a stronger role in global decision-making. At the same time, geopolitical tensions, trade disputes, technological competition and conflicts across West Asia, Eastern Europe and Sudan have placed considerable pressure on existing mechanisms of international governance.

Against this background, BRICS has developed into an important forum of international cooperation. The grouping originally emerged as BRIC, comprising Brazil, Russia, India and China, and was institutionalised through the first leaders' summit in 2009; South Africa joined in 2011. Egypt, Ethiopia, Iran, Indonesia and the United Arab Emirates joined between 2024 and 2025, and by 2026 official listings counted eleven members alongside ten partner countries. This near doubling of membership in under three years has given BRICS unmatched scale: its members account for roughly 49.5 per cent of world population and, at purchasing power parity, about 41 per cent of global output, against approximately 28 per cent for the G7.

The 2026 Indian presidency provides an important opportunity to examine the opportunities and strains created by this expansion. India organised its presidency, its fourth since 2012, around the theme "Building for Resilience, Innovation, Cooperation and Sustainability," convening more than four hundred engagements across thirty Indian cities and launching an integrated Digital Platform for delegate registration and logistics. The 18th BRICS Summit, held at Bharat Mandapam on 12-13 September 2026, marked BRICS' twentieth anniversary and culminated in the consensus adoption of the New Delhi Declaration, a 140-paragraph text covering governance reform, conflict, trade, finance, technology, health and agriculture. Drawing primarily on the Declaration itself alongside official chairship documentation and independent commentary, this paper examines whether an expanded, more heterogeneous BRICS can function as an effective platform for Global South cooperation, and what India's 2026 presidency reveals about the possibilities and limits of such cooperation.

BRICS and the Changing World Order

The emergence of BRICS is closely connected with changes in the distribution of global economic power. The original BRIC countries represented some of the most significant emerging economies and sought greater influence within international economic institutions. Over two decades, cooperation among them developed from an informal grouping into a structured platform spanning political and security, economic and financial, and people-to-people pillars.

BRICS' development demonstrates that emerging powers have increasingly sought to participate in shaping international rules rather than merely implementing rules established by traditionally dominant powers. Official declarations have repeatedly emphasised reform and a stronger role for developing countries rather than the replacement of existing institutions. The New Delhi Declaration reaffirms commitment to a more representative and fairer international order and to strengthening multilateralism and multipolarity, while upholding the UN Charter as an indispensable cornerstone of the international system, and argues that multipolarity can expand the opportunities available to emerging markets and developing countries (EMDCs) to pursue inclusive and equitable globalisation.

This scale is unevenly distributed, however. China and India together account for close to seventy per cent of combined BRICS output, so any financial initiative requiring binding commitments

is, in practice, difficult to separate from the preferences of these two members. This concentration helps explain why so much of the Declaration's economic language is framed as voluntary, opt-in cooperation rather than binding rule-making.

BRICS and Global South Cooperation

One of the most important dimensions of contemporary BRICS is its relationship with the Global South, a term broadly referring to developing and emerging countries across Africa, Asia, Latin America and West Asia. Although these countries differ in political systems and economic structures, they share concerns relating to development, representation, financing and global inequality. The New Delhi Declaration states that BRICS countries will continue playing a pivotal role in voicing the concerns of the Global South and links this to a more just and representative international order.

Greater Representation in Global Institutions

BRICS provides a collective platform through which developing countries can advocate reform of institutions such as the United Nations. The Declaration reiterates support for comprehensive UN Security Council reform to increase developing-country representation, and China and Russia again record their support for the aspirations of Brazil and India to play a greater role in the Council. It also notes, pointedly, that no woman has ever served as UN Secretary-General and that only three nationals from Latin America, Africa and Asia combined have held the post — evidence, it argues, of a persistent imbalance in senior multilateral appointments.

Economic and Financial Cooperation

BRICS also provides opportunities for cooperation in trade, investment and development finance. The New Development Bank, entering what the Declaration calls its second decade, continues to expand local-currency financing, and members welcomed a new BRICS-NDB Knowledge Portal launched under India's Chairship. The Declaration is notably cautious on currency questions: rather than proposing a common BRICS currency, it endorses continued work by the BRICS Payment Task Force on interoperable cross-border payments and voluntary local-currency settlement, stating explicitly that no single approach fits all members. On trade, it voices serious concern over unilateral tariff and non-tariff measures inconsistent with WTO rules and calls for restoring a functioning dispute-settlement mechanism, without naming any country responsible.

Technology and Digital Cooperation

Technology has become an increasingly important component of international politics, and India's 2026 presidency placed innovation among its four central priorities. The Declaration commits members to implementing the BRICS Leaders' Statement on the Global Governance of Artificial Intelligence and welcomes work towards a shared repository of digital public infrastructure solutions. This emphasis was reflected in India's own chairship infrastructure: the BRICS India 2026 Digital Platform, developed by the National e-Governance Division, combined a public website with an accreditation portal handling registration, scheduling and logistics for the year's meetings — modelling the "Innovation" pillar of India's theme in the conduct of the chairship itself.

Sustainable Development, Food, Energy and Climate Security

Developing countries are particularly affected by climate change, energy insecurity and financing constraints. The Declaration reaffirms commitment to the 2030 Agenda, welcomes work on a BRICS Grain Exchange to stabilise food and fertiliser supply, and opposes carbon border adjustment mechanisms as discriminatory measures that penalise developing economies for emissions they did not historically generate, while acknowledging that fossil fuels will continue to play an important role for emerging economies, reflecting a preference for an orderly rather than abrupt energy transition.

India's BRICS Presidency, 2026

India's presidency is significant because New Delhi sought to connect BRICS cooperation with inclusive global governance while addressing the institutional strains created by rapid expansion. The official theme organised the chairship's substantive work, while a coordinated ministerial calendar spread across thirty cities fed into the Declaration's annexes.

A major focus was inclusive global governance: during the summit's closed plenary on this theme, India argued that developing countries should have a greater role in shaping international rules, particularly the UN Security Council. Beyond rhetoric, India used its chairship to propose fixes for a structural weakness that has grown more pressing as BRICS has expanded — the absence of a permanent secretariat — including a Troika-based continuity mechanism, under which the previous, current and incoming chairs would jointly track follow-through, and a digital repository recording each decision's status, so momentum is not lost with each annual change of chairship. India's presidency thus combined declaratory emphasis on voice and representation with a quieter, procedural effort to give a rapidly enlarged BRICS the institutional memory it currently lacks.

Challenges to BRICS Cooperation

Despite its opportunities, an expanded BRICS faces significant challenges that the New Delhi Declaration itself illustrates rather than resolves.

First, divergent national interests make consensus difficult to sustain. BRICS decisions require unanimous agreement, and a single member can hold up an entire paragraph; a BRICS foreign ministers' meeting in New Delhi in May 2026 had broken up without a joint communique after members split over the conflict involving Iran. That the full Declaration was nonetheless agreed by September reflects hard-won compromise rather than underlying convergence: the paragraph on West Asia calls for maximum restraint while explicitly preserving each member's differing national position, and the text records no common line on Ukraine beyond welcoming unspecified mediation.

Second, the scale and pace of expansion have outrun BRICS' institutional machinery. Membership has roughly doubled since 2009 while the grouping still has no permanent secretariat — the gap India's Troika mechanism sought to address. Even membership questions remain unsettled: official 2026 listings count Saudi Arabia among the eleven members, yet Riyadh has not confirmed accession and attended with invitee, rather than full member, status.

Third, economic weight within BRICS remains heavily concentrated. With China and India together accounting for close to seventy per cent of combined output, smaller members have limited capacity to shape binding outcomes, which is one reason financial initiatives such as the New

Investment Platform and the Contingent Reserve Arrangement amendments proceed on a voluntary, phased basis rather than as uniform commitments.

Finally, there is a recurring gap between declaratory ambition and implementation. Much of the Declaration's language reaffirms existing positions or commissions further study rather than creating binding obligations, and its criticism of unilateral tariffs and sanctions, though clearly a response to measures associated with the United States, was framed in general terms without naming any state — reducing the diplomatic cost of consensus but diluting the text's practical force. Managing this gap between rhetoric and delivery, alongside sharp disagreements on regional security, is the central institutional test the grouping now faces.

BRICS and the Future of the International Order

The future significance of BRICS will depend on how effectively it converts its growing demographic and economic weight into sustained cooperation. The New Delhi Declaration indicates that BRICS does not view itself simply as an economic grouping, but BRICS should not be regarded as a unified alternative to the existing system, not least because its members continue to value institutions such as the G20, whose legacy of consecutive BRICS-country presidencies between 2022 and 2025 the Declaration asks members to help preserve. Its significance may therefore lie less in institutional replacement than in institutional pluralism: an additional forum for coordination alongside the United Nations and the G20, reflecting a broader movement from a system dominated by a few centres of power towards one in which emerging states increasingly seek a role in shaping international rules.

Findings and Discussion

The study produces several broad findings. First, BRICS has developed well beyond its original economic character into a multidimensional platform, formalised in 2026 across 140 paragraphs of the New Delhi Declaration. Second, its rapid expansion since 2024 has increased its relevance to the Global South but has strained consensus-based decision-making and left institutional questions, including a permanent secretariat and even full membership status, unresolved. Third, India's presidency combined an emphasis on inclusive global governance and innovation, reflected in its own Digital Platform, with concrete proposals to address BRICS' institutional continuity gap. Fourth, the Declaration demonstrates that reform of the UN Security Council, IMF and WTO remains a central BRICS demand, even though such language stops short of binding commitment. Fifth, BRICS' future effectiveness will depend on managing the concentration of economic power among its largest members and translating declarations into practical, monitored cooperation.

Conclusion

BRICS has become an important component of the changing international order. Its evolution from a small grouping of four emerging economies into an eleven-member platform reflects the growing demand for greater Global South participation in global governance. India's 2026 presidency, held on BRICS' twentieth anniversary and conducted through more than four hundred meetings across thirty cities, exemplifies this transformation, culminating in the New Delhi Declaration's reaffirmation of multilateralism, institutional reform and stronger representation for developing countries.

Nevertheless, the future of BRICS cannot be determined solely by the size of its membership or the length of its declarations. Its effectiveness will depend on reconciling divergent national interests — visible in the hedged language on West Asia and Ukraine — managing the concentration of economic weight among its two largest members, resolving lingering questions of institutional structure such as a permanent secretariat, and translating political commitments into concrete, monitored cooperation, an objective India's proposed continuity mechanisms directly targeted. The significance of BRICS, therefore, lies not in replacing existing institutions but in broadening the spaces through which developing countries can participate in shaping international affairs, provided institutional expansion is accompanied by effective coordination and sustained commitment among an increasingly diverse membership.

References

1. Government of India, Prime Minister's Office. (2026, September 12). BRICS New Delhi Declaration: Building for Resilience, Innovation, Cooperation and Sustainability. https://www.pmindia.gov.in/en/news_updates/brics-new-delhi-declaration-building-for-resilience-innovation-cooperation-and-sustainability-september-12-2026/
2. Ministry of External Affairs, Government of India. (2026). Bilateral/Multilateral Documents — BRICS New Delhi Declaration. https://www.mea.gov.in/bilateral-documents?dtl/41776
3. Government of India / NeGD, MeitY. (2026). BRICS India 2026 — Official Chairship Website. https://www.brics2026.gov.in/brics-india-2026/
4. Digital India, Ministry of Electronics and Information Technology. (2026). BRICS India 2026 Digital Platform. https://www.digitalindia.gov.in/initiative/brics-india-2026-digital-platform/
5. Wikipedia contributors. (2026). 18th BRICS summit. https://en.wikipedia.org/wiki/18th_BRICS_summit
6. Daily Financial. (2026, September 14). BRICS 2026 New Delhi Declaration: What the 140-paragraph text commits to, and what it leaves open. https://dailyfinancial.in/brics-2026-new-delhi-declaration-what-the-140-paragraph-text-commits-to-and-what-it-leaves-open/
7. Different Truths. (2026). BRICS' New Delhi Declaration: A landmark that breaks the silence. https://www.differenttruths.com/brics-new-delhi-declaration-a-landmark-that-breaks-the-silence/
8. Reuters. (2026, September 12). BRICS adopts joint declaration, urges maximum restraint in Middle East.
9. NDTV. (2026, September 12). In BRICS New Delhi Declaration, condemnation of war, tariffs. https://www.ndtv.com/world-news/in-brics-new-delhi-declaration-de-dollarisation-push-condemnation-of-war-12037291
10. Indian Express. (2026). Expert explains: What the BRICS 2026 summit achieved and what challenges remain.

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

जितिया (जीवित्पुत्रिका) पर्व : मातृत्व, लोक-संस्कृति एवं सामाजिक संरचना का समाजशास्त्रीय अवलोकन

डॉ. दीपक कुमार कन्नौजिया
Former Senior Research Fellow
Department of Sociological Studies
Central University of South Bihar Gaya

शोध सार (ABSTRACT)

भारतीय लोक-संस्कृति में व्रत एवं अनुष्ठान केवल धार्मिक अनुष्ठान मात्र नहीं हैं, बल्कि वे परिवार व्यवस्था, नातेदारी और सामुदायिक एकजुटता को सुदृढ़ करने वाले प्राथमिक माध्यम रहे हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड और नेपाल के तराई क्षेत्रों में आश्विन मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि को मनाया जाने वाला 'जीवित्पुत्रिका' अथवा 'जितिया' (जिउतिया) पर्व लोक-आस्था का एक विशिष्ट पर्व है। निर्जला उपवास के रूप में संपन्न होने वाला यह व्रत संतानों (पारंपरिक रूप से पुत्र, किंतु आधुनिक विमर्श में संतान-मात्र) के दीर्घायु, स्वास्थ्य और सुरक्षा के उद्देश्य से माताओं द्वारा किया जाता है। प्रस्तुत शोध पत्र जितिया पर्व के नृवंशविज्ञान (Ethnography), पौराणिक-लोक गाथाओं (Mythological - Folk Narratives), सामाजिक-पारिवारिक प्रकार्यों (Social Functions) तथा बदलते समकालीन संदर्भों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन में यह विश्लेषित किया गया है कि किस प्रकार यह व्रत एमिल दुर्खीम के 'सामूहिक चेतना' (Collective Consciousness) और पियरे बॉर्ड्यू के 'सांस्कृतिक पूंजी' (Cultural Capital) के सिद्धांतों को लोक जीवन में साकार करता है, साथ ही यह पर्व पितृसत्तात्मक संरचनाओं और मातृत्व की स्वायत्त लोक-अभिव्यक्ति के बीच एक सेतु की तरह कार्य करता है।

बीज शब्द : जितिया, जीवित्पुत्रिका, लोक-संस्कृति, मातृत्व, जीमूतवाहन, सामूहिक चेतना, पितृसत्तात्मक अनुकूलन, लोक-आख्यान

प्रस्तावना (Introduction)

हमारे सनातन धर्म में माताओं द्वारा अपनी संतान की लंबी आयु, अच्छी सेहत और सुख-समृद्धि के लिए रखा जाने वाला एक बेहद कठिन और महत्वपूर्ण व्रत है। हमारे पूर्वी उत्तर प्रदेश में किसी भयानक हादसों में जब कोई बच जाता है तो एक कहावत बहुत प्रसिद्ध है की 'तोहार माई खड़े ज्युतिया पुजले होहिये की तू सही सलामत बच गईला' भारत की सांस्कृतिक पहचान उसके वृहत् (Great) और लघु (Little) परंपराओं के सतत अंतःक्रिया से निर्मित हुई है (रॉबर्ट रेडफील्ड, 1956, मैकिम मैरियट, 1955)। जहाँ शास्त्रीय वैदिक परंपराओं में अनुष्ठानों का संचालन पुरोहित वर्ग और संस्कृत ग्रंथों द्वारा नियंत्रित होता है, वहीं लोक परंपराएँ वाचिक साहित्य, लोकगीत, सामुदायिक सहभागिता और महिलाओं की केंद्रीय भूमिका पर आधारित

होती हैं। भोजपुरी, मैथिली, मगही और अंगिका भाषी क्षेत्रों में मनाए जाने वाले प्रमुख व्रतों में 'जितिया' (जीवित्पुत्रिका) (ज्युतबंधन) का स्थान अत्यंत विशिष्ट और कठोरतम व्रतों में गिना जाता है। छठ पर्व की भांति यह भी 24 से 36 घंटे के निर्जला उपवास की परंपरा पर टिका है। पारंपरिक रूप से इसे 'पुत्र-रक्षा' का व्रत माना जाता रहा है, किंतु इसके अनुष्ठानिक आयामों, लोक कथाओं और महिलाओं के सामूहिक जमावड़े का गहन समाजशास्त्रीय विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि यह पर्व मात्र एक धार्मिक कृत्य नहीं है, यह मातृ-सत्तात्मक संवेदना, पारिस्थितिकीय संवेदनशीलता (Ecological Sensitivity), और नातेदारी व्यवस्था को पुनर्परिभाषित करने वाला सामाजिक यथार्थ है।

सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य (Theoretical Framework)

प्रस्तुत अध्ययन में जितिया पर्व के बहुस्तरीय सामाजिक आयामों को उद्घाटित करने के लिए तीन प्रमुख समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्यों का उपयोग किया गया है-

दुर्खीम का धर्म और सामूहिक चेतना का सिद्धांत (Durkheim's Collective Effervescence) एमिल दुर्खीम (The Elementary Forms of Religious Life, 1912) के अनुसार, धार्मिक अनुष्ठान समाज के सामूहिक बंधनों को नवीनीकृत करने का माध्यम हैं। जब ग्रामीण और कस्बाई परिवेश में महिलाएं जितिया के अवसर पर पोखर (तालाब) के किनारे एकत्र होती हैं, सामूहिक गीत गाती हैं और कथा सुनती हैं, तो यह अनुष्ठान व्यक्तिगत से रूपांतरित होकर 'सामूहिक उत्सव' (Collective Effervescence) बन जाता है, जो सामाजिक सुदृढ़ता को बल देता है।

मैकिम मैरियट : सार्वभौमीकरण और संकीर्णता (Universalization and Parochialization) जीवित्पुत्रिका व्रत में भविष्य पुराण के राजा जीमूतवाहन के शास्त्रीय आख्यान (वृहत् परंपरा) और स्थानीय लोककथा-चील व सियारिन (लघु परंपरा)-का जो समन्वय दिखता है, वह भारतीय समाज में सांस्कृतिक तत्वों के पारस्परिक आदान-प्रदान और देशज रूपांतरण का उत्कृष्ट उदाहरण है।

जेंडर और 'पितृसत्तात्मक सौदेबाजी' (Patriarchal Bargain) डेनिज कैंडियोटी (Deniz Kandiyoti, 1988) के 'पितृसत्तात्मक सौदेबाजी' के सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में यह देखा जा सकता है कि पारंपरिक पितृसत्तात्मक संरचना में संतान (विशेषकर पुत्र) की सुरक्षा का भार उठाकर महिलाएं परिवार में अपनी स्थिति, सम्मान और वैधता को सुरक्षित करती हैं। यह कठोर त्याग उनके लिए घरेलू दायरे में शक्ति और नैतिक अधिकार (Moral Authority) अर्जित करने का माध्यम बनता है।

जितिया पर्व का अनुष्ठानिक प्रारूप (Ritual Structure and Phases) जितिया पर्व का अनुष्ठान तीन मुख्य चरणों में संपन्न होता है, जो शुद्धता, त्याग और उत्सव के अनुक्रम को दर्शाते हैं।

नहाय-खाय (शुद्धिकरण का चरण) सप्तमी तिथि को महिलाएं प्रातः स्नान कर सात्विक भोजन ग्रहण करती हैं। इस दिन पारंपरिक रूप से मरुवा (रागी) की रोटी, तोरई (नोनी का साग/झिंगनी) और विशिष्ट स्थानीय सब्जियों के सेवन का विधान है। नदी अथवा तालाब के किनारे जाकर महिलाएं खल्ली (सरसों की खली) और तेल से पितरों तथा चील-सियारिन के प्रतीकों का तर्पण करती हैं। यह चरण अनुष्ठानिक शुद्धता का आरंभिक बिंदु है।

ओठगन और खुर जितिया (निर्जला उपवास का केंद्रीय चरण) अष्टमी तिथि के उषाकाल (भोर में तारों की छांव में) महिलाएं 'ओठगन' करती हैं, जिसके अंतर्गत जल और मीठे व्यंजनों का अंतिम सेवन किया जाता है। इसके पश्चात सूर्योदय के साथ 24 से अधिक घंटों का कठोर 'निर्जला' (बिना जल और अन्न) व्रत आरंभ होता है।

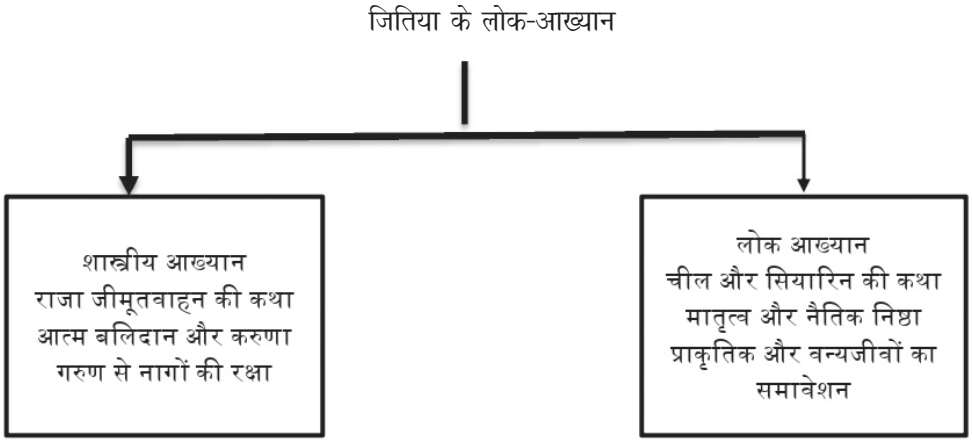
मिट्टी या गोबर के प्रतीकों का निर्माण घर के आंगन या सामुदायिक स्थल पर एक छोटा तालाब (पोखर) बनाकर पाकड़ की डाल गाड़ी जाती है। गोबर या मिट्टी से चील (चील्हो) और सियारिन (सियारो) की आकृतियाँ बनाई जाती हैं, जिन्हें सिंदूर और अक्षत से पूजा जाता है।

कुश (घास) से राजा जीमूतवाहन की प्रतिमा स्थापित की जाती है। लाल धागे में 'जितिया' (चांदी या धागे का लाकेट)

पिरोकर पूजा जाता है, जिसे बाद में महिलाएं अपने गले में धारण करती हैं।

पारण (अनुष्ठान की पूर्णता) नवमी तिथि को सूर्योदय के पश्चात पूजा-अर्चना के बाद यह उपवास खोला जाता है। पारण में नोनी का साग, मडुआ की रोटी, और विभिन्न प्रकार के कंद-मूल ग्रहण किए जाते हैं। इसके साथ ही यह कठिन शारीरिक और आध्यात्मिक यात्रा पूर्ण होती है।

लोक आख्यान और प्रतीक विज्ञान प्रकृति, सह-अस्तित्व और नैतिकता जितिया पर्व के साथ दो प्रमुख कथाएं नाभिकीय रूप से जुड़ी हैं, जिनका अपना स्वतंत्र समाजशास्त्रीय और पारिस्थितिकीय महत्व है



जीमूतवाहन का शास्त्रीय आख्यान गंधर्व राज जीमूतवाहन ने राजपाट छोड़कर वन में शरण ली थी। वहां उन्होंने देखा कि पक्षीराज गरुड़ के दैनिक भोजन के रूप में नाग माता शंखचूड़ को अपने पुत्र की बलि देनी पड़ रही थी। जीमूतवाहन ने उस माता के विलाप को देखकर स्वयं को लाल कपड़े में लपेटकर शिला पर रख दिया ताकि गरुड़ उन्हें खा जाए। उनके इस आत्म-बलिदान से प्रभावित होकर गरुड़ ने नागों को अभयदान दिया। यह कथा 'पर-हित' और 'मातृ-दुःख निवारण' के सार्वभौमिक मानवीय मूल्य को धार्मिक वैधता प्रदान करती है।

चील और सियारिन पारिस्थितिकीय और नैतिक द्वंद्व जितिया की सबसे लोकप्रिय कथा नर्मदा नदी के किनारे रहने वाली एक चील (चील्हो) और एक सियारिन (सियारो) की है। दोनों ने महिलाओं को देखकर जीवित्पुत्रिका व्रत रखने का संकल्प लिया। चील ने भूख-प्यास सहकर पूरे संयम से व्रत पूरा किया।, सियारिन भूख बर्दाश्त नहीं कर सकी और उसने श्मशान में जाकर गुप्त रूप से शव का मांस खाकर व्रत खंडित कर दिया।, परिणामस्वरूप, अगले जन्म में चील के सभी पुत्र जीवित और दीर्घायु रहे, जबकि सियारिन के बच्चे जन्म लेते ही मृत्यु को प्राप्त होते रहे।

प्रतीकात्मक विश्लेषण के रूप में यह लोक-आख्यान केवल 'निष्ठा बनाम छल' की नैतिक शिक्षा नहीं देता, बल्कि लोक-चेतना में वन्यजीवों (मांसाहारी और अपमार्जक जीवों—Scavengers) के प्रति गहरे जुड़ाव को दर्शाता है। जहाँ समाज में सियार और चील को प्रायः अपशकुन या निकृष्ट माना जाता है, जितिया का अनुष्ठान उन्हें माता के समकक्ष स्थापित कर पूजा का अनिवार्य हिस्सा बनाता है। यह लोक-संस्कृति के समावेशी और पारिस्थितिकीय आयाम को रेखांकित करता है।

जेंडर गतिशीलता क्या यह केवल 'पुत्र' का व्रत है? जितिया के पारंपरिक लोकगीतों में स्पष्ट रूप से 'बबुआ के दिह‌ऽ भगवान लामी उमरिया' (पुत्र को लंबी आयु देना) जैसे शब्दों का बाहुल्य मिलता है।

पितृवंशीय व्यवस्था का प्रभाव : ऐतिहासिक रूप से कृषि समाज और पितृवंशीय (Patrilineal) समाज में वंश की निरंतरता, संपत्ति के हस्तांतरण और वृद्धावस्था की सुरक्षा के लिए पुत्र का जीवित रहना अनिवार्य माना जाता था। बाल मृत्यु दर (Infant Mortality Rate) के उच्च दौर में यह पर्व पुत्रों के जीवन की रक्षा के लिए एक मनोवैज्ञानिक रक्षा-कवच

(Coping Mechanism) का कार्य करता था।

समकालीन रूपांतरणरू इक्कीसवीं सदी में शिक्षा और जेंडर संवेदनशीलता के प्रसार के साथ जितिया की मूल भावना में महत्वपूर्ण बदलाव आया है। आज शहरी एवं शिक्षित ग्रामीण समाज में माताएं इस व्रत को लिंग-तटस्थ (Gender-neutral) मानकर केवल 'पुत्र' के लिए नहीं, बल्कि अपनी 'संतान' (पुत्र एवं पुत्री दोनों) की दीर्घायु और समृद्धि के लिए अनुष्ठानित कर रही हैं। यह लोक परंपरा का समकालीन आवश्यकताओं के अनुसार आंतरिक अनुकूलन है।

सामाजिक समरसता और सामुदायिक सहभागिता जितिया पर्व में अनुष्ठानिक शुद्धता ब्राह्मणवादी व्यवस्था के कठोर नियमों से थोड़ी भिन्न होती है। इस पूजा में किसी पुरोहित की अनिवार्य उपस्थिति आवश्यक नहीं होती। मोहल्ले की वृद्ध अथवा अनुभवी महिलाएं स्वयं पुरोहिताई की भूमिका निभाती हैं। वे कथा वाचन करती हैं, गीत गाती हैं और युवा व्रतियों का मार्गदर्शन करती हैं। यह पर्व महिलाओं के लिए एक ऐसा 'सार्वजनिक स्पेस' (Female Public Sphere) निर्मित करता है, जहां जाति और आर्थिक वर्ग की सीमाएं कुछ समय के लिए शिथिल हो जाती हैं और मातृ-पहचान सर्वोपरि हो जाती है।

समकालीनता, प्रवासन और उपभोक्तावाद भूमंडलीकरण, शहरीकरण और उत्तर-आधुनिकता के दौर में जितिया के स्वरूप में संरचनात्मक परिवर्तन दिखाई देते हैं, जो निम्न हैं।

प्रवासन और डिजिटल जितिया बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश से महानगरों (दिल्ली, मुंबई, खाड़ी देशों) में हुए बड़े पैमाने पर प्रवासन ने पर्व के भूगोल को बदला है। अब संयुक्त परिवारों की अनुपस्थिति में महानगरों में रह रही प्रवासी महिलाएं वीडियो कॉल और यूट्यूब के माध्यम से कथा श्रवण कर पर्व का निर्वहन कर रही हैं। यह 'डी-टेरिटोरियलाइजेशन' (स्थान-मुक्ति) के बाद भी अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े रहने का सशक्त साक्ष्य है।

बाजार और उपभोग पारंपरिक रूप से नोनी का साग, मरुवा का आटा और मिट्टी के खिलौने स्थानीय स्तर पर उपलब्ध होते थे। वर्तमान में इन लोक-सामग्रियों का तेजी से कमोडिफिकेशन (Commodification) हुआ है। बाजारों में 'जितिया स्पेशल' पूजन किट, सोने-चांदी के विशेष लॉकेट और ब्रांडेड वस्त्रों का कारोबार इस लोकपर्व पर नवउदारवादी बाजार के प्रभाव को दर्शाता है।

निष्कर्ष (Conclusion)

जितिया (जीवित्पुत्रिका) पर्व भारतीय उपमहाद्वीप के पूर्वी अंचल की समृद्ध लोक-चेतना, पारिवारिक संरचना और मातृत्व की अद्वितीय अभिव्यक्ति है। यह व्रत समाजशास्त्रियों को यह समझने की दृष्टि प्रदान करता है कि कैसे कठिन भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों में मानवीय संबंध, विशेषकर मां और संतान का रिश्ता, अनुष्ठानों के माध्यम से मनोवैज्ञानिक संबल और सामाजिक सुरक्षा प्राप्त करता है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति में पितृसत्तात्मक संरचना और पुत्र-केंद्रित आग्रहों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है, किंतु इसकी अनुष्ठानिक प्रक्रिया में महिलाओं की स्वायत्तता, प्रकृति व वन्यजीवों का आदर, और सामुदायिक जुड़ाव इसे केवल एक संकीर्ण अनुष्ठान न बनाकर एक व्यापक लोक-संस्कृति के रूप में स्थापित करता है। समकालीन समय में इसका पुत्र-केंद्रित से संतान-केंद्रित दिशा में रूपांतरण यह सिद्ध करता है कि लोक परंपराएं जड़ नहीं होतीं; वे बदलते सामाजिक मूल्यों और मानवीय संवेदनाओं के साथ निरंतर संवाद करते हुए स्वयं को प्रासंगिक बनाए रखती हैं।

संदर्भ सूची (References)

Durkheim, É. (1912/1995). The Elementary Forms of Religious Life (K. E. Fields, Trans.). New York: Free Press.
Kandiyoti, D. (1988). Bargaining with Patriarchy. Gender & Society, 2(3), 274-290.
Marriott, M. (1955). Little Communities in an Indigenous Civilization. In M. Marriott (Ed.), Village India: Studies

in the Little Community (pp. 171-222). Chicago: University of Chicago Press.
Redfield, R. (1956). Peasant Society and Culture: An Anthropological Approach to Civilization. Chicago: University of Chicago Press.
Srinivas, M. N. (1952). Religion and Society among the Coorgs of South India. Oxford: Clarendon Press.
तिवारी, रामनरेश. (2012). भोजपुरी लोक-संस्कृति और नारी चेतना. पटनारू बिहार राष्ट्रभाषा परिषद.
वर्मा, धीरेंद्र. (2005). भारतीय लोक-संस्कृति के विविध आयाम. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन।
शास्त्री, विश्वंभरनाथ. (1988). सनातन व्रत और लोक परंपराएं. वाराणसी : चौखंभा सुरभारती प्रकाशन।

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

आधुनिक युग का खण्डकाव्य और नरेश मेहता

प्रो (डॉ.) कैलाश पति गोस्वामी
डी ए वी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सिवान -841226

आधुनिक युग में खण्डकाव्य के रचना-स्वरूप में परिवर्तन देखने को मिलता है। आज के खण्डकाव्य पुराने (परंपरित) खण्डकाव्यों से कुछ हटकर है। यद्यपि उपरोक्त कुछ विशेषताओं का अभाव रहता है, तथापि उसके उद्देश्यों, प्रभावोत्पादकता तथा महत्ता में कोई कमी नजर नहीं आती। प्रसाद का 'आँसू',निराला का 'तुलसीदास', मैचिली शरण गुप्त का 'पंचवटी', 'यशोधरा', 'जयद्रथबध', दिनकर का 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', नागार्जुन का 'भषमांकुर आदि ऐसे ही खण्डकाव्य हैं। इसी परम्परा में नरेश मेहता का खण्डकाव्य 'संशय की एक रात', आता है। नरेश मेहता का यह काव्य विचार-काव्य है। परंपरित काव्यों में कथा ही विचार को आगे बढ़ाती हैं, जबकि इन काव्य में विचार ही कथा को आगे बढ़ाता है। इनके काव्यों में प्रबंध-क्षमता के साथ-साथ संगीतात्मकता भी है। इनका प्रबंध स्थापत्य नया है, जो प्रबंध काव्य के पुराने अनुशासनों को तोड़कर विकसित होता है। ये मिथकों अथवा पुराकथाओं का अपने प्रबंध काव्यों में पुनर्सजन करते हैं। इसी दृष्टि से ये नए हैं।

नरेश मेहता का पहला खण्डकाव्य है- 'संशय की एक रात'। यह छंदोमुक्त शैली में लिखा गया है। आकार की दृष्टि से यह छोटा है। इसमें कुल तिरानवे पृष्ठ हैं। चूंकि यह छंदोमुक्त शैली में लिखा गया काव्य है। अतः कोई पंक्ति बड़ी है तो कोई छोटी। नाटकीय शैली में कोई एक पंक्ति का छंद है तो कोई एक शब्द का। अतः छंदों की निश्चित संख्या नहीं कही जा सकती है। इसमें चार सर्ग हैं, जो कुल एक हजार छह सौ बानवे पंक्तियों में विभक्त हैं। कोई पंक्ति एक शब्द की है तो कोई एक से अधिक शब्दों की। प्रत्येक सर्ग का नामकरण भी किया गया है। यह नवीन परम्परा है। पुराने प्रबंध-काव्यों में सर्ग का नामकरण नहीं मिलता। सिर्फ सर्ग की संख्या, यथा-प्रथम सर्ग, द्वितीय सर्ग, तृतीय सर्ग आदि। इसके प्रथम सर्ग का नामकरण 'साँझ का विस्तार और बालूतट' है। दूसरा सर्ग है 'वर्षा भींगे अन्धकार का आगमन। 'मध्यरात्रि की मंत्रणा और निर्णय' काव्य का तीसरा सर्ग है। 'संदिग्ध मन का संकल्प और सवेरा' काव्य का चौथा सर्ग है। इस तरह चार अलग-अलग सर्गों में बाँटा गया है। यह काव्य में एक नवीन प्रयोग है।

'संशय की एक रात' की घटना या कथा का आधार वाल्मीकि रामायण है। कवि ने इस काव्य में पौराणिक आख्यान के आधार पर समकालीन परिवेश में आधुनिक बोध को स्पष्ट करना चाहा है। कवि के शब्दों में-जिस प्रकार कुछ प्रश्न सनातन होते हैं, उसी प्रकार कुछ प्रज्ञा-पुरुष भी सनातन-प्रतीक होते हैं। राम ऐसे ही एक प्रज्ञा प्रतीक हैं, जिनके माध्यम से प्रत्येक युग अपनी समस्याओं को सुझालता रहा है।

आधुनिक युग में निरंतर युद्ध की समस्या तथा उसकी विभीषिका ही इस काव्य का मुख्य अभीष्ट है। वैसे इस काव्य में कवि ने निम्नलिखित समस्याएँ उठायी हैं :

-क. व्यक्ति की वैयक्तिकता सामूहिकता में बदल जाती है।

ख. युद्ध और शांति की समस्या।

ग. व्यक्ति के विराटत्व के साथ लघुत्व की प्रतिष्ठा।

ब. संशय की स्थिति तथा सामूहिक दायित्व बोध आदि।

'संशय की एक रात' की घटना या कथा का प्लॉट वाल्मीकि रामायण का वह भाग है, जब अपहृत सीता की प्राप्ति के लिए युद्ध की तैयारी हो रही है। युद्ध की पूर्व संध्या से पत्यूष की वेला तक राम का मन संशयग्रस्त हो जाता है। युद्ध हो कि न हो, इसको लेकर राम का मन उद्विग्न हो जाता है। सीता हरण की समस्या को राम अपनी व्यक्तिगत समस्या मानते हैं, जबकि लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव आदि इसे सामाजिक समस्या मानते हैं। सीता राम की पत्नी के साथ-साथ प्रजा की माता भी है। वह स्वतंत्रता का प्रतीक हैं, जिसका रावण द्वारा अपहरण हुआ है। हनुमान के शब्दों में -

''सीता माता
भले ही राम की पत्नी हो
किसी की बधू
किसी की दूहिता हो
पर
हम कोटि-कोटि जनों की तो केवल प्रतीक हैं-
रावण अशोक वन की सीता
हम साधारण जनों की अपहृत स्वतंत्रता।''

काव्य के अगले सर्ग में युद्ध-परिषद की बैठक होती है, जिसमें सर्वसम्मति से युद्ध करने का निर्णय लिया जाता है। राम इस निर्णय को स्वीकार करते हैं। 'राम की सम्पूर्ण संवेदना की विशिष्टता यह है कि जब वह एकान्तिक होती है तो सामूहिकता से ओत-प्रोत होती है और जब जीवन्त सामूहिकता को स्वीकार करती है तो नितान्त ऐकान्तिक हो जाती है। इन दोनों परस्पर विरोधी स्थितियों का समाधान ही इस प्रबंध तथा इसके कवि की समस्या है।

इस तरह, यहाँ प्रजातांत्रिक व्यवस्था की सार्थकता दिखाई गयी है। युद्ध की यह समस्या आज के संदर्भ में समसामयिक लगती है, जिसका समाधान कवि द्वारा नवीन संदभों में ढूंढने का प्रयास किया गया है। इसमें विचारों की प्रधानता है। कथा तो एक माध्यम मात्र है। अतः, युद्ध तथा उससे उत्पन्न अराजकता या विभीषिका की समस्या ही इस काव्य का वर्ण्य है।

जहाँ तक इस काव्य की पात्र-योजना का प्रश्न है, इनमें राम, सीता,लक्षमण, हनुमान, सुग्रीव, जटायु, नील, जामवंत, नल, दशरथ की छाया (मृतात्मा), विभीषण और रावण कुल एक दर्जन पात्र हैं। प्रस्तुत काव्य का प्रमुख पात्र 'राम' हैं, जिसके इर्द-गिर्द पूरा काव्य घूमता रहता है। युद्ध को लेकर राम की संशयग्रस्तता है। इस खंडकाव्य के माध्यम से कवि का व्यक्तित्व सामने आया है। आज का राम युद्ध नहीं चाहता। वह अनेक शंकाओं तथा समस्याओं से घिरा हुआ है, जिसका उत्तर उनके पास नहीं है। दूसरी ओर लक्ष्मण का मन संशयग्रस्त नहीं है, बल्कि उसमें एक तेज है, पौरुष है, कर्म की चुनौती स्वीकार करने का उत्साह तथा साहस है। वह आशावादी है। एक ओर जहाँ वह राम द्वारा युद्ध नहीं करने के तर्क से सहमत नहीं है, वहीं दूसरी ओर राम के माथे पर चिन्ता की रेखा भी देख नहीं सकता। वह अकेले अपने पौरुष के बल लंका पर चढ़ाई की बात करता है। हनुमान, सुग्रीव आदि साधारण जन के प्रतीक बनकर आए हैं, जिसके निर्णय को राम सामूहिकता मानकर स्वीकार करते हैं। यह प्रजातांत्रिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। नील अदृश्य छाया के बारे में राम को बताता है तथा नल, नील, जामवंत आदि उसे मायावी समझ राम से उसका पीछा नहीं करने की सलाह देते हैं। इस तरह, कथा-सूत्र आपस में जुड़ते चले जाते हैं।

गौण पात्रों में रावण एक बुरे पात्र के रूप में आया है। सीता का अपहरण, युद्ध की तैयारी, राम का संशयग्रस्त होना, युद्ध-परिषद् की बैठक तथा युद्ध करने का निर्णय आदि सभी कारणों के मूल में रावण ही है। अतः हम कह सके हैं कि बुरे पात्रों के माध्यम से ही काव्य के अच्छे पात्रों के चरित्र विकसित होते हैं। काव्य में रावण नहीं होता तो शायद राम का ऐसा चरित्र नहीं बन पाता।

काव्य के उद्देश्य का जहाँ तक प्रश्न है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-किसी की प्राप्ति इस काव्य में नहीं हुई है। इसमें

रस की कमी है। निर्वेद भाव ही इस काव्य के मूल में है। इस तरह, कवि ने अपने इस काव्य में प्रबंध के पुराने अनुशासनों को तोड़ते हुए नए संदर्भमें अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। विचार ही इस काव्य का उद्देश्य है। यह एक समस्या ग्रस्त, प्रशनाकुलताओं तथा संशयग्रस्त मनःस्थिति को उद्‌घाटित करने वाला काव्य है।

कभी-कभी मनुष्य की व्यक्तिगत समस्या भी सामूहिकता में बदल जाती है, जो मनुष्य की स्वतंत्रता तथा अस्तित्व बोध का प्रतीक होती है। व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, सामूहिकता के आगे उसे झुकना ही पड़ता है। यहाँ कवि ने राम के विराटरूप के सामने लक्ष्मण तथा अन्य के लघुत्व को भी महत्व दिया है। कवि का विचार है कि सत्य तथा मानवता की रक्षा के लिए युद्ध भी करना पड़े तो वह उचित है। यही इस खण्डकाव्य का उद्देश्य भी है।

इस काव्य में निर्वेद भाव की निष्पति हुई है। राम निर्वेद की स्थिति में स्वंय को पाते हैं तथा सामूहिकता के निर्णय को स्वीकार करते हैं।

अतः राम मानवता के द्वारा सत्य तक पहुँचना चाहते हैं। लेकिन वे तो दो सत्य, दो संकल्प और दो आस्थाओं के बीच घिरे हैं, जिससे निर्णय कर पाना संभव नहीं लगता। अर्थात् युद्ध हो कि न हो, यहीं द्वंद्व है। यही संशय है। आज सारी मानवता द्वन्द्व तथा संशय से घिरी हुई है।

वस्तुतः राम काव्य में यह सूक्ष्म संदर्भ घटनाहीन ही था, किन्तु कवि ने इसको जिस मनोवैज्ञानिकता और आधुनिक बोधवत्ता के साथ प्रस्तुत किया है, उससे स्पर्शित होकर यह प्रसंग महत्वपूर्ण बन गया है।

इस काव्य में वस्तु पक्ष की अपेक्षा विचार पर विशेष बल दिया गया है। इसके सभी पात्र आधुनिक बोध से मंडित हैं। यद्यपि राम का मन संशयग्रस्त है, तथापि एक आधुनिक प्रज्ञा-पुरुष हैं।

इस काव्य की भाषा-शैली भी निराली है। कवि ने इसमें नामधातु का प्रयोग अधिक किया है। संस्कृतनिष्ठ भाषा के साथ-साथ इसमें दो एक उर्दू-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि नरेश मेहता ने 'संशय की एक रात' के माध्यम से आधुनिक राम के व्यक्तित्व तथा उसकी समस्याओं को उद्घाटित किया है। इसमें कवि का व्यक्तित्व राम के माध्यम से सामने आया है। कवि गांधीवादी विचारधारा से भी प्रभावित लगते हैं। यह सही है कि आज का मानव युद्ध नहीं चाहता, लेकिन सामूहिकता के आगे तथा सत्य और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए युद्ध की अनिवार्यता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। भारतीय दर्शन या विचारधारा में सहनशीलता को कायरता नहीं समझा जाना चाहिए। व्यक्ति की वैयक्तिकता भी संकट के क्षणों में सामूहिकता में परिणत हो जाती है। यही इस खण्डकाव्य की विशेषता है।

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

TRADITION AND IMPERSONALITY IN THE LITERARY CRITICISM OF T.S. ELIOT

Sukhpreet Singh
Assistant Professor (English), Aryabhatta College, Barnala
Dr.Nirmal
Assistant Professor in English, Govt. Ranbir College Sangrur

Abstract

T. S. Eliot's essay ***Tradition and the Individual Talent*** (1919) occupies an important position in the development of modern literary criticism. Written partly against Romantic theories of poetry the essay challenges the assumption that poetry is primarily an expression of the poet's personal emotions and experiences. Eliot presents literary creation as a disciplined artistic process based on historical consciousness, intellectual effort and technical control. His concept of tradition does not refer simply to the preservation or imitation of earlier literature. It involves an active awareness of the literary past and its continuing relationship with the present. Closely connected with this idea is Eliot's concept of the "historical sense" through which the poet recognizes both the historical distance and continuing relevance of earlier works. His concept of impersonality suggests that emotions should be refined through art not expressed as they are. This paper looks at Eliot's views on tradition, historical sense, and impersonality and their importance in modernist criticism. It also discusses his opposition to Romanticism, his influence on New Criticism and major limitations identified by later critics particularly regarding the literary canon and the possibility of complete artistic impersonality. Thus the study argues that Eliot's critical theory is still relevant because it brings together individual creativity respect for literary history and artistic discipline in a complex yet meaningful way.

Keywords: T.S. Eliot, tradition, historical sense, impersonality, modernism, literary criticism, New Criticism

Introduction

T.S. Eliot occupies a significant position in twentieth-century literary history as both a poet and a critic. His poetry contributed substantially to literary modernism while his critical writings influenced the ways in which literary works were interpreted and evaluated. Among his most important critical essays is ***Tradition and the Individual Talent*** first published in 1919 and later included in ***The Sacred Wood (1920).*** The essay challenges several assumptions associated with Romantic literary theory particularly the idea that poetry should primarily be understood as the direct expression of the poet's individual emotions and personality.

The Romantic tradition frequently emphasized imagination, individual experience, emotional intensity and subjective expression. Eliot did not deny the importance of emotion in artistic creation but he questioned the belief that powerful personal feeling automatically produces great poetry. For him, poetry requires the transformation of experience through artistic discipline. The poet must possess knowledge of literary history technical ability, and the capacity to organize emotion into an artistic form. Two concepts are particularly important to Eliot's argument: tradition and impersonality. Tradition involves a conscious awareness of the literary past and its relationship with the present. A poet does not create in complete isolation; every new literary work enters an existing network of works, styles, forms, and ideas. Impersonality represents the other major dimension of Eliot's theory. Instead of treating poetry as personal confession, Eliot considers the poet's mind an instrument through which emotions and experiences are transformed into art.

This paper examines these principles and considers their importance for modern literary criticism. It also evaluates Eliot's contribution by considering both the strengths of his theory and limitations identified by subsequent literary scholarship.

Research Methodology

This study adopts an analytical and interpretative method to examine TS. Eliot's critical ideas. The primary source is Eliot's essay *Tradition and the Individual Talent* supplemented by his other critical writings and selected studies of his literary theory. The discussion is based on close examination of important passages from the essay and considers them within the broader context of modernist criticism. Particular attention is given to the relationship between tradition, individual creativity, historical consciousness, and impersonality. The study also considers the influence of these principles on later developments in literary criticism, especially New Criticism. Secondary critical works are used to contextualize Eliot's ideas and identify important criticisms of his theoretical position. The approach is primarily qualitative, focusing on interpretation, comparison, and critical evaluation rather than quantitative analysis.

Eliot's Understanding of Tradition

Eliot gives the concept of tradition a meaning that extends beyond the simple preservation or imitation of earlier literary works. For him, tradition requires active intellectual engagement with the literature of the past. A successful poet must develop what Eliot calls the "historical sense" which enables the writer to recognize the continuing relevance of earlier literature while understanding its position within its own historical period.

Eliot rejects the assumption that originality requires complete independence from previous writers. In his view, the poet who deliberately ignores the literary past may limit the possibilities of artistic development. Literary tradition provides a framework within which new writing can acquire meaning. Knowledge of earlier literature therefore becomes an essential component of individual creativity.

Eliot explains this relationship between the individual work and the larger literary tradition through the statement:

- "No poet, no artist of any art, has his complete meaning alone." (Eliot 38)

The statement suggests that a literary work cannot be fully understood without considering its relationship with other works. When a new work enters the literary tradition it does not simply receive influence from the past- it can also affect the way earlier works are interpreted. Literary

history is therefore not completely fixed. The emergence of significant new writing can lead readers to reconsider the position and meaning of works that already belong to the tradition. This idea gives Eliot's theory a dynamic quality. Tradition is not a collection of completed literary objects but an evolving system in which past and present remain connected. A new poem may initially appear to stand outside established expectations, but if it achieves lasting artistic importance. It can alter relationships within the existing literary order.

For Eliot, tradition cannot be acquired merely through cultural inheritance or admiration for earlier writers. It demands extensive reading, intellectual effort, humility, and artistic discipline. The poet must understand how different works and periods are connected. Individual talent therefore develops through engagement with a larger literary consciousness rather than through complete separation from literary history.

Eliot's approach also differs from that of Matthew Arnold. While Arnold emphasized the cultural and moral importance of literature, Eliot concentrated more strongly on relationships among literary works, artistic technique, and historical continuity. His approach consequently encouraged critics to pay greater attention to literary form and textual relationships.

Historical Sense and Literary Continuity

The ***historical sense*** is one of the central ideas in Eliot's theory of literary tradition. It requires the writer to possess an awareness of both the historical distance of earlier literature and its continuing presence in contemporary literary culture. The past is therefore not completely separated from the present. Earlier literature remains active within later writing and reading.For Eliot, historical consciousness involves more than knowing literary dates authors or movements. It requires an imaginative understanding of the relationship between different periods. The poet must recognize that literary works exist within a historical order while understanding that their significance can change when they are read from a later historical position.

Eliot describes the European literary tradition as an interconnected order in which individual works participate in continuing relationships. A poet who possesses historical consciousness understands that contemporary writing develops through interaction with what has already been written. At the same time, the arrival of a significant new work can influence how the literary past is understood.

This relationship between past and present makes literary development a process of continuity rather than complete separation. Innovation does not necessarily require rejection of earlier literature. Instead, originality can emerge through creative engagement with established literary forms, ideas, and traditions.

The concept is especially relevant to modernism because modernist writers frequently experimented with traditional forms while drawing upon earlier literature. Eliot himself combines references to different literary periods and cultures in his poetry. His critical theory therefore provides an intellectual explanation for how modernist innovation can coexist with historical continuity. Eliot's concept encouraged critics to examine literary works in relation to their historical and textual surroundings. Rather than treating a poem as an isolated creation, critics could investigate connections between periods, authors, genres, and literary traditions. This approach became an important part of twentieth-century literary studies.

The Theory of Impersonality

The principle of impersonality is another major component of Eliot's literary theory. Eliot rejects the assumption that poetry should simply communicate the poet's private emotions. For him, artistic creation involves the transformation of personal experience into a carefully constructed work of art.

He expresses this position most directly when he writes:

- "Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality." (Eliot 52–53)

Eliot does not mean that emotion has no place in poetry. Rather, personal feelings must undergo an artistic process before they become poetry. The poet's experiences, emotions, memories, and impressions are reorganized and transformed through imagination and technique. The resulting poem should therefore be considered an artistic creation rather than a direct record of the poet's private life. To explain this process, Eliot uses the analogy of a chemical catalyst. The poet's mind brings together different emotions and experience but the mind itself does not necessarily remain visibly present in the final artistic product. Like a catalyst that enables a chemical reaction without becoming part of the final substance, the poet's personality facilitates artistic creation without becoming the central subject of the completed poem.

The catalyst analogy emphasizes transformation. The poet is not simply a container of emotions who releases them through writing. Instead, the poetic mind functions as an active medium through which different experiences are combined and reorganized. The finished poem may therefore contain emotional intensity without functioning as direct autobiography. Eliot's theory creates a distinction between the person who experiences and the artist who creates. A poet may experience deeply personal emotions, but artistic achievement depends on the ability to shape those emotions into a form that communicates beyond the circumstances of individual experience.

This idea encouraged critics to concentrate more closely on the poem itself, including its language, structure, imagery, tensions, and relationships among its parts. Eliot's theory consequently became influential in the development of approaches that emphasized textual analysis rather than biographical interpretation.

Eliot's Opposition to Romanticism

Eliot's theory develops partly as a response to the Romantic conception of poetry. Romantic poets and critics frequently emphasized imagination, individual experience, emotional intensity, and subjective response. Eliot believed that excessive emphasis on personal expression could result in an understanding of poetry based primarily on the poet's personality rather than the artistic qualities of the poem. Instead, he stresses discipline, technique, intellectual control, and the transformation of emotion. For Eliot, powerful feelings alone do not guarantee successful poetry. What matters is the manner in which those feelings are organized and converted into an effective artistic form. His position contributed to the broader movement away from highly subjective models of literary expression that characterized aspects of nineteenth-century Romantic criticism. Within modernism, Eliot's emphasis on formal control and historical consciousness provided an alternative model in which literary creation was understood as a demanding intellectual and artistic activity.

At the same time, Eliot's opposition to Romanticism should not be interpreted as a complete rejection of emotion. His argument is better understood as a distinction between experiencing emotion and transforming emotion into art. The poet may experience intense personal feelings, but the final

poem should achieve an artistic form through which those feelings acquire wider significance.

Influence on Modern Criticism

Eliot's critical principles had considerable influence on twentieth-century literary criticism. His emphasis on attention to the literary work contributed to approaches that treated the text as an important object of critical study. Later critics associated with New Criticism developed related ideas concerning close reading, textual structure, ambiguity, irony, paradox, and the relative independence of the literary work from the author's biography.

Critics such as Cleanth Brooks shared Eliot's interest in examining literature through its formal and internal relationships. Critical attention shifted from asking primarily about the author's personal experiences toward examining how language and structure generate meaning within the work. Eliot's concept of tradition also influenced discussions of literary history and originality. His argument suggests that originality should not be understood simply as complete separation from the past. A writer can produce something new while remaining deeply connected to earlier literary traditions.

The influence of Eliot's ideas can also be seen in the development of twentieth-century formalist criticism. Although Eliot was not identical with New Criticism, his emphasis on artistic structure and impersonality provided an important intellectual background for approaches that focused on the internal organization of literary texts. His ideas have continued to generate discussion concerning the literary canon, cultural inheritance, originality, historical interpretation, and the relationship between authors and their works. Although later theoretical approaches have challenged several aspects of Eliot's position, his essay remains an important reference point in modern literary criticism.

Critical Evaluation

Eliot's theory offers several important contributions to literary criticism. His understanding of tradition encourages writers and readers to recognize that literature develops through relationships between different generations of texts. His concept of historical sense provides a way of understanding literary change without treating every new work as completely independent from the past. His theory of impersonality similarly draws attention to the distinction between personal experience and artistic form. By emphasizing transformation rather than direct self-expression, Eliot highlights the importance of craftsmanship, selection, structure, and technique in creative work.

Another significant aspect of Eliot's approach is the relationship it establishes between tradition and originality. He does not simply argue for imitation of established writers. Instead, he proposes that originality can emerge when a writer possesses sufficient knowledge of tradition to enter into a meaningful relationship with it. This challenges the simplistic opposition between tradition and innovation. However, Eliot's approach has also attracted criticism. The idea that a literary work can achieve complete impersonality is difficult to maintain because an author's language, cultural environment, social position, and intellectual background can influence the work. Later approaches have therefore questioned whether the author can ever be entirely separated from the text.

Eliot's conception of tradition has also been criticized for its strong emphasis on the European literary canon. His discussion gives particular importance to a Western literary heritage, which can make his model appear limited from the perspective of non-Western, postcolonial, feminist, and other literary traditions. Later critics have expanded the idea of literary tradition by drawing attention to voices and cultures that received less recognition in earlier canonical models.

The relationship between the author and the text has also become more complex in later literary

theory. Structuralist, poststructuralist, feminist, postcolonial, and reader-response approaches have questioned the assumption that textual meaning can be adequately understood through formal relationships alone. These approaches have emphasized language, ideology, culture, gender, history, readers, and institutions in the production of literary meaning.

Nevertheless, these criticisms do not remove the importance of Eliot's contribution. They demonstrate how literary theories can be reconsidered from different historical and cultural perspectives. Eliot's ideas remain useful because they continue to generate questions about authorship, originality, historical influence, and literary value.

Conclusion

T.S. Eliot's "Tradition and the Individual Talent" presents a distinctive understanding of the relationship between individual creativity, literary history, and artistic expression. His concept of tradition requires the writer to develop an active awareness of earlier literature, while his idea of historical sense connects the literary past with contemporary creativity. Eliot argues that originality does not necessarily depend upon rejecting tradition; instead, it can develop through knowledgeable and creative engagement with it. His theory of impersonality further changes the way poetic creation is understood. Rather than viewing poetry as a direct statement of the poet's personal feelings, Eliot considers it a process through which experience and emotion are transformed into an organized artistic form. This emphasis on artistic discipline contributed significantly to modernist aesthetics and later critical approaches centred on close textual analysis.

Eliot's theory is not without limitations. His emphasis on European literary tradition raises questions about cultural inclusiveness, while the idea of complete impersonality has been challenged by approaches that emphasize the historical, cultural, and social dimensions of literary production. These criticisms have expanded rather than eliminated the questions raised by Eliot.

Ultimately, Eliot presents poetry not as unmediated personal expression but as a process of artistic transformation. Individual talent acquires significance through its engagement with the larger history of literature, while personal emotion achieves artistic value through discipline, organization, and technique. His continuing influence demonstrates the importance of his attempt to establish a relationship between creativity and continuity. Even when later critics disagree with his conclusions, Eliot's concepts of tradition, historical sense, and impersonality remain important reference points for understanding modern literary criticism and the relationship between the poet, the poem, and literary history.

Works Cited

Arnold, Matthew. Essays in Criticism. Macmillan, 1865.

Brooks, Cleanth. Modern Poetry and the Tradition. University of North Carolina Press, 1939.

Bush, Ronald. T. S. Eliot: A Study in Character and Style. Oxford University Press, 1984.

Eliot, T. S. "Tradition and the Individual Talent." The Sacred Wood: Essays on Poetry and Criticism, Methuen, 1920, pp. 37–58.

Gardner, Helen. The Art of T. S. Eliot. Faber and Faber, 1949.

Kenner, Hugh. The Invisible Poet: T. S. Eliot. McDowell, Obolensky, 1959.

Leavis, F. R. New Bearings in English Poetry. Chatto and Windus, 1932.

Moody, A. David. Thomas Stearns Eliot: Poet. Cambridge University Press, 1979.

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

विकलांगता विषयक साहित्य में विकलांग पात्रों का चित्रण

शरद कुमार मिश्रा
शोध छात्र, हिन्दी

हिन्दी साहित्य में पिछले वर्षों से स्त्री विमर्श, दलित विमर्श तथा जनजातीय विमर्श, नये विमर्शों के रूप में उभर रहे विमर्श हैं। जिसमें एक तरफ उपेक्षित समुदाय, हाशिये के लोगों को मुख्यधारा में लाने का अवसर मिला है तो दूसरी तरफ हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि भी है। साहित्य समाज का दर्पण है, तो निश्चित ही इसमें स्त्री, दलित, जनजाति, अन्य समाज का प्रतिबिम्ब तो दिखाई ही पड़ना चाहिए। पिछले वर्षों से सोशल इन्क्लूजन[1] की अवधारणा भी समाज के अति उपेक्षित लोगों के बारे में भी सोचने पर मजबूर कर दिया। परिणाम स्वरूप दलित, स्त्री, जनजाति के लोगों के साथ-साथ विकलांग लोगों के प्रति भी एक नयी सोच बनी है। वह चाहे विरोध के परिणाम स्वरूप या न्यायिक प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप या सामाजिक न्याय की अवधारणा के परिणाम स्वरूप विकसित हुई हो, परन्तु उससे हाशिए के लोगों को मुख्यधारा में शामिल करने में काफी हद तक सफलता प्राप्त हुई है। इन लोगों को भी देश के संसाधनों के समान उपयोग तथा मुख्यधारा में लाने और देश के विकास में समान रूप से कदम से कदम मिलाकर योगदान देने की बात सामने आई है।

यह सब स्त्री, दलित, जनजातीय आन्दोलनों से सम्भव हो पाया है। हालांकि इस प्रक्रिया में न्याय प्रणाली की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व में विकलांगों के प्रति कुछ लोगों का नजरिया बदला है। उन्हें भी मुख्यधारा में लाया जा रहा है। इसके लिए न्यायिक प्रक्रिया के साथ-साथ सामाजिक आन्दोलनों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारतवर्ष में भी विभिन्न आन्दोलनों के फलस्वरूप विकलांगों को समान अवसर सहभागिता की प्राप्ति हुई है। इस सबका प्रतिबिम्ब साहित्य पर भी पड़ा है, क्योंकि साहित्य समाज की गतिविधियों से अछूता नहीं रह सकता। हिन्दी साहित्य में विकलांग स्त्री की जीवन गाथ्ज्ञा, उसके जीवन के यथार्थों का वर्णन जीवन्त रूप में किया गया है। विभिन्न विकलांग आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप हिन्दी साहित्य में पाश्चात्य साहित्य की भांति विकलांग पात्रों पर प्रचुर मात्रा में लेखन कार्य किया गया है। हमारे शोधपत्र का केन्द्र विकलांग स्त्री होने के नाते हम यहां मात्र विकलांग स्त्री की पीड़ाओं, उसके जीवन के कष्टों आदि का वर्णन हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में यहां कर रहे हैं।

स्त्री विषयक लेखन, दलित लेखन, जनजाति लेखन के साथ-साथ हिन्दी साहित्य में विकलांगता विषयक लेखन भी पुष्पित एवं पल्लवित हो रहा है। विकलांग स्त्रियों का जीवन आज कम कठिन नहीं है। वे विकलांग पुरुषों की तुलना में और अधिक शोषण का शिकार हो रही हैं। इस प्रकार के साहित्य में कई स्थलों पर देखा जाता है कि उन्हें जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं से भी दूर रखा जाता है। विकलांग युवती के विवाह के लिए अनेक समस्याएं आती हैं। जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—''मि. साईमन ने फिर अपनी बात आगे बढ़ाई—बेटी! तुम इस पोजीशन में नहीं हो, अब कौन तुमसे विवाह करेगा?...''[2]

'पोलियो' कहानी की पात्र भी विकलांग है—''मणिका जो पोलियोग्रस्त है वह अपनी यौन भावनाओं को संतुष्ट करना चाहती है परन्तु विकलांग होने के कारण वह अपनी इस भावना की संतुष्टि नहीं कर पाती। वह अपने मित्र से कहती है—

''आप मुझे जानते हैं कि मैं क्या चाहती हूं।''[3]

विकलांग स्त्री पात्रों पर अनेक पाप करे जाते हैं। इन पापों के कारण उनका जीवन नर्क बन जाता है। उनको जला दिया जाता है, जबरन यौन शोषण किया जाता है। उनको अनेक यातनाएं दी जाती हैं। घरों में बन्द रखा जाता है। उनका मन मारा जाता है। उनको जानवरों के रूप में पीटा जाता है। यह विमर्श अस्मितामूलक विमर्शों में एक नया अध्याय जोड़ता है।*

** प्रो. डॉ. ओम मिश्र के साथ लिखे शोधपत्र का सन्दर्भ।*

विकलांग स्त्री पात्रों में भी कई आदर्श स्त्री पात्र हैं जो दिव्यांग हैं।

विकलांग लोगों से सम्बन्धित कई विचार समाज में प्रचलित हैं। इनको पूर्वजन्म का पाप माना जाता है। कुछ इनके पुनर्वास के द्वारा इन्हें मुख्य धारा में जोड़कर अपना पल्ला झाड़ लेना चाहते हैं। इसी धारणा के अन्तर्गत या फलस्वरूप विकलांग लोगों के शरीर को चिकित्सा के द्वारा ठीक किया जाता रहा है परन्तु सबसे बड़ी समस्या यह है कि एक विशेष संरचना वाले व्यक्ति को समाज उसकी दिव्यांगता से बहुत दूर रखता है। समाज के लोग बचपन से ही जिस प्रकार बालिकाओं के मन में लड़की बनने की प्रक्रिया को भर देते हैं जैसे-चूड़ी पहनाना, पायल पहनाना और विशेष प्रकार के कपड़े पहनाना और तौर-तरीके जो लड़कियों के लिए निश्चित् कर दिये जाते है। जबकि ऐसा नहीं है—कपड़े तो किसी भी प्रकार के पहने जा सकते हैं। लेकिन समाज में लड़कियों के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए या उनके सामाजीकरण के लिए कुछ मानक निश्चित कर दिये हैं। जिससे उनके मन में हीनता की भावना जन्म लेती जा रही है और वे उस दायरे से बाहर नहीं निकल पातीं। इसी प्रकार दिव्यांग बच्चों के, दिव्यांग गुणों को समाज ने उनके अन्दर ही दफन कर दिया है। जिसके कारण उनके दिव्यांग गुण बाहर ही नहीं निकल पाते जैसा कि विनोद कुमार मिश्र ने लिखा है—''वस्तुतः विकलांग व्यक्ति में जन्म लेने वाले निराशा-भाव के लिए स्वस्थ लोग उत्तरदायी हैं जो एक अपंग को यह एहसास दिलाने के लिए अपराधी है कि वह शारीरिक या मानसिक तौर पर विकृत है। सहानुभूति में व्यक्त किये गये सुन्दर शब्दों के माध्यम से भी वह उनमें हीनता भाव जागृत करते हैं।''[4]

इस प्रकार दिव्यांगों को दिव्यांग न बनाने के लिए समाज उत्तरदायी है कि वह उनके दिव्यांग गुणों को पहचान नहीं पाता और इस कारण दिव्यांग व्यक्ति स्वयं को अनुपयोगी महसूस करने लगता है, जैसा कि निम्नपंक्तियों से स्पष्ट है—''किसी एक या दूसरी परिस्थिति में हम में से हर कोई कभी न कभी अपने आपको असमर्थ पाता है। उदाहरणार्थ-एक अत्यधिक लम्बाई वाला व्यक्ति स्वयं को बस के भीतर ठीक प्रकार से सिर ऊँचा करके खड़ा होने में असमर्थ पाता है। तो वह स्वयं को अशक्त महसूस करता है।''[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज में दिव्यांग व्यक्तियों की दिव्यांगता को समझने में लोग रुचि नहीं लेते है। इस विषय में ओलिवर नामक विद्वान् ने लिखा है—''विकलांगता एक व्यक्तिगत त्रासदी या दुर्घटना है जिसमें विकलांग व्यक्ति कई बार यह अनुभूति करता है कि इस जीवन से मृत्यु अच्छी है इस प्रकार विकलांगता एक त्रासदी भी है। इसके लिए समाज भी जिम्मेदार है ''नितान्त वैयक्तिक स्तर पर होने वाली कठिनाई, कमी या अभाव ही मानते हैं जो कि किसी व्यक्ति के अंग के कार्य करने में असमर्थता या उसके पूरी तरह न होने के कारण होती हैं और इससे उस व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है। वे समाज को इसके लिए उत्तरदायी नहीं ठहराते।''[6] क्योंकि वे एक समाजशास्त्रीय विचारक नहीं है। कुछ विद्वानों ने विकलांगता को दिव्यांगता के दृष्टिकोण से देखा है। यह भारत के बहुज्ञ प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी के विचारों का प्रभाव भी है क्योंकि दिव्यांग शब्द उन्होंने ही अपने भाषण में पहली बार प्रयोग किया। हिन्दी साहित्य की विभिन्न कहानियों में विकलांगों के प्रति दया विषयक दृष्टिकोण को निरूपित करने का प्रयास किया गया है परन्तु कुछ एक कहानियों को छोड़कर विकलांगों की पीड़ा को उकेरने का प्रयास कम ही हिन्दी साहित्य में मिलता है। जबकि दिव्यांग विमर्श मुख्य रूप से उनकी दिव्यांगता को पहचानने पर केन्द्रित है और उनके जीवन की समस्याओं, उपलब्धता और अनुपलब्धता पर विमर्श करता है। विकलांगता के सामाजिक संदर्भ पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि विकलांग के दिव्यांग गुणों को न देखने में समाज मुख्य रूप

से उत्तरदायी है और वह दिव्यांग को दिव्यांग बनाने के लिए कोई प्रयत्न ही नहीं करता। दिव्यांग-विमर्श के अन्तर्गत मुख्य रूप से निम्न पहलुओं पर विचार किया गया है–

1. दिव्यांगों की दिव्यांगता को पहचानना।
2. उनकी समस्या को पहचानना।
3. उनके लिए उचित कैरियर की पहचान करना।
4. उन्हें शिक्षित एवं स्वावलंबी बनाना।
5. दिव्यांगों के लिए जो बाधाएं तथा समस्याएं समाज के द्वारा निर्मित की गई हैं जैसे-दिव्यांग व्यक्ति को उचित कार्य पर न लगाना, उनके लिए कार्य की पहचान न करना, विभिन्न सामाजिक स्थलों की संरचना सही तरह से न करवाना। शैक्षणिक संदर्भ में भी दिव्यांग छात्राों को स्कुलों में पहुंचने के लिए अनेकों बाधाओं का सामना करना पड़ता है। शिक्षा संस्थानों में दिव्यांगों की व्हील चेयर प्रवेश ही नहीं कर पाती। पुस्तकालय में भी वे नहीं घुस पाते हैं। स्कूल जाने के लिए बसों में उनके प्रवेश करने के लिए उचित स्थान का अभाव है। इसी प्रकार नेत्र दिव्यांगों के लिए ब्रेल में शिक्षण सामग्री की अनुपलब्धता आदि भी दिव्यांगों के विकास में बाधा सिद्ध होती है, जैसाकि निम्नपंक्तियों से स्पष्ट है–''विकलांगता को एक ऐसी बाधा के रूप में देखा गया जो सामान्य क्रिया कलापों को करने में कठिनाई उत्पन्न करती है और जिसकी उत्तरदायी बहुत सीमा तक सामाजिक संस्थाएं भी हैं जो उनके प्रति संवेदनशील नहीं हैं उनकी इसी असंवेदनशीलता को कारण वे सामाजिक संस्थाएं उन्हें मुख्यधारा से निलंबित करती है।''[7]

इस प्रकार दिव्यांगता के सामाजिक पहलूओं को भी समझना अत्यन्त आवश्यक है, जैसे-ऊँचे भवनों में आने-जाने के लिए सुगम रास्ते बनाये जाये। पुस्तकालयों में दिव्यांगों के प्रवेश के लिए उचित रास्ता तथा लिफ्ट का निर्माण किया जाए। किसी भी पब्लिक यातायाता के साधन में दिव्यांगों को प्रवेश के लिए नीति सुनिश्चित की जाए। दिव्यांग बालक के प्रति समाज और उसके परिवार का रवैया भी महत्वपूर्ण होता है क्योंकि दिव्यांग व्यक्ति को अपने परिवार में उपेक्षा का सामना करना पड़ता है उसे लोग निरर्थक अवयव के रूप में देखते है। दिव्यांग छात्राों को सामाजिक समारोहों, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक कार्यक्रमों में उपेक्षित किया जाता है। जिसके कारण वह हीनता की भावना से ग्रसित हो जाता है और अत्यधिक निराश हो जाते हैं। 13 मई को हिन्दुस्तान टाइम्स में प्रकाशित आर्टिकल में शरणवाल ने लिखा है–''वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में व्यावहारिक बुद्धि की तुलना में भावनात्मक बुद्धि की भी काफी आवश्यकता है। जिसे अक्सर हीनदृष्टि से देखा जाता है। सच्चाई यह है कि बुद्धि समाज में आपसी सौहार्द रखने और दमककारी वर्ग को आत्महत्या तक करने के निर्णय से बचाती है।''[8]

इसी प्रकार 'सुगम्य भारत' नामक पुस्तक में डॉ. मिश्र ने लिखा है कि दिव्यांगों की दिव्यांगता को बढ़ाने के लिए सुगम्यता की आवश्यकता हैं। चाहे दिव्यांग, नेत्राहीन हो या अस्ति या श्रवण दिव्यांग, सभी के लिए उचित वातावरण के निर्माण की आवश्यकता है। दिव्यांग बालिकाओं के जीवन में, दिव्यांग लड़कों की अपेक्षा ज्यादा संघर्ष और परिस्थितियों से जूझना पड़ता है। एक आम लड़की को दिव्यांग होने के कारण शिक्षा दिलाने से भी उसके अभिभावक कतराते रहते है। अतः दिव्यांग बच्चियों के लिए शिक्षा अर्जित करना और भी अधिक संघर्ष भरा और जोखिम का कार्य है। इस संदर्भ में विभिन्न शिक्षाविदों ने अपने विचार व्यक्त किये है। दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षाविद् डॉ. अनिल सद्गोपाल ने लिखा है–''...ऐसे भी विशिष्ट शिक्षा संस्थानों से वंचित रहने के पश्चात् विकलांग बच्ची जिस जीवन को भोगती है वह जीवन कठिनाइयों व दर्द का अनवरत सिलसिला मात्रा होता है। केवल परिवार ही इस बात को समझ सकता है कि शिक्षा और स्वावलंबिता ही एक अपंग बच्ची को कुछ सीमा तक एक सामान्य जीवन जीने के औजार प्रदान कर सकती है। इसलिए उनके लिए शिक्षा की दिशा में अवनरत प्रयासरत होना आवश्यक है।''[9]

दिव्यांग बच्चियों के संदर्भ में सूसन बिन्डेल ने भी लिखा है–''एक विकलांग लड़की का शरीर एक ऐसा शरीर है जो समाज द्वारा ठूकराया गया है, अस्विकृत है। उसे समाज सदैव उपेक्षा की दृष्टि से देखता है और कन्या धन होने के नाते यह एक ऐसा धन है जो खोटे सिक्के की तरह विवाह नामक बाजार के मेले में नहीं चल सकता। इसलिए इस शरीर को नकारात्मक

रूप में देखा जा सकता है।''[10] इस प्रकार स्पष्ट है कि विकलांग लड़कियों की दिव्यांता को पहचानने का कार्य करना चाहिए और उन्हें मुख्य धारा में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें सबसे पहले शिक्षा के महत्व को बताना चाहिए क्योंकि शिक्षा के हथियार से ही वे इस समाज से लड़ सकती है।

हिन्दी साहित्य में विभिन्न चरित्रों को लेकर लेखकगण सृजन करते रहे और प्रत्येक रचना में कोई-न-कोई मुख्य चरित्र पुरुष के रूप में निर्मित करते रहे। इन चरित्रों में विकलांग चरित्र भी गई रचनाकारों की रचनाओं में चित्रित किए गए है। इन रचनाओं में इन चरित्रों के जीवन से संबंधित विभिन्न समस्याओं पर भी ध्यान डाला गया है। जो जीवन उन्होंने दिया है उसका निरूपण इन रचनाओं में मिल जाता है। जैसे प्रेमचन्द के द्वारा लिखे गए उपन्यास रंगभूमि में सूरदास नाम के चरित्र का सृजन प्रेमचन्द ने अपने गांव के एक अंधे भिखारी से प्रेरित होकर सृजित किया और उसका नाम भी सूरदास रखा। प्रेमचन्द ने लिखा है कि अंधे व्यक्तियों का धरा-धराया नाम जो समाज में प्रचलित है सूरदास और इनका काम गाना गाना और भीख मांगना है।[11] इसी तरह अन्य रचनाओं में भी जैसे वाणभट्ट की आत्मकथा आदि में इसी प्रकार के विकलांग पात्रों का सृजन किया गया है।[12] रागदरबारी में भी एक लंगड़ नाम का पात्र है जो कोर्ट-कचहरी के चक्कर लगता है और सिस्टम से लड़ता रहा है परन्तु वह हार नहीं मानता।[13] उसी प्रकार मृदुला सिन्हा सृजित उपन्यास ज्यों मेंहदी को रंग में डॉ. अद्दा और शालिनी भी पैरों से विकलांग है परन्तु वह भी संघर्षशील और अपनी दिव्यांगता को पहचानकर समाज में अपनी पहचान बनाते है।[14] इन कथाकारों ने विकलांग जीवन के संघर्षों, समाज के भष्टाचार, दिखावेपन अकेलेपन और तनाव से पोषित जीवन का निरूपण किया है। विकलांग स्त्री पुरुषों के संबंधें को लेकर भी तमाम कहानियां हिन्दी कथा साहित्य में मिल जैसे वैसाखी कहानी में कहानी का नायक ऑटोरिक्सा ड्राईवर है और बहुत ही मेहनती आदमी है परन्तु एक दुर्घटना का उसका एक पैर कट जाता है और उसी दिन से वह निकम्मा हो जाता है। उसकी पत्नी टांग के दर्द दूर करने के लिए उसे किसी के कहने पर शराब की बोतल लाकर दे देती है और वह शराब पीने लगता है। इसके बाद धीरे-धीरे वह शराबी बन जाता है। और वह कुछ भी नहीं करना चाहता। उसकी पत्नी जो उसकी प्रेमिका है जिसे वह पहले बहुत प्रेम करता था अब वह उसके लिए कुछ भी नहीं सोचता।[15] कहानी में दिव्यांगता की बात भी की गई है।

कहानी की नायिका उस विकलांग व्यक्ति की पत्नी कहती है मैं ही उसकी वैशाखी बन गई थी। ना ही उसे शराब लाकर देती और ना ही वह अपनी दिव्यांगता को भूलता। इस प्रकार इस रचना में दिव्यांग चरित्र के निर्माण के बारे में महान संदेश दिया गया है। इस साहित्य में मानवीय जीवन के विभिन्न पहलूओं को उजागर किया है। जैसे अजनवीपन, अकेलापन, ठहराव, कलहपूर्ण जीवन, गांव से शहर तक भटकता जीवन, समाज अजनवी, शासन अजनवी, पड़ोसी अजनवी सब कुछ तो अकेलेपन और अजनवीपन से भर गया है। ऐसे वातावरण में विकलांगों का जीवन और भी नर्क बन जाता है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में विभिन्न दिव्यांग चरित्रों के जीवन से जुड़ी हुई बहुत सी समस्याओं जैसे पारिवारिक, सामाजिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य संबंधी, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक सभी समस्याओं का विश्लेषण और उसका समाधन जैसा कि हिन्दी साहित्य में निरूपित है का विश्लेषण और मूल्यांकन किया जायेगा।

KANCHANLATA ISSN : 2321-0540
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Print Research Journal

धूमिल के पत्रों में समकालीनता बोध

विनय कुमार विश्वकर्मा
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार

धूमिल की दो डायरियाँ उनके मरने के बाद प्रकाशित हुई है। धूमिल समग्र में उनके कई पत्र प्रकाशित हुए हैं। इन पत्रों और डायरियों में धूमिल ने अपने समकाल को चित्रित किया है।

धूमिल के पत्रों और उनकी डायरियों के नोट्स पढ़ने पर उनका समकालीनताबोध स्पष्ट होता है। धूमिल अपने समकालीन साहित्यकारों, समकालीन परिवर्तनों और समकालीन उपलब्धियों पर बड़ी गहरी नजर रखते हैं।

धूमिल का समकालीनता के संबंध में अलग चिंतन है।

धूमिल लिखते हैं–

''समकालीन होना एक ऐतिहासिक समझ है और नवगीतात्मकता एक शैली। शैली को समकालीनता समझना सिर्फ विचारों से विदाई पर एक सतही अभिभाषण है। समकालीन होने का मतलब हैः स्वतंत्रता की पूरी समझ और उसकी चरितार्थता के लिए पहल। भ्रम की मुक्ति के लिए कारगर कोशिश। भाषा-शैली इत्यादि समकालीन होने में कतई अवरोध नहीं बनते। शोषण के विरूद्ध सक्रिय प्रतिरोध आततायी के खिलाफ आक्रामक रूख सर्वहारा वर्ग की सामूहिकता और स्वतंत्रता का सक्रिय स्वीकार, साथ ही साम्यवाद विचार-पद्धति को व्यवहार-प्रक्रिया में तब्दील करनेवाला-आपके प्रशिक्षित जनमत का जागरूक सदस्य ही समकालीन हो सकता है अन्यथा एक भेड़िया भी दूसरे भेड़िया का समकालीन होता। ऐसे ही, सलवार एक अचकन का समकालीन कहला सकती। जैसे यह कि बहुमत की 'स्वतंत्रता' का अपहरण नहीं किया जा सकता, जैसे यह कि 'गुलाम बनाने का युग लद चुका है', 'पूँजी के जुए से भ्रम की मुक्ति अवश्यंभावी है'- ये विचार समकालीन हैं। जो भी सोचता है, जीता है, इसके लिए सक्रिय है, वह चाहे जिस उम्र, देश, भाषा का व्यक्ति है, समकालीन है।[1]

12 अक्टूबर 1966 को धूमिल ने काशीनाथ सिंह को पत्र लिखा। इस पत्र में उन्होंने उस समय के आरा कांड का विवरण दिया है। इसी पत्र में उन्होंने यह भी खुलासा किया है कि वे अपने समकालीन लेखकों को खूब सुनते और पढ़ते हैं। यह उनकी समकाल के प्रति जिज्ञासा नहीं तो और क्या है?

धूमिल का पत्र : काशीनाथ सिंह के नाम

आई.टी.आई.
सहारनपुर
12.10.66

प्रिय काशी,

कुछ चिट्ठियाँ होती हैं, जो आदमी की तरह बोलती हैं। तुम्हें पढ़ते हुए लगता है कि मैं तुम्हारे सामने हूँ, एकदम सामने और अलग नहीं हूँ ।

'आरा- कांड' से मुझे हार्दिक खुशी हुई। उन्हें जानना क्या जरूरी था, जितना उन्हें समझा देना जरूरी था और तुमने

वह किया जिसकी मुझे उम्मीद थी। तुमने लिखा है कि मैं सोच भी नहीं सकता। काशी, यह तुमने गलत लिखा है यार। मैं इसे कितना जानता हूँ, यह मैं जानता हूँ। हाँ, तुम्हारा ऐब भी मैं जानता हूँ खुद के लिए एक खास तरह की उदासीनता तुममें है। वैसे तुम क्या हो कि एक चीज हो। शर्त यह है कि मगर खुलो। मैंने तुम्हें खुले रूप में देखा है पूरे जोम और सच्चाई के साथ। मैंने समकालीन लेखकों को सुना है और पढ़ा है और मैं जानता हूँ कि किसमें क्या दम है और कितनी ईमानदारी है। यही कारण था कि मैंने आरा जाने के लिए तुमसे जोर दिया था।

तुम्हारी सफलता पर मैंने खुद को बधाई दी। तुम्हें भला आपत्ति ?[2]

1 अप्रैल 1966 को धूमिल ने नामवर सिंह के नाम पत्र लिखा है और इस पत्र में उन्होंने नवलेखन विमर्श गोष्ठी के बारे में परिचर्चा की है। यह भी उनका समकालीन बोध ही है–

धूमिल के पत्र : नामवर सिंह के नाम

नवाबगंज, वाराणसी
01.04.1966

आदरणीय मास्टर साहब,

ले-देकर नवलेखन विमर्श गोष्ठी खत्म हुई। खास बात जो इस बार देखने में आई, वह यह कि अगले वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष 'सेतु' वाले हम लोगों को अपने साथ रखने के लिए काफी चिन्तित थे। इसके लिए 20.03.66 को (यानी गोष्ठी से हफ्ता भर पहले एक 'अतिरिक्त' गोष्ठी बुलाई गई जिसमें कुछेक को छोड़कर करीब-करीब सभी लोग (काशी के) उपस्थित थे। वाराणसी के सभी लोगों को बुलाने पर जोर दिया गया। बात विष्णुचन्द्र शर्मा ने उठाई थी कि वाराणसी में हो रही गोष्ठी में यहाँ के सभी साहित्यिक तो कम-से-कम आएँ ही। दूसरे परिपत्र के वक्ताओं के नामों पर मेरी आपत्ति थी और यह कि उनमें से अधिकांश कलकते में बहुत कुछ कह गुजरे थे। मेरी आपति से बाबू शिवप्रसाद जी नाराज हो गए, और उन्होंने कहा कि वे अपना निबंध नहीं पढ़ेंगे। खैर, डॉ. बच्चन सिंह ने किसी तरह उन्हें समझाया और बात आगे शुरू हुई और तय किया गया कि सभी लोगों को बुलाया जाएगा और 'नये लोगों' को बोलने के लिए आमंत्रित किया जाएगा।[3]

28 अप्रैल 1966 को धूमिल को वेणुगोपाल ने पत्र लिखा है, जिसमें उन्होंने अजित कुमार और विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा संपादित 'कविता : 1963' पुस्तक की चर्चा की है–

वेणुगोपाल का पत्र : धूमिल के नाम

28/4/56
हैदराबाद (आ.प्र.)

धूमिल जी,

नमस्ते।

शायद एक वर्ष बीता होगा, जब आपकी कविता पहली बार अजित कुमार व विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'कविता : 1963' में देखी। कुछ यही-सी लगी। और फिर आपका नाम। मेरा मतलब है, उपनाम, जो कि काफी छायावादी ढंग का था। मुझे पूर्वग्रह बनाने में सहयोग देने लगा।

समझ में नहीं आया कि कोई इतना वायवी नमूने का प्रदर्शनात्मक उपनाम रखकर नई कविता लिख सकता है? और फिर उस कविता में शब्दों की चमत्कारिता के लिए आग्रह देखकर भी यही धारणा बलवती हुई कि नई कविता के मुलम्मे में छायावादी प्रवृत्ति जन्म ले रही है।

और अभी 'कल्पना' में फिर कविताएँ पढ़ने को मिली। प्रसन्नता हुई। आश्चर्य भी हुआ कि एक नई व स्वस्थ एवं शक्तिवान अभिव्यक्ति कई दिनों बाद देखने में आई और वह भी उस कवि की कविताओं में जिसका नाम सुनकर कोई भी वितृष्णित हो सकता है।[4]

1 जुलाई 1967 को धूमिल ने श्री विनोद भारद्वाज को पत्र लिखा है और 'सारिका' में छपी काशीनाथ सिंह की कहानी

'तीन डाल कथा' के बारे में चर्चा की है–

धूमिल के पत्र : श्री विनोद भारद्वाज के नाम

('आलोचना-33' में प्रकाशित)

(1)

1.7.67

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। इससे पहले श्री ठाकुर भाई का पत्र भी मिल चुका है। कविताएँ भेज रहा हूँ: 'गाँव' और 'अकाल दर्शन'। पसन्द आने पर छाप लीजिएगा- एक या दोनों।

कविताओं के मिल जाने की सूचना दीजिएगा तथा उन पर अपनी प्रतिक्रिया भी।

काशीनाथ सिंह वाराणसी जा चुके हैं। अभी एक कहानी 'तीन डाल कथा' 'सारिका' के जून अंक में छपी थी।

आशा है, स्वस्थ होंगे।

ठाकुर भाई को मेरा नमस्कार कहें मिलने पर।[5]

1 नवम्बर 1967 को विनोद भारद्वाज को लिखे पत्र में धूमिल ने 'आरम्भ' पत्रिका के बारे में चर्चा की है। इस पत्रिका पर अपने समकालीन लेखकों की स्वस्थ राय का भी उल्लेख किया है–

सहारनपुर

04.11.67

प्रिय भाई,

सबसे पहले 'आरम्भ' के लिए बधाई दूँ। जानता हूँ, यह अतिरिक्त (प्र) दर्शन है, पर जी नहीं मानता। 'आरम्भ' एक लम्बी परिक्रमा के बाद मुझे मिली। मगर जब मिली, तो अपनी ही तर्ज पर। इससे पहले वाराणसी में काशीनाथ सिंह के घर देख सका था। इधर मैं वाराणसी में रहा, मगर ज्यादातर खेत (मे) रहा। अच्छी प्रतिक्रिया के बीच से तुम्हारे श्रम की सार्थकता गुजर रही है, और तुम्हारे सहयोगी-मानता हूँ कि जीवट के आदमी हैं। सबको मुझ अकेले की शुभकामना। कई लोगों को सिर्फ वाराणसी के लोगों को ही नहीं, बल्कि पटना, गया, आरा और कलकत्ता के लोगों को एक साथ 'आरम्भ' को सकारते सुनकर व्यक्तिगत रूप से मुझे खुशी हुई, वह इसलिए और भी कि शायद पहली बार मैं सही लोगों से सम्बद्ध हूँ। 'नई धारा' के सम्पादन से सम्बद्ध श्री विजयमोहन सिंह ने बड़ी-बड़ी तारीफ की। माधव मधुकर, ओम प्रभाकर, चन्द्रदेव सिंह, देवेन्द्र कुमार-ये सभी शम्भुनाथ सिंह के समारोह में आए थे, आदि ने एक साथ अपनी स्वस्थ राय दी।[6]

धूमिल ने 'गल्प भारती' पत्रिका के संपादक को पत्र लिखा है और उसमें 'गल्प भारती' के अगस्त अंक में छपी सामग्रियों पर अपनी राय दी है। इस पत्र में उन्होंने अपनी समकालीन परिस्थितियों के बारे में भी चर्चा की है–

धूमिल के पत्र : 'गल्प भारती' के सम्पादक के नाम

प्रिय भाई,

'गल्प भारती' का अगस्त अंक 10 अक्टूबर, 1968 को अनपेक्षित रूप से मिला। उलट-पुलट कर देखने पर लगा कि यह आकस्मिक नहीं है। और चूँकि एक योजना के अन्तर्गत यह सब 'रचित' है, इसलिए मेरा यह पत्र 'आकस्मिक है', ऐसा नहीं समझेंगे।

अपनी कविता को लेकर की गई बहसों से मैं अक्सर बाहर रहा हूँ और यदि कभी गुंजाइश लगी भी, तो कविता में बोलकर रह गया हूँ। कविता के लिए बहसों के जनसंघी मुहावरों से मुझे कतई परहेज है। बेमतलब भाषा का पेट खराब होता है। इसी क्रम में आलोचक को नीम-हकीम भले न कहें, खतरेजान समझता हूँ। लेकिन लम्बी कविताओं के सन्दर्भ में 'त्रिकालदर्शी' की टिप्पणी पढ़कर यह पत्र लिख रहा हूँ। हाँ, मैंने इतना जरूर किया है कि 'गल्प भारती' के 24 से लेकर 48 तक के पृष्ठों को एक साथ नत्थी कर दिया है और अब मेरे पास 21, 22, 23, 49: 50, 51 - सिर्फ यही छह पृष्ठ हैं। क्या ये छह पृष्ठ

लम्बी कविताओं के सन्दर्भ में उसी योजना के हिस्से नहीं हैं, जिसका संकेत मैंने ऊपर किया है?'[7]

24 जुलाई 1973 को धूमिल ने विजेन्द्र के नाम पत्र लिखा है, जिसमें उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन में उठे विचार-विमर्शों की परिचर्चा की है—

धूमिल के दो पत्र : विजेन्द्र के नाम

आई.टी.आई.
वाराणसी-5
24 जुलाई, 1973

प्रिय विजेन्द्र,

तुम्हारा स्पष्टीकरण मिला। इसी का इन्तजार भी था, क्योंकि विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का एक सामान्य परिपत्र दो-तीन दिन पहले ही मिल चुका था, जिसमें उन्होंने प्रगतिवादी आन्दोलन को दाँत देने की बात की है। तुमसे किसी पत्र की उम्मीद मुझे इसलिए भी थी कि सम्मेलन की बाबत तुम्हारे एक-दो खत यहाँ वाचस्पति के पास दिखे थे। और मैं सन्दर्भ से अपरिचित नहीं था।

सम्मेलन को लेकर शुरू हुए विवाद की घटना ने कम-से-कम, मुझे कतई, कहीं से भी विचलित नहीं किया है, हाँ, इसका अघटित रह जाना ही चिन्ताजनक होता। अच्छा हुआ जो एक कमबख्त इरादा हमारी मार की जद में आ गया। बाँदा में हमारे कार्यक्रम इतने साफ थे कि उन्हें लेकर किसी भी मंच पर गलतफहमी के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। इसके साथ ही उत्तरार्द्ध में कर्ण सिंह चौहान की रपट ने रही-सही बातों का खुलासा कर दिया है। फिर संगठन को तोड़ने या उसे गलत आधार देने के प्रयत्नों के हम घोर विरोधी हैं।[8]

धूमिल ने अपने एक पत्र में प्रगतिशील लेखक संघ और जनवादी लेखक संघ की रणनीतियों पर विचार किया है। इसी में वे 'केन्द्रीय संयोजक' संपर्क समिति, बाँदा की भी चर्चा की है—

धूमिल के पत्र : प्रगतिशील लेखक के सन्दर्भ में

साथी,

भरतपुर लेखक सम्मेलन में उपस्थित होना फिलहाल, वाजिब नहीं रहा। साथ ही, सम्पर्क समिति की प्रस्तावित 25 अगस्त, 1973 की बैठक होना काफी सन्देहास्पद है। राजस्थान के महत्त्वपूर्ण जनवादी लेखकों द्वारा भरतपुर-सम्मेलन का बहिष्कार यद्यपि एक खेदपूर्ण घटना है, किन्तु तथ्यों को देखते हुए इसका औचित्य सिद्ध हो जाता है। फूटपरस्त अवसरवादी तत्त्वों को हतोत्साहित करना जरूरी है।

ऐसे गैरवाजिब और तनावपूर्ण वातावरण में 'केन्द्रीय संयोजक सम्पर्क समिति', बाँदा से प्राप्त प्रपत्र में जिस उद्देश्यों को लेकर सम्पर्क समिति के सदस्यों के मिल बैठने की बात की गई है, उसमें सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण मसला 'सदस्य तथा सहायक सदस्य' के चुनाव का है। निश्चय ही प्रपत्र में जो तरीके तय किये गए हैं, वे प्रगतिशील लेखक संघ के जनवादी उद्देश्य पर ही चोट करते हैं। उसमें विशिष्टता की खेमाबन्दी की साजिश काफी बदबू मार रही है। नाक सिर्फ डॉ. रणजीत के पास ही नहीं है, इसका ध्यान रहना चाहिए।[9]

धूमिल ने अपने पत्र में इलाहाबाद साहित्य सम्मेलन के संदर्भों को लेकर परिचर्चा की है। इस पत्र में उन्होंने अपने समकालीन लेखकों की अच्छी खबर ली है। खासतौर से तथाकथित और समयकाटू साहित्यकारों की—

धूमिल के दो पत्र

(सन्दर्भ इलाहाबाद सम्मेलन)

आपकी चिट्ठी आज ही मिली और कविता भेज रहा हूँ। इलाहाबाद न आ सका। तबीयत नहीं हुई। साहित्यिक, वहाँ, ज्यादातर 'सांसद' हो चले हैं। लेखन उनके लिए अतिरिक्त सुविधा जुटाने का साधन भर होकर रह गया है। मजा तो यह है कि ज्यादातर बूढ़े और व्यर्थ लोग विरक्त साहित्य लिखकर मंच की शोभा बने बैठते हैं और जुझारू युवा पीढ़ी, अपने हौसले

और मारक रुखों के बावजूद, उनके हितों को दे दी जाती है। प्रतिष्ठान विरोध के नाम पर चलनेवाली साजिश एक दूसरा प्रतिष्ठान बनाती है, युवा-मानसिकता का निरन्तर विरोध करनेवाले लोग जिसकी झंडाबरदारी करते हैं। हम ऐसी हिमाकतों का विरोध अपनी अनुपस्थिति से करते हैं। यह सही है कि मंच पर चलनेवाली साजिशों का विरोध मंच से, संगठित ढंग से किया जाए लेकिन जब मंच उनकी सिद्धि हो, तब ?[10]

16 फरवरी 1971 को धूमिल ने 'धर्मयुग' पत्रिका के संपादक धर्मवीर भारती को पत्र लिखा है और इसमें उन्होंने 21 फरवरी 1971 के धर्मयुग में प्रकाशित शिवप्रसाद जी के लेख 'बनारस खो गया है' की आलोचना प्रस्तुत की है। वे साहित्यकारों को समकालीन होने की राय देते हैं–

धूमिल के पत्र : धर्मवीर भारती के नाम

16 फरवरी, 1971

प्रिय भारती जी,

'अब समय आ गया है कि सृजन के धरातल पर वैचारिक मतभेद कायम रखते हुए लेकिन वैयक्तिक मतभेद भुलाकर यानी सृजनधर्मा लोग कभी-कभी एक मंच पर हिन्दी के माध्यम से एक नया साहित्यिक व्यक्तित्व दें।' आपके इन शब्दों के साथ आपसे सम्पादित 'धर्मयुग': 21 फरवरी, 1971 में प्रकाशित 'बनारस खो गया है' शब्दचित्र के तीसरे कॉलम के चौथे पैरा की ओर आपका ध्यान खींचकर एक शिकायत करता हूँ। क्या वजह है कि चालू तौर पर पूरे किये गए रेखांकन में कामू, काफ्का, सार्त्र, गालिब आदि के नाम जोखिम उठाने की हद तक लिये जा सकते हैं, लेकिन जिस नये कवि की सात पंक्तियाँ गलत सन्दर्भ में गाड़ दी जाती हैं, उसका नाम तक लेने की तकलीफ गवारा नहीं की जाती? क्या शिवप्रसाद जी समकालीन होने से डरते हैं? मुझे मालूम है कि प्राध्यापकीय लेखन की आधुनिकता आपसी बातचीत को निजी पूँजी बनाकर छपवा लेने के कौशल पर ही ज्यादातर जिन्दा है। लेकिन शिवप्रसाद जी पर यह आरोप नहीं लगता। वे स्वतःस्फूर्त हैं और उनके यहाँ ग्राम्यबोध की कोताही नहीं है। फिर वे मौलिक भी हैं। उनके यहाँ मरकटी कुतिया की रिरियाती आवाज रेधनी चिरैया की तरह छा जाती है। उन्होंने नये कवि का नाम नहीं लिया, न सही। मुझे इस पर एतराज नहीं है। एतराज मगर उस गलत सन्दर्भ से है जिसमें ये पंक्तियाँ डाल दी गई हैं। शायद अपनी सहानुभूति का स्टाक अधिक दिखलाने की जल्दबाजी में ऐसा किया गया है, अन्यथा कहाँ गरीब रिक्शावाला और कहाँ ठाकुर साहब!'[11]

धूमिल ने 2 अक्टूबर 1973 को जनवादी लेखक संघ के संदर्भ में एक पत्र लिखा है और जनवादी लेखक संघ को मजबूत बनाने के कुछ सुझाव प्रस्तुत किया है–

धूमिल के पत्र : जनवादी लेखक संघ के सन्दर्भ में

आई.टी.आई.
वाराणसी-5
2 अक्टूबर, 1973

प्रिय भाई,

आपका पत्र दिनांक 26.9.73। साथ में जनवादी लेखक मंच की ओर से परिपत्र। जनवादी लेखक संघ, मेरा विश्वास है, आप सबका क्षेत्रीय संगठन है और बाँदा लेखक-सम्मेलन की मंशा तथा कार्यक्रम के तहत काम कर रहा है।

मैंने परिपत्र में उल्लिखित व्यावहारिक कार्यों की सूची पढ़ी और उस पर विचार किया। कार्यक्रमों को लेकर असहमति का सवाल ही नहीं उठता। ये कतई सैद्धान्तिक और सही हैं। लेकिन समस्या उस वक्त पैदा होती है, जब सिद्धान्तों की अमली तौर पर तामील करने की बात उठती है। उस वक्त व्यावहारिक समझौतावाद साहित्य की समझ के आड़े आता है। निजी मुद्दों पर, तभी खेमे अलग गाड़े जाते हैं। भरतपुर लेखक सम्मेलन इसका उदाहरण है। इसलिए 'एक-दूसरे को समझने' की अपेक्षा एक-दूसरे के 'राजनीतिक स्वार्थ' को समझने की ज्यादा जरूरत है। और इसी क्रम में एकजुटता के लिए 'सामान्य समझ के आधार' का प्रश्न भी खास तौर से विचारणीय हो जाता है। लेखन के सन्दर्भ में दलीय संकीर्णता की मार दोहरी होती है। वह

एक साथ साहित्यिक संघर्ष और संगठन, दोनों पर पड़ती है।[12]

10 मार्च 1969 को धूमिल ने अपने समकालीन रचनाकार लीलाधर जगूड़ी को पत्र लिखा है और अपनी 55 पृष्ठों की लम्बी कविता 'सुदामा पाण्डेय का प्रजातंत्र' के बारे में चर्चा की है–

धूमिल के दो पत्र : लीलाधर जगूड़ी के नाम

10.3.69

प्रिय जगूड़ी,

चिट्ठी मिली। उत्तरकाशी न आ सकने की सफाई नहीं दूँगा। पैसे जरूर वापस करने की सोच रहा हूँ, सम्भवतः अगले महीने तक। यह सही है कि तमाम इन पिछले दिनों में मैंने किसी से भी खत-किताबत नहीं की। यहाँ तक कि मास्टर साहब से भी। मगर इसका मतलब यह नहीं कि मैं ठप हो गया हूँ। मैं इन दिनों मुकदमा लड़ रहा हूँ। घर-गृहस्थी, बाल-बच्चों की देखभाल कर रहा हूँ। सड़क पर या गाँव के कच्चे रास्ते पर हर कहीं छूट रहा हूँ। कुल मिलाकर कहो तो बुरी तरह 'सुदामा पाण्डेय' हो गया हूँ। मेरा हर मुद्दे से इस तरह सुदामा पाण्डेय होना दुर्घटना हो गया हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि इसी आदमी का पीछा करते-करते मैंने आदमी को जाना है। कानून की दफाओं से परिचित हुआ हूँ और समझा है कि आदमी का यह सारा कुछ टूटना, छूटना, थकना, पकना, ऊबना, ऐंठना कविता के लिए होता है और एकदम अकेला होकर लगातार सात महीने ऊबने के बाद एक लम्बी कविता, - करीब 55 पृष्ठ 'फुलस्कैप' तैयार हुई है–'सुदामा पाँड़े का प्रजातंत्र'। आदमी के समूचे संघर्ष को तुम वहाँ देख सको, ऐसा दावा तो नहीं मगर विश्वास जरूर है।[13]

धूमिल ने अपने एक पत्र में आलोचना की प्रासंगिकता विषय को लेकर अक्षय उपाध्याय के नाम पत्र लिखा है और इस पत्र में उन्होंने समकालीन साहित्य के लिए आलोचक और आलोचना कर्म की प्रासंगिकता पर विशद रूप से विचार किया है–

अक्षय उपाध्याय के नाम धूमिल के पत्र

(आलोचना की प्रासंगिकता : अपने सन्दर्भ में)

(पिछले अंक में प्रकाशित 'धूमिल के काव्य-संग्रह की समीक्षा' के सन्दर्भ में कवि की यह टिप्पणी- 'आलोचक और आलोचना की प्रासंगिकता' - प्रकाशित की जा रही है। सं.)

145, खादी भवन
महात्मा गांधी रोड
कलकत्ता

भाई,

'महात्मा गांधी रोड' से निकली 'अप्रत्याशित' पत्रिका देखी। कवि त्रिलोचन, के सानेट पढ़े। 'सूखी बातों में क्या रखा है?'- सहज स्वस्थ अंग है जीवन का विद्रोह : 'उठी शक्ति जागे जो सोई'। और फिर 'संसद से सड़क तक' की प्रतिक्रिया पढ़कर लगा कि यह 'और कुछ नहीं, मनस्तोष का एक ढंग है।' ऐसी समीक्षाएँ 'समकालीन रचना' से काफी 'लैग' करती रही हैं। अब तो ये गुमराह भी नहीं कर पातीं। पाठक मूल पढ़ रहा है और अमल कर रहा है। आलोचक उसूल बक रहा है और अलग पड़ता जा रहा है। 'तीसरा दलाल' कहकर निकाला गया यह दयनीय जानवर अब भी अगल-बगल की खेती में मुँह मारने से बाज आए, तो आदमी कहलाए। लेकिन उसकी समझ का क्या करें? 'संसदीयता की दलाली' खाकर वह कुंद पड़ गई है। वह वामपंथी न होकर, वाममार्गी हो चुकी है। सही रचनाओं की गलत पहचान क्यों होती है और उसके परिणाम क्या होते हैं, हिन्दी के एक सुविज्ञ विचारक की मार्मिक पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में पठनीय हैं: 'इधर, रचना में क्रिएटिव-विजन के सन्दर्भ में ऐतिहासिक परिदृश्य की व्याख्या राजनीतिक सिद्धान्तों से जोड़कर की गई है। लेकिन आलोचक ने परिदृश्य-बोध की जो कसौटी रखी, वह रचनाओं की न होकर एक राजनीतिक व्यक्ति के गुट का मैनिफेस्टो था।[14]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धूमिल के पत्रों में समकालीनता बोध के दर्शन सर्वत्र होते हैं। समकालीनता बोध की दृष्टि से धूमिल के पत्र महत्वपूर्ण हैं।

संदर्भ सूची

1. धूमिल समग्र-भाग-3, संपादक-डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय, पृ. 119, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2021
2. उपरिवत् सं. 219, काशीनाथ सिंह के नाम पत्र
3. उपरिवत् सं. 223, नामवर सिंह के नाम पत्र
4. उपरिवत् सं. 226, वेणुगोपाल का पत्र धूमिल के नाम
5. उपरिवत् सं. 228, श्री विनोद भारद्वाज के नाम पत्र
6. उपरिवत् सं. 234
7. उपरिवत् सं. 256, गल्पभारती के सम्पादक के नाम पत्र
8. उपरिवत् सं. 267, विजेन्द्र के नाम पत्र
9. उपरिवत् सं. 269, प्रगतिशील लेखक के संदर्भ में
10. उपरिवत् सं. 277, इलाहाबाद सम्मेलन के संदर्भ में पत्र
11. उपरिवत् सं. 259, धर्मवीर भारती के नाम पत्र
12. उपरिवत् सं. 265, जनवादी लेखक संघ के संदर्भ में
13. उपरिवत् सं. 252, लीलाधर जगूड़ी के नाम पत्र
14. उपरिवत् सं. 274, अक्षय उपाध्याय के नाम पत्र

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

डॉ. रीजा. आर. एस
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग
क्रिस्त्यन कॉलेज काट्टाकडा
तिरुवनन्तपुरम, केरल, केरल विश्वविद्यालय

In recognition of the publication of the paper entitled

शमशेर की कविताओं में आधुनिकता बोध

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

मोनिका रानी

शोधार्थी पीएच.डी.(हिंदी)

डॉ. शिबा

शोध निर्देशिका, सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, श्री खुशाल दास विश्वविद्यालय, पीलीबंगा हनुमानगढ़

In recognition of the publication of the paper entitled

भीष्म साहनी के उपन्यासों में नारी कुंठा

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

Prof. Anjali Yadav
Email: dranjaliyadav55@gmail.com
Sapna Viswakarma
Email: sapanavishwakarma16@gmail.com

In recognition of the publication of the paper entitled

महर्षि कपिल:

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

अश्वनी कुमार
सहायक प्रोफेसर, अतिथि संकाय, संस्कृत विभाग,
हि. प्र. विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केन्द्र, धर्मशाला।

In recognition of the publication of the paper entitled

पाणिनीय व्याकरण की अध्ययन-अध्यापन पद्धति

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh
M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

अंशु भटनागर

शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग एम.एम.एच. कॉलेज, गाजियाबाद (उ.प्र.)

डॉ. मधु श्रीवास्तव

शोध निर्देशिका, एसोसिएट प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष-संस्कृत विभाग एम.एम.एच. कॉलेज, गाजियाबाद (उ.प्र.)

In recognition of the publication of the paper entitled

तत्त्व व्यवस्था तथा आचार की दृष्टि से सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त दर्शन की प्रमुख विशेषताएँ

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

डॉ. राखी सक्सेना
सह प्राध्यापक एवं शोध निर्देशक
जगदीश कुमार धुर्वे
पीएच.डी. शोधार्थी, वाणिज्य एवं प्रबंध विभाग, कॅरियर कॉलेज (ऑटोनॉम), बी.एच.ई.एल., भोपाल (मध्यप्रदेश)

In recognition of the publication of the paper entitled

प्रधानमंत्री आवास योजना का भोपाल जिले में क्रियान्वयन एवं सामाजिक-आर्थिक प्रभाव : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh
M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

डॉ. दीप्ति सुधीरकुमार देशपांडे

आसि. प्रोफ़ेसर,

शेठ श्री गिरधरलाल डी.एल.एड. कालेज, दाहोद

In recognition of the publication of the paper entitled

'वेलकम' (Welcome)

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540



KANCHANLATA



AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

Monika Sahai
Associate Professor and Head
Department of Psychology
S. N. Sen B. V. P. G. College, Kanpur, Uttar Pradesh, India

In recognition of the publication of the paper entitled

Psychological Well-being and Happiness Among Adolescents of Working and Non-working Mothers

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

अनिल प्रदीप पन्ना

शोधार्थी, इतिहास विभाग

राँची विश्वविद्यालय, राँची

In recognition of the publication of the paper entitled

विस्थापन और जनजातिय संघर्ष, जल-जंगल-जमीन एवं जनआक्रोश झारखण्ड के संदर्भ में

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

प्रेम रोशन एक्का
शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग
मधुपुर महाविद्यालय मधुपुर, देवघर।

In recognition of the publication of the paper entitled

जनजातीय विस्थापन एवं समस्या : झारखण्ड राज्य के विशेष संदर्भ में

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh
M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

विनोद टाना भगत

शोधार्थी, विश्वविद्यालय कुँड़ुख़ विभाग
राँची विश्वविद्यालय राँची

In recognition of the publication of the paper entitled

कुँड़ुख़ बेंजा नु मंडला नेग (मंड़वा एतअना)

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

डॉ. ए. व्हि. सूर्यवंशी

प्राचार्य, बी.एल.डी.इ. संस्था

बसवेश्वर कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय

बसवन बागेवाडी

In recognition of the publication of the paper entitled

तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' में चित्रित नारी दृष्टि

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

डॉ. मंटू कुमार साव
सहायक प्राध्यापक
कालिम्पोंग कॉलेज, दार्जिलिंग

In recognition of the publication of the paper entitled

दलित अस्मिता और नागार्जुन

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

डॉ. राम नगीना रजक

व्याख्याता

जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान (DIET)

दीघी (वैशाली) हाजीपुर

In recognition of the publication of the paper entitled

प्रोजेक्ट-आधारित अधिगम (Project -Based Learning) का प्रभाव

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

डॉ. विजय कुमारी

वार्ड नं. 21, मकान नं. 1059

(नज़दीक राधास्वामी सत्संग घर, बट्टल बलियां मार्ग)

तहसील तथा ज़िला - उधमपुर - 182101, जम्मू-कश्मीर (केन्द्रीय प्रदेश)

In recognition of the publication of the paper entitled

इक्कीमीं सदी दे पैह्ले द्हाके दे उपन्यासें च आदर्शवादी रूझान

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

मुनि सत्यकुमार

शोधछात्र, जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं राजस्थान।

In recognition of the publication of the paper entitled

जैन आगमों में गति का विश्लेषणात्मक अध्ययन

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

डॉ. अमिता जैन
सह-आचार्य, शिक्षा विभाग,
जैन विश्व भारती संस्थान लाडनूं, नागौर

In recognition of the publication of the paper entitled

पर्युषण : प्राचीन साधना, आधुनिक जीवन की आवश्यकता

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh
M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

Rama Sharma
(Assistant Professor)
Government Ranbir College Sangrur

In recognition of the publication of the paper entitled

Marital Adjustment and Role Conflict among Working Women: A Comparative Sociological Study of Urban and Rural Contexts in Sangrur District, Punjab

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

पीयूष पुष्पम
हिंदी विभाग, हंसराज कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

In recognition of the publication of the paper entitled

'मधुशाला' में व्यक्त जीवन दर्शन और प्रतीक विधान

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

Dr. Jayakrishnan Nampoothiri N.D.
Assistant Professor
Department of Sanskrit Jyothisha, Government Sanskrit College,
Thiruvananthapuram, Kerala

In recognition of the publication of the paper entitled

संस्कारः समाजश्च काव्यनाटकेषु

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

డా॥ అనిత మార్గరెట్ నేలటూరి
M.A., M.Phil., Ph.D
తెలుగుశాఖ అధ్యక్షులు
ఎస్.ఆర్.ఆర్ & సి.వి.ఆర్ ప్రభుత్వ డిగ్రీ కళాశాల (స్వ)
విజయవాడ
సెల్: 86397 28322

In recognition of the publication of the paper entitled

సామాజిక మార్పుకు దోహదపడిన క్రైస్తవ జానపద సాహిత్యం

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

प्रो. डॉ. केशव क्षीरसागर
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग,
रामकृष्ण परमहंस महाविद्यालय, धाराशिव 413501 महाराष्ट्र

In recognition of the publication of the paper entitled

जहीर कुरेशी की ग़ज़लों में अभिव्यक्त आर्थिक चिंतन

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh
M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

ASWATHI. M
Research Scholar
Government Sanskrit College,
Thiruvananthapuram

In recognition of the publication of the paper entitled

HANUMAN – AN INSPIRATION FOR PERSONALITY DEVELOPMENT AND SPIRITUAL INFLUENCE

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

Ashok Kumar Yadav
Research Scholar, Department of Lifelong Learning & Extension
Chhatrapati Shahu Ji Maharaj University, Kanpur
Anjali Sachan
Research Scholar, History, Chhatrapati Shahu Ji Maharaj University, Kanpur

In recognition of the publication of the paper entitled

Vocational Education and Skill Development in Medieval India: A Historical Perspective

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

Dimpi Singh
Research scholar (Department of Education)
Pt. Ravishankar Shukla University, Raipur

In recognition of the publication of the paper entitled

NEP 2020 and the Changing Landscape of Teacher Education: Perception of Teacher Educators in Raipur District

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

रश्मि प्रसाद
शोधार्थी
मगध विश्वविद्यालय, गया जी

In recognition of the publication of the paper entitled

आशा प्रभात के उपन्यासों में स्त्री के अंतर्द्वंद्व और मनोवैज्ञानिक संघर्ष

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

Dr. Sandhya B. Nair
Assistant Professor,
Department Of Sanskrit, N S S College, Pandalam, Pathanamthitta

In recognition of the publication of the paper entitled

Rasa and Emotional Aesthetics in Svapnavāsavadattam

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

Dr Lathakumari P.
Assistant Professor, Dept.of Sanskrit,
Sree Neelakanta Govt. Sanskrit College Pattambi, Palakkad, Kerala.
Affiliated to the University of Calicut

In recognition of the publication of the paper entitled

The Curse as an Aesthetic and Structural Motif in Vikramorvaśīyam and Abhijñānaśākuntalam: Suspended Love and Delayed Recognition.

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

श्रीमती अशोक कुंवर राजपूत
पुत्री श्री मान सिंह पंवार (राजपूत)
(शोधार्थी)
जय जिनेन्द्र काम्प्लेक्स, उदयपुर रोड, वल्लभ नगर, जिला उदयपुर (राजस्थान)

In recognition of the publication of the paper entitled

काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य में उदारीकरण के प्रभाव : बदलते सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ ('काशी का अस्सी' एवं 'रेहन पर रग्घू' के विशेष संदर्भ में)

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh
M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

डॉ. गिरीष् एं.पि

सहायकाध्यापकः संस्कृत ज्योतिषविभागः सर्वकारीयसंस्कृतमहाविद्यालयः,
तिरुवनन्तपुरम्

In recognition of the publication of the paper entitled

अभिजित्-मुहूर्तस्य प्रामाणिकं स्वरूपम् आपत्काले तस्य उपयोगश्च

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

सिंपल शर्मा
शोधार्थी, सामाजिक विज्ञान संकाय
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

In recognition of the publication of the paper entitled

भारत में मीडिया और ग्रामीण विकास (1950–2026) : विकास संचार के परिप्रेक्ष्य में भूमिका, चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh
M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

Varsha P. S.
Asst. Professor.
Dept- of Sanskrit Jyotisha, GSC TVM

In recognition of the publication of the paper entitled

सन्तानविचारः

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

Abhishek Kumar Jaiswal
Research scholar
Department of Hindi, University of Delhi

In recognition of the publication of the paper entitled

भारतीय ज्ञान प्रणाली का सतत प्रवाह और अनुवाद की परंपरा

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

प्रिंस गुप्ता

पी.एच.डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. संतोष कुमार

शोध-निर्देशक, शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

In recognition of the publication of the paper entitled

दलित साहित्य की वैचारिक दशा एवं दिशा

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh

M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

अंजलि
शोधार्थी
पी.जी.टी. हिंदी, जी.एस.के.वी. रनहोला, दिल्ली सरकार

In recognition of the publication of the paper entitled

ओज, विद्रोह और राष्ट्रीय चेतना का स्वर : रामधारी सिंह दिनकर के काव्य का अनुशीलन

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh
M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.

Impact Factor : 5.621 ISSN : 2321-0540

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTLY RESEARCH JOURNAL

PUBLISHED BY : GUGANRAM EDUCATIONAL & SOCIAL WELFARE SOCIETY (REGD.)

CERTIFICATE OF PAPER PUBLICATION

Is here by awarding this certificate to

Dr. Gulshan Deep Dania
Assistant Professor
Department of Political Science, Govt. Ranbir College, Sangrur, Punjab

In recognition of the publication of the paper entitled

BRICS in a Changing World Order: Challenges and Opportunities for Global South Cooperation: A Study of India's BRICS Presidency, 2026

Published in July to September 2026
Volume-11, Issue-3

Managing Executive

Dr Vsingh

Dr. Vaishali Singh
M.A. (Hindi, Pol. Sci.), M. Ed., Ph.D.